पहचान है। दुःखकी पहचानके लिए 'पर' की जानकारी आवश्यक है कि दूसरा क्या है हमारे अतिरिक्त ? अलावा ? किसके वशमें हम हो रहे हैं ? और हमारा अपना आपा क्या है जिसका स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण—अभंग है ?

संसारी लोग इस क्रमका आदर नहीं करते। यदि आनन्दकी इच्छा और दुःखसे परहेज होगा तो प्रारम्भमें ही त्याग-ग्रहणका भेद बन जायगा। यदि मनुष्य सुख-दुःखका विवेक किये बिना सत्-असत्का विवेक करने भी लग जाय तो उसको ऐसा लगेगा कि असत्यसे भी—जड़से भी सुख मिलता है तो वेदान्त-सम्प्रदायका क्रम यह है कि दुःखके त्यागकी आपके मनमें जो स्वाभाविक इच्छा है उसके त्यागकी भी इ च्छा हो और जिस-जिससे राग-द्वेष और राग-वैराग्य होता है उनका विवेक किया जाय—

( i ) सुख-दुःखका विवेक।

( ii ) आत्मा-अनात्माका विवेक।

(iii) सच-झूठका विवेक।

ये जो तीन प्रकारके विवेक हैं न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्व-मीमांसाको भी मान्य हैं। वेदान्त कहता है, 'आत्मा' सुख है। अन्य सुख नहीं है। 'आत्मा नहीं है'—यह अनुभव कभी नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा सत् है और आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है वह कम-से-कम 'सत्' कहने योग्य तो नहीं है। उसे चाहे असत् कहो या और कुछ। अनिर्वचनीयताका अर्थ यही होता है। परन्तु वेदान्त कहता है—'तुम अपनेको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानो।'

अद्वय और सद्व यका भी विवेक होना चाहिए। ऐसा क्या कोई दूसरा है जो तुमको पराधीन करके रखता है ? इस सम्बन्धमें

वेदान्तका कहना है कि आप सुख और दुःखको स्वयं समझ सकते हैं और युक्तिसे समझा देनेपर आप आत्मा-अनात्माको भी समझ सकते हैं। लक्षण बनाकर आप सत्-असत्को भी समझ सकते हैं। परन्तु आत्माकी अद्वितीयताको आप बिना वेदान्तके नहीं समझ सकते। जो कुछ है, आत्मा, जगत्, जीव और ईश्वर सब है—परन्तु 'अपना आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है' यह आप वेदान्तके बिना नहीं समझ सकते। इसे सांख्ययोग, पूर्वमीमांसा, न्याय-वैशेषिक नहीं समझा सकते। यद्यपि लक्ष्य सबका वही है तात्पर्यवृत्तिसे सब उसीका प्रतिपादन करते हैं। परन्तु इसका खुलासा—स्पष्ट अनुभव वेदान्तके द्वारा ही होता है। इसलिए जो वेदान्तका सच्चा सुख चाहते हैं—आत्मसुख चाहते हैं—दुनियामें मानी जानेवाली जड़ताएँ और असत्ताएँ भी जहाँ अपना स्वरूप खोकर आत्मब्रह्मरूप हो जाती हैं और वह मात्र वेदान्तसे ही मालूम पड़ सकती हैं। वेदान्तके सिवाय उसे समझने-समझानेका दूसरा कोई साधन नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि वेदान्तके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु अथवा अन्य साधनसे आत्मा-ब्रह्मकी अद्वितीयताका अनुभव हो सकता होता तो वेदान्त निरर्थक हो जायगा—अनुवाद हो जायगा। कहे हुएको कहेगा, चबाये हुएको चबाया जायगा, पीसे हुएको पीसेगा, देखे हुएको दिखायेगा अर्थात् पिष्टपेषणमात्र वेदान्तका प्रतिपादन होगा। इसलिए जो परमानन्द, परमसुख, अद्वितीयताकी अनुभूति चाहता हो, उसके लिए वेदान्त परम अनिवार्य वस्तु है और हमारी नैसर्गिक इच्छा वहीं जाकर समाप्त हो जाती है। अन्यथा हम इच्छावाले बनेंगे।

दूसरी बात—खास करके जो लोग अद्वैत-सम्प्रदायकी रीतिसे वेदान्तका अध्ययन नहीं करते हैं उनकी समझमें यह बात कभी

नहीं आती है। वेदान्तियोंने साधन और प्रमाण ये दो विभाग माने हैं। साधन होते हैं कुछ बनाने-हटाने-सटानेके लिए। फेरफार, परिवर्तन-पक्षमें साधन हैं। यदि कपड़ेपर मैल लगी है तो जानकारी प्राप्त कर लो कि यह मैल खटाईसे छूटेगी या नीबूके रससे या साबुनसे छूटेगी ?

एकके घरमें चाँदीके बर्तन रखे थे। जब मैं भोजन करने गया तो वे पुराने चाँदीके बर्तन निकाले और उसमें भोजन परोसा। उसमें मैल जमी हुई थी, उन्होंने नीबू निचोड़ दिया दालमें। चाँदीकी मैल साफ दीखने लगी। आप जानते ही हैं कि हमारे मनमें जो मैल बैठी हुई है मालूम नहीं पड़ता कि कितनी मैल बैठी हुई है। बन्दूकमें यदि मैल जमी हो तो उसे साफ करनेके लिए—अन्दरकी मैलके निवारणके लिए उसमें कुछ मसाला डालकर पहले उसे साफ करते हैं। उसे वे लोग बोलते हैं साधन-पक्ष।

यदि आँखसे ठीक न दीखता हो तो पहले आँखमें दवा डालकर साफ करो, चिकित्सा करा लो। जब आँखसे बिलकुल ठीक दीखने लगे तो उसे आप अपनी जगह ले आये। ठीक कर लेना यह साधनका काम है। कोई वस्तु कैसी है, यह आँखसे ठीक दीखनी चाहिए। इसे 'प्रमाण-पक्ष' बोलते हैं। वस्तुको साक्षात् देखनेका जो साधन होता है उसे वेदान्तमें प्रमाण कहते हैं। प्रमाण-पक्षका विवेचन वेदान्त मुख्य रूपसे करता है और वस्तुके निश्चयका जो साक्षात् साधन है उसे प्रमाण कहते हैं। अन्तःकरण शुद्धिके लिए साधनकी स्थापना करता है—सब साधनोंकी प्रतिष्ठा करता है। अतः अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए साधन करना चाहिए और आत्माका ब्रह्मरूपसे साक्षात्कार करना चाहिए।

वेदान्ती लोग न जाननेका नाम अज्ञान नहीं मानते। न जानना

तो सबके भीतर रहता है। आप यदि विलायतके किसी आदमीको नहीं जानते तो उसको वेदान्त अज्ञान नहीं मानता। आप कलकी चीज, जो मर गयी, बीत गयी है, उसे नहीं जानते हैं, कल जो आनेवाली है उसे नहीं जानते हैं, जो दूर है उसे नहीं जानते हैं, जब सो जाते हैं, तब मालूम नहीं पड़ता है, तो उसे भी वेदान्ती अज्ञान नहीं मानता। वह तो अज्ञान मानता है—अपनेको ब्रह्म न 'जाननेको'। सुषुप्ति आपका स्वरूप नहीं है। पाणिनीय व्याकरणमें गंगा-जमुना नदी नहीं हुआ करती। नदी एक संज्ञा है जिसमें गंगा-जमुना-नर्मदाकी गिनती नहीं। वह तो जो 'ईकारान्त' शब्द होते हैं, उनके लिए एक विशेष नियम बनाता है। व्याकरणकी दृष्टिसे तुम्हारे घरमें व्याजसे पैसा आता है या कमाई होती है तो उसका नाम वृद्धि नहीं है। व्याकरणमें वृद्धि खास अक्षरोंका नियम है '**वृद्धिरादैच्**' अष्टाध्यायी १. १. १.)। आप कहते हैं दया, परोपकार, मीठा बोलना, सुशील होना गुण है। व्याकरणमें वह गुण नहीं है। वहाँ गुण क्या है? **अदेङ् गुणः** (अष्टा० १. १. २)। अपना पारिभाषिक गुण है। अ, ए, ओको गुण मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि लौकिक भाषामें जो शब्द चलते हैं, उनके अनुसार परिभाषा वेदान्तमें नहीं चलती। वेदान्तके पारिभाषिक शब्दको यह स्थिति है कि 'अपनेको' ब्रह्म न जाननेका नाम 'अज्ञान है'। हम किताबको, फूलको, औरतको, आदमीको, घट-पट-मठको जानते हैं। इसका नाम ज्ञान नहीं है। वेदान्तका तत्त्वज्ञान क्या है? आत्माको कर्ता जानते हैं, साक्षी जानते हैं, उसका नाम भी ज्ञान नहीं है।

जैसा अज्ञान माना है—'आत्माको ब्रह्म न जानना', उस अज्ञानको मिटानेके लिए आत्माको ब्रह्म जानना है इसीका नाम ज्ञान है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' में 'ज्ञान' शब्दका यही अर्थ है।। जिस शास्त्रको आप पढ़ेंगे, उसको परिभाषाके अनुसार—लक्षण-

**प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः** । आप किसी सच्ची वस्तुको पहचानना चाहते हैं ? दो चीज इसमें हैं—

( i ) आप जिसे पहचानना चाहते हैं, उसके लक्षण क्या हैं ?

( ii ) कैसे यह लखा जाता है ?

लक्षण होता है वस्तुनिष्ठ। जिस चीजको आप पहचानना चाहते हैं उसमें पहचाननेका लक्षण होता है। जो पहचानना चाहता है उसमें प्रमाण होता है। प्रमातृनिष्ठ प्रमाण होता है और प्रमेयनिष्ठ लक्षण होता है। लक्ष्यमें लक्षण, प्रमातामें प्रमाण।

वेदान्त जिस ब्रह्मविद्याको उत्पन्न करता है वह, **'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'** है। अन्तःकरणमें जो तदाकारवृत्ति उदय होती है, वह है उसके सम्बन्धमे प्रमाण। असलमें वेदान्त माने हृदयमें रहनेवाली ब्रह्मविद्या। पोथीमें रहनेके लिए श्लोक नहीं है, श्लोक अपरा विद्या है। हृदयमें उदय होनेवाली विद्या परा विद्या। इसीसे मुण्डक उपनिषद्में बताया कि 'अपरा शब्दराशि है और परा विद्या है— **यया तदक्षरम् अधिगम्यते** ( १.१.५ )।

अधिगमरूपा ब्रह्मविद्या है। और अन्तर आप समझें तो यह है कि जैसे शास्त्रमें आप स्वर्गका वर्णन भी सुनते हैं और ब्रह्मका भी। दोनोंमें बहुत फरक है। आप जब स्वर्गका वर्णन सुनकर उसपर विश्वास करेंगे और विश्वासके अनुसार अनुष्ठान करेंगे; प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप धर्मका अनुष्ठान करेंगे। फिर देशान्तर, कालान्तर, जन्मान्तर, रूपान्तरमें उस स्वर्गका अनुभव होगा। स्वर्गका निर्माण होगा धर्मके द्वारा। लेकिन वेदान्त किसी परोक्ष वस्तुका वर्णन करनेवाला नहीं है कि अमुक देश-काल-रूपमें कोई चीज है, वह तुम्हें मिलेगी। यह वेदान्तकी रीति नहीं है। वेदान्त वर्णन करता

है—किस समय ब्रह्मविद्या अन्तःकरणमें उदय हो जायगी, अपना स्वरूप साक्षादपरोक्ष हो जायगा। वेदान्तका सम्यक् श्रवण करते ही संशय-विपर्ययसे रहित निश्चयपूर्वक वृत्तिका उदय हो जाता है जीवनमें। अतः अपरोक्ष विश्वासप्रधान है वेदान्त। वह परोक्ष-विश्वास प्रधान नहीं है। इसलिए वेदान्त अनुभवपर्यवसान विद्या है। जिस समय आपके हृदयमें ब्रह्मविद्या उत्पन्न होगी, उस समय आत्माके जितने प्रतिबन्ध हैं, आवरण हैं, वे सब-के-सब भंग हो जायेंगे। इसलिए वेदान्त नकद माल है, उधार नहीं।

स्वर्गादि उधार माल हैं। पैसा यहाँ आज, हमारे पास जमा कराओ, वहाँ कल वह तुमको देंगे। और सब जो-जो व्यापार है वह यहाँ दो वहाँ लो,अब दो तब लो, यह दो वह लो और हमें दो, उनसे लो परन्तु ब्रह्मविद्या ऐसी चीज नहीं है। वह अनुभवपर्यवसान है। वह दूसरेके बारेमें वर्णन नहीं करती है, आपके बारेमें ही वर्णन करती है। आप चूँकि स्वयं यहीं, अभी और यही हैं, स्वयं हैं। तो इस स्वयंताकी जो ब्रह्मता है वह उधार नहीं होती। साक्षात् ब्रह्मता है। सो तत्काल होती है। प्रमाण और साधनमें एक और फरक होता है। साधन जहाँ साध्यका निर्माण करता है, प्रमाण विद्यमान वस्तुको दिखाता है।

आप धरतीसे एक लकड़ीको काटकर उसकी कोई चीज बना सकते हैं, आप मिट्टीको पीटकर घड़ा-सकोरा जो चाहें, उसकी चीज बना सकते हैं। आप रूईसे सूत बनाकर उसका जो चाहे कपड़ा बना सकते हैं। ये सब साधन-सिद्ध वस्तु हैं और जो स्वतःसिद्ध वस्तु हैं, परतः-सिद्ध नहीं है, अपना आत्मा ही है, उसका साक्षात्कार करनेके लिए जैसे सूर्योदय होता है, तो वह वस्तुका निर्माण नहीं करता, विद्यमान वस्तुको दिखाता है। जैसे अपनी आँख

चीजोंको दिखाती हैं, बनाती नहीं वैसे यह वेदान्त-विद्या साधन नहीं है, सिद्ध वस्तुको देखनेकी एक प्रक्रिया है।

यदि हमारा अन्तःकरण दूसरी वस्तुओंको देखना छोड़ देता है, तो प्रमाणवृत्ति भ्रमका निराकरण करती है। साधन अन्तः-करणका निर्माण करता है और प्रमाण विद्यमान वस्तुको दिखाता है। वेदान्त अनुमान या उपमान-प्रमाणसे नहीं दिखाता। यदि अन्य प्रमाणसे ज्ञान करावेगा तो वह तो अनुवाद है। केवल अन्य प्रमाणसे जो निवृत्त नहीं होता वह भ्रम है और वेदान्त प्रमाणसे इस भ्रमको निवृत्त करता है।

भ्रम है अपनेको कर्ता-भोक्ता, संसारी और परिच्छिन्न मानना। यदि सत्यको न समझकर—रस्सीको न समझकर हम माला, डंडा, भूछिद्र या सर्प समझते हैं—यह न जानना अज्ञान है और उसे सर्प मानना, डंडा या भूछिद्र मानना भ्रम है। इसी प्रकार अपनेको ब्रह्म न जानना 'अज्ञान' है। अपनेको पापी, दुःखी, पुण्यात्मा, जन्मवाला, स्वर्ग-नर्कमें आने-जानेवाला संसारी जानना, परिच्छिन्न समझना भ्रम है। प्रमाण जब अपने हृदयमें आता है, तो समूल माने अज्ञानसहित भ्रमका निवारण करता है। वेदान्तकी दृष्टिमें हेतु, स्वरूप, फल अलग-अलग हैं, साधनकी दृष्टिसे भी हेतु-फल-अलग-अलग हैं। इन दोनोंका ठीक-ठीक विवेक वेदान्त-विद्यामें होता है।

अब यह बात रही कि यहाँ लक्ष्य क्या है? लक्ष्य है वही जिसमें प्रमाण है। प्रमाणकी वृत्तिका जो साक्षी है, चूँकि वही ब्रह्म है, तो अज्ञान-अब्रह्मताकी भ्रान्ति है। इसके निवारणके लिए तत्त्व-ज्ञानकी आवश्यकता होती है। तब इसमें अधिकारीकी आव-

श्यकता पड़ती है। अधिकारका अर्थ है—आप इसको चाहते हैं कि नहीं ?

एक आदमी हमारे पास आये। हमने उसको कहा—'आप हमारे साथ भोजन कर लीजिए। उनकी इच्छा भोजन करनेको नहीं थी। उनके सामने जो वस्तु परस दी गयी, उसमें से उन्होंने थोड़ा लेकर भगवान्‌को भोग लगाया। फिर उसमें-से थोड़ा छोड़ा, थोड़ा खाया और थोड़ा बिखेर दिया।

हम एकके घरमें खुद ही गये। वे माने नहीं और हमारा मन नहीं था भोजन करनेका। जब बहुत आग्रह किया तो हमने थालीमें रोटीके टुकड़े-टुकड़े करके रख दिये। अब कोई देखने लगे कि हमने रोटी खायी कि नहीं तो समझमें ही न आवे। चक्करमें डाल दिया न उनको? क्योंकि हमारा रोटी खानेका मन ही न था।

पहली बात तो यह है कि समग्र दुःखकी निवृत्तिके लिए सच्ची इच्छा होनी चाहिए। नकली चीजसे सुखी न हों और दूसरेसे सुखी न हों। अपना ही सुख जाहिर करनेका बिलकुल पक्का विचार हो, इच्छा हो।

दूसरे—**'अर्थी समर्थः'**। जिस चीजको पानेकी हमें इच्छा हो रही है, उसको प्राप्त करनेकी योग्यता भी चाहिए। इदि इच्छा न हो, योग्यता हो तो बड़े-बड़े वकील और जज, जो बहुत बुद्धिमान् हैं, उनकी बुद्धिमें दुःख-निवृत्ति, परमानन्द और सत्यके ज्ञानकी इच्छा नहीं है तो उनकी योग्यता होते हुए भी बेकार जायगी, क्योंकि उनके मनमें इच्छा नहीं है। और एक आदमीके मनमें इच्छा तो बहुत है पर ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है, तो बार-बार उसे सुनायें कि 'तुम ब्रह्म हो' तो उसके मनमें कुछ न आयेगा।

अधिकार माने यह नहीं कि कानूनसे मना कर दिया कि इस घरमें मत आओ। कानूनके खिलाफ होना अनधिकार नहीं है बल्कि अपने जीवनमें आकांक्षा-योग्यताका न होना अनधिकार है। वेदान्तमें जिसको अनधिकार बोलते हैं, उसका अर्थ है कि 'अभी उसके अन्तःकरण–बुद्धिमें ऐसी योग्यताका विकास नहीं हुआ है कि वह अपने आपको ब्रह्मके रूपमें ग्रहण कर सके।' तो सद्गुरुका एक यह भी काम है कि वह अयोग्यको योग्य बनावे। यदि वह एक भी व्यक्तिको यह कह देता है कि तुम परमार्थके मार्गपर चलनेके योग्य नहीं हो, तो चलानेकी अयोग्यता है। बालक, वृद्ध और जवान भी चल सकता है। पागलको भी यथाकथञ्चित् उस योग्य बनाया जा सकता है। परन्तु वह सद्गुरु भी योग्य होना चाहिए। तो दो बातें आपको सुनायीं—एक होनो चाहिए इच्छा और दूसरी योग्यता।

योग्यतामें विवेककी शक्ति आवश्यक है, जो दुःखद नकली और अनात्मा है, उसे छोड़नेका सामर्थ्य आजाय। छोड़नेका सामर्थ्य यह है कि न उसमें राग हो, न द्वेष हो। लड़ाई करेंगे तो उसमें फँस जायेंगे और सट जायेंगे तो भी मारे जायेंगे। तब सटाना-हटाना दोनों काममें लग जायेंगे। होना क्या चाहिए? वैराग्य आना चाहिए। वैराग्य आया कब मालूम पड़े? जब मनमें शान्ति हो, इन्द्रियोंका विक्षेप कम हो। बड़े-बड़े आयोजनोंमें रुचि कम हो, और जो कुछ सुख-दुःख आवे, उन्हें सहकर निकल जायँ और अपनी सफलतामें श्रद्धा हो। मनको समाधान हो कि हम बिलकुल ठीक रास्तेपर चल रहे हैं। तो सद्गुरुकी शरण लेनेपर वे यह बताते हैं।

अब यह बात है कि सब साधनोंका सार कहाँ आता है? आप आत्मा और ब्रह्मके सिवाय दूसरी वस्तुसे राग-द्वेष न करें।

वैराग्यका मतलब द्वेष, घृणा, असूया, ईर्ष्या, निन्दा, द्रोह भी नहीं है। अपने मनमें उस वस्तुके प्रति जो लगन है, हटाव, सटाव है, उससे बच निकलें। मोक्षकी इच्छा हो।

विवेक है दो चीजोंको अलग-अलग करना। वैराग्य है दो अलग की हुई चीजोंके त्यागकी सामर्थ्य। और उस सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति है छह रूपोंमें। छहों रूप अभिव्यक्त होनेपर उन छहोंकी पूर्णता नहीं होती। यदि अन्तःकरणमें तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा ये दो गुण अपने जीवनमें आ जायँ, संसारकी वस्तुओंसे राग-द्वेषकी निवृत्ति तीव्र हो जाय—राग-द्वेषकी निवृत्ति पूरी-पूरी हो जाय, तो पूर्णता होती है। कभी राग आवे, कभी द्वेष आवे तो उसे पकड़िये मत, उसे ढीला छोड़ दीजिये जिससे वह भाग जाय। क्योंकि रागपर राग, रागपर राग आकर वह अपने रागको ही हटाता है और द्वेषपर द्वेष, द्वेषपर द्वेष आकर स्वयं उसे हटाता है। तो करना क्या है? राग-द्वेषकी शिथिलताका नाम वैराग्य है। तीव्र मुमुक्षा अपने अन्तःकरणमें आये तो मनुष्य अधिकारी होता है और उसके बाद सद्गुरुकी शरण लेनी चाहिए।

इसमें मुख्य लक्षण बताया है—भक्ति। भक्ति इसमें क्या है? हम किसीको ढूँढ़ते हैं तो प्रेमसे ढूँढते हैं कि बेप्रेमसे? आत्मा और ब्रह्मकी एकताको हम प्रेमसे ढूँढ़ें। अपनी ब्रह्मता—अपनी आत्मा जो है वह हमेशा हमारा प्रिय ही होता है, कभी अप्रिय नहीं होता। 'आत्मा नहीं है', ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा अन्य है—ऐसा भी कभी अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा द्वेषास्पद है—ऐसी वृत्ति भी कभी नहीं हो सकती। द्वेष भी किस प्रयोजनसे करेंगे? अपने कल्याणके लिए ही तो करेंगे? इसलिए आत्मा परमानन्दस्वरूप है।

●

## : १५ :

१८-६-७५

वृन्दावनमें एक-दो वर्ष पहले एक वैज्ञानिक आये थे, अनुसन्धानके लिए। उन्होंने निबन्ध लिखा था। यह सुनाया कि ब्रह्मज्ञानके लिए जो, जो साधन ग्रन्थोंमें बताये हैं, वैज्ञानिक अनुसन्धानके लिए भी उन्हींकी आवश्यकता है।

(i) विवेक माने पृथक्करणकी शक्ति, अलगाव, विश्लेषण। दो चीजें एकमें मिली हों उन्हें जुदा-जुदा करना। इसके बिना वैज्ञानिक अनुसन्धान कैसे हो सकता है?

(ii) जिस चीजको हम ढूँढ़ रहे हैं, उससे विरुद्ध चीज जो

हो, उसे छोड़ते चलना, उसकी ओरसे ख्याल हटा लेना, उसका नाम वैराग्य है।

(iii) मनमें खूब अशान्ति हो, किसीसे लड़ाई करके आओ, और वैज्ञानिक अनुसन्धान करो।

(iv) खूब खाते-पीते जाओ और वैज्ञानिक अनुसन्धान करो!

शम चाहिए माने मनकी शान्ति। दम चाहिए, माने मन और इन्द्रियोंका विषयोंमें न जाना। इन्द्रियाँ भोगके लिए विक्षिप्त न हों। मोटर भी चलाते जा रहे हो और वैज्ञानिक अनुसन्धान भी करते जा रहे हो, तो कर्म-विक्षेप हुआ! मानसिक, ऐन्द्रियक और कार्मिकि विक्षेप। उपरति माने कार्मिक विक्षेपसे मुक्ति।

खोज करनेमें कभी तकलीफ आयी तो उसे सह लिया। खोज कर रहे हैं और एक मच्छर आया, काट गया। पटसे उसकी ओर-से मन हटाया, उसपर एक चपत लगायी? नहीं, मच्छर काट जाय तो काट जाय, अनुसन्धान तो करना पड़ेगा। इसे तितिक्षा बोलते हैं। हमको सफलता मिलेगी, इसके बारेमें हमारे गुरुजनोंने जो मार्ग बताया है वह ठीक है, यह विश्वास होनेपर पूरी तरहसे उसमें लगेंगे। और एक-एक वस्तुपर मन अपना समाहित होता जाय—यह भी आवश्यक है।

विश्लेषण करना विवेक है। जिस चीजको हम नहीं ढूंढ़ रहे हैं उसको छोड़ देना, वैराग्य माने जो हमें नहीं चाहिए उसमें रुचि न लेना।

शान्त मनसे अर्थात् शमपूर्वक। इन्द्रियोंको विक्षिप्त न करके और बहुत ज्यादा कामधन्धेके पचड़ेमें न पड़कर जो कुछ कष्ट आवे उसे सहन करते हुए और हमें सफलता मिलेगी, हमारे पूर्वजोंने

जहाँतक अनुसन्धान किया है वह ठीक है और मनको समाहित रखे, तब खोजके मार्गमें बढ़ना होता है। चाहे वह खोज आधिभौतिक हो, आधिदैविक हो या आध्यात्मिक हो। खोजका यह स्वभाव है कि खोजीमें वे गुण आने चाहिए। सच पूछो तो धनके खोजीमें भी ये गुण होने चाहिए। नहीं तो धन आनेवाला नहीं है। लाभ-हानिका विवेक होना चाहिए, घाटा हो जाय तो घबड़ाना नहीं चाहिए। खाने-पीनेमें इतना मस्त नहीं होना चाहिए कि व्यापारका ही सत्यानाश हो जाय ! मन विक्षिप्त, अशान्त होगा तो भोगका सुख भी आपको नहीं मिलेगा, न भोजनका सुख मिलेगा, न संभोगका। मन ही नहीं रहेगा वहाँ ! इसका अर्थ यह है कि अनुसन्धानमें जो गुण खोजीमें होने चाहिए उन्हींका नाम साधन-चतुष्टय है।

मुमुक्षा अर्थात् कहीं बन्धन है, उससे हम मुक्त होना चाहते हैं। छुटकारा पानेकी इच्छाका नाम मुमुक्षा है। मोक्तुम् इच्छा। कहाँसे छुटकारा ? दृश्यके बन्धनसे द्रष्टाका छुटकारा—जो दीख रहा है, अर्थात् अपनेसे निराला है। कार्यके बन्धनसे कारणका छुटकारा अज्ञानके बन्धनसे ज्ञानका, असत्यसे सत्यका छुटकारा। हमने एक चीजके साथ दूसरी चीजको मिलाकर खिचड़ी बना दी है।

एक साधु रामघाटमें विचार, ध्यान करते थे। वे बड़े विरक्त थे। उनका नाम था अद्वैतानन्द। सच्चे साधु थे। जब समय बचता, उन्होंने अपने पास सेर-दो-सेर काला तिल-चावल मिलाकर रखा था। थालीमें लेकर बैठ जाते। बस, तिल और चावल अलग-अलग करते। आप कहेंगे, यह कौन-सी साधना है ? विवेक तो इस बीननेका ही नाम है ? दो चीजें आपसमें मिली हुई हैं।

मुमुक्षा क्या है ? हमारे विचारोंकी, बुद्धिकी जो खिचड़ी बन

गयी है—अध्यास माने नासमझी। यह कापी (नकल) नहीं है, अध्यास माने वह भ्रम जिसमें हम दूसरी चीजमें अपने मनको या मनसे दूसरी चीजको मिला लेते हैं। बुद्धिकी गाँठ माने ग्रन्थिका नाम अध्यास है। हमारी बुद्धिमें अपरिच्छिन्न आत्माकी परिच्छिन्न देहके साथ गाँठ पड़ गयी है। सत्य आत्माकी जड़के साथ, नित्यकी अनित्यके साथ सत्यकी असत्यके साथ। वह गाँठ कहाँ पड़ी है ? आत्मा-अनात्मामें ? कार्य-कारणमें ? नहीं; गाँठ चीजमें नहीं पड़ी है, अपनी समझमें पड़ी है। वेदान्तका उपदेश चीजकी गाँठ तो छोड़ ही नहीं सकता। रस्सीमें गाँठ हो और आप उसे लेकर वेदान्तको कहें कि आप इस रस्सीकी गाँठ अपने उपदेशसे छोड़ दीजिये तो छूटेगी ? नहीं, उपदेशसे रस्सीकी गाँठ नहीं अकलकी गाँठ छूटती है। तो ऐसा मत समझिये कि आत्मा-अनात्मामें कोई गाँठ पड़ गयी है और वह आपको प्रयत्न करके छोड़नी है।

आत्मा-अनात्माके बारेमें आपकी अकलमें गाँठ पड़ गयी है, उस बौद्धिक ग्रन्थिको छुड़ाना है। संस्कृत भाषामें इस बौद्धिक ग्रन्थिको भ्रम कहते हैं, अध्यास कहते हैं।

**अतस्मिस् तद्बुद्धिः इति असकृद् अवोचाम** (अध्यासभाष्य)। शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा—बार-बार कह दिया—'तुम्हारी बुद्धिमें जो उलटवाँसी आ गयी है, माने विपर्यास आ गया है, इसीका नाम अध्यास है। इसीसे वह उपदेशसे छूटेगी। अन्यथा, यदि वह सच्ची होती तो उसे तलवारसे काटना पड़ता। अब मुमुक्षा देखो—

**अहंकारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान्।**
**स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥२८॥**

यह मैं हूँ। मैंने एक ऐसा ब्राह्मण देखा है। ब्राह्मण माने अग्रज।

'अन्त्यज' शब्दमें संस्कृत-भाषामें कोई बुरा अर्थ नहीं है। अन्त्यज माने छोटा भाई, अग्रज माने बड़ा भाई, ब्राह्मण। आखिरमें पैदा हुआ तो अन्त्यज। एक ब्राह्मणको अपने ब्राह्मणपनेका इतना पक्का अभ्यास हो गया कि वह अन्त्यजके घरमें आग लगी तो आग बुझानेके लिए उसके घरमें नहीं गया। अन्त्यजको अपने अन्त्यज-पनेका इतना अभ्यास हो गया कि ब्राह्मण कुएँमें गिर पड़ा तो निकालने नहीं गया। कुएँमें-से निकालनेकी क्या जरूरत है? मरने दो! दोनोंको समझाया गया कि तुम अन्त्यज हो तो भी हिन्दू हो और तुम अग्रज हो तो भी हिन्दू हो। तब दोनोंकी बुद्धिमें पड़ी 'अन्त्यजपने' और 'अग्रजपने' की गाँठ खुल गयी और अपनेको हिन्दू मानने लगे और एकदूसरेकी भलाई करने लगे। 'हम भी हिन्दू, तुम भी हिन्दू'।

एक मुसलमान सोचता है कि हिन्दू है उसे मरने दो! हिन्दू सोचता है कि मुसलमान है उसे मरने दो! दोनोंमें अपने हिन्दूपने-मुसलमानपनेकी गाँठ इतनी पक्की हो गयी अपनी अकलमें। दोनों-को समझाया गया, तुम दोनोंके शरीरको रचना एक-सी है—हाथ, पाँव, नाक, कान आदि! तुम तो मनुष्य हो! तब दोनोंकी अकलमें पड़ी हिन्दुत्वकी और मुसलमानत्वकी गाँठ ठंडी पड़ी और अपनेको मनुष्य समझने लगे, एक-दूसरेका हित करने लगे।

असलमें तुम अलग जीव और मैं अलग जीव! तुम्हारा स्वार्थ अलग और मेरा स्वार्थ अलग! तुमको लूटकर हम सुखी होंगे, हमको लूटकर तुम सुखी होओगे—यह जीवत्वकी ग्रन्थि कहाँ पड़ी है? मैं धनवाला हूँ, वह धन पहले भी तुम्हारा न था, बादमें भी न रहेगा। वह पहले कभी तुम्हें न पहचानता था, अब भी नहीं पह-चानता और भविष्यमें भी न पहचानेगा। धनसे तुम्हारा प्रेम एकांगी है। मैं धनवाला, मैं स्त्रीवाला, परिवारवाला, मजहबवाला

जीतवाला, विद्यावाला, बुद्धिवाला, मकानवाला, समाधिवाला हूँ। यदि किसीको समाधिसे प्रेम हो तो समाधि लगावे! परन्त बात तबतक पूरी नहीं होती, जबतक व्यक्तित्वके उत्कर्षवाली, अन्तः-करणको लगनेवाली किसी भी बातको व्यक्ति अन्तःकरणमें लगने-वाली समाधिको 'मेरी समाधि' और 'मैं समाधिवाला'–ऐसा मानेगा! यहाँतक कि जबतक 'अन्तःकरणवाला मैं' और 'अन्तःक-रण मेरा' है, तबतक ज्ञानका द्वार खुलेगा नहीं। परिच्छिन्न अहं-भावमें जो 'मैं'की एकता है, वहाँसे लेकर देहमें, देहके सम्बन्धियों-को लेकर जो 'मैं' जुड़ा हुआ है, उससे मोक्षकी छुटकारेकी जो इच्छा है, विलकुल निर्भार, कोई बोझ नहीं,न मैं किसीका, न मेरा कोई! यह जो मुमुक्षा है, ईश्वरकृपासे इसमें साधनका भी निर्णय हो जाना चाहिए; क्योंकि भ्रम, अज्ञान बौद्धिक ग्रन्थि है। यह अपने स्वरूपके सच्चे ज्ञानसे ही मिटनेवाली है और जितना-जितना उपाय करेंगे, उतना-उतना उपाय हमारी अहंकी ग्रन्थिको और भी उल-झावेगा, पक्की करेगा। तुलसी की चौपाई है—

**श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥**

श्रुति-पुराणने बहुत तरहसे समझाकर कहा है, परन्तु यह अकलकी गाँठ छूटती नहीं है, और उलझती जा रही है। जितने कर्तव्य होते हैं वे किसी कर्ताके लिए होते हैं। धर्म, योग, उपासना कौन कर्ता करे? उस कर्तामें जब हम अपना आत्मा मिलायेगे, तब कर्तव्यकी उपस्थिति होगी। 'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

यह वेदान्त-ज्ञान सादगी, सहजता है, बनावट, कृत्रिमता, नहीं। इच्छा, साधन, उपलब्धि और अपना स्वरूप भी सहज है। सीधी-सादी जो सच्ची बात है, उसे लखानेके लिए वेदान्त है।

इसमें यह बात बतायी कि पहले मनुष्यके मनमें जो मुमुक्षा आती है वह मन्द होती है, धीरे-धीरे बढ़ती है। तो तीव्र मुमुक्षा और मन्द मुमुक्षाकी पहचान, उसका लक्षण क्या? संस्कृत भाषामें लक्षण और हिन्दीमें पहचान कहते हैं। जिससे वह चीज लखी जाय वह लक्षण। लखन, लखना, लखाना—'लक्ष्यते अनेन'। पहले पहचान देखो।

एक आदमी कहता है, स्वामीजी महाराज! हम कौन-सा कर्म करें तो हमें मोक्ष मिलेगा? वह ऐसा समझता है जैसे 'हम किस रास्ते जाँय तो हम उस गाँवमें पहुँचेंगे? उसे मालूम नहीं है कि मोक्ष यहीं है।

एकने सोचा; अभी सोनेका कंगन तैयार नहीं है। उसे किस सुनारसे पिटवाउँ, बनवाऊँ, गलवाऊँ तो कंगन बनेगा? जब ऐसी मोक्षकी इच्छा हो। यज्ञ, दान, पूजा, तीर्थ कुछ करके मोक्ष प्राप्त करूँ यह इच्छा रहती है तबतक उसे मन्द मुमुक्षा बोलते हैं। मध्यम मुमुक्षा तब होती है जब मैं किस देवताकी पूजा, कौन-से मन्त्रका जप, कौन-सा होम करूँ तब मुझे मोक्ष मिलेगा? ऐसा प्रश्न होता है।

कर्मके सहारे होनेवाली मुमुक्षा मन्द मुमुक्षा है। देवता और उपासनाके सहारे मध्यम मुमुक्षा होती है। बाहरंग साधनका नाम धर्म है, अन्तरंग साधन हैं--प्राणायाम, योग आदि। कर्मके दो भेद हैं, दोनों पौरुषसे सिद्ध हैं। जबतक अपने कर्मसे मोक्ष पानेकी इच्छा है तबतक शिथिल मुमुक्षा है और जब किसी दूसरेका भरोसा करके कि उनकी कृपासे मोक्ष हो जायगा तो मन्द मध्यम मुमुक्षा है। स्वामी रामतीर्थने एक प्रसंग लिखा है, बहुत बढ़िया है। एक साधु गये हिमालयमें। एक गुफाके बाहर बहुत सारे लोग

इकट्ठे खड़े थे। वहाँ कोई जप कर रहा है माला लेकर, कोई हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है, कोई होम तो कोई ध्यान कर रहा है! उन्होंने पूछा कि इस गुफामें ऐसी क्या विशेषता है कि आप लोग हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं।

वहाँके लोगोंने बताया इस गुफामें भूत, प्रेत, पिशाच रहते हैं। इसमें कोई जाय तो उसे वे पकड़ लेते हैं। वे अन्धकारमें रहते हैं तो हमारी प्रार्थना है कि हे अन्धकार! तुम दूर हो जाओ। और अन्धकारं भस्मी कुरु स्वाहा। यह हमारा होम है। हम ध्यान कर रहे हैं कि प्रकाश ही प्रकाश है अन्धकार है ही नहीं।

यह सुनकर महात्माको हँसी आगयी। वे बोले—देखो भाई यह अन्धकार हाथ जोड़नेसे जानेवाला नहीं है। तुम बड़ी-बड़ी लकड़ियाँ इकट्ठो करो। सबने लकड़ियोंको इकट्ठा किया। वे बोले—आग जलाओ उन्होंने आग जलायी। फिर उनको कहा गया यह लेकर घुसो अन्दर। भीतर जो-जो मिले, चिड़िया, अजगर, साँप, शेर, सबको मारते हुए आगे-आगे चलो तुम देखोगे कि वहाँ न भूत है न प्रेत, न पिशाच। उन्होंने वैसा ही किया और देखा कि वहाँ कुछ न था। तो अन्धकारके कारण जो दुःख था वह प्रकाशसे दूर होता है, और-भ्रम अज्ञानके कारण जो दुःख होता है वह ज्ञानसे दूर होता है।

इसलिए जबतक हम अपने प्रयत्न और कर्म द्वारा इस अज्ञान-अन्धकारको दूर करना चाहते हैं, तबतक तो अपने अहंकारकी पुष्टि होगी और जबतक आप हाथ जोड़कर किसीकी कृपा माँगते हे, तबतक वह देनेवाला और मैं लेनेवाला यह भेद-भ्रम मिटेगा नहीं और पराधीनता रहेगी। तब? उत्तम, तीव्र मुमुक्षा चाहिए। ठीक है! जब विवेक-वैराग्य जागते हैं, शम-दम आते हैं, तब गुरुकी कृपासे मुमुक्षाका उदय होता है। जैसे बच्चेकी माँ होती है, वैसे

मोक्षकी माँ है—मोक्षकी इच्छा। इच्छा हमेशा गर्भिणी होती है। इच्छाके पेटमें इच्छाका विषय रहता है। इसलिए जिस इच्छाके पेटमें मोक्षकी इच्छा रहती है, उसका नाम है मुमुक्षा। वह मोक्ष-गर्भिणी है और मोक्षकी माँ है। यह फलप्रसविनी है। वह कबतक मोक्षको जन्म देती है? जबतक दस महीना हो जाता है। यह दस महीना नहीं होता है। आप जानते ही हैं, गिनती करके बता दें—नित्यानित्य-वस्तुविवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, ये आठ हो गये और मुमुक्षा नव। नवें महीनेमें यह फल मिलता है। नवाँ महीना पूरा हुआ। 'सूयते'—शब्दपर ध्यान दो। 'सूयते' माने बच्चा देना। पेड़-पौधेका बच्चा नहीं, जिन्दा प्राणीका बच्चा देना। इसके लिए 'सू' धातु है। अब एक बात देखो, 'विवेक, वैराग्य और मुमुक्षा'। जितने तीव्र उसमें शम-दमादि सम्पन्न होते हैं, उसका प्रयोजन सिद्ध होता है। परन्तु वैराग्य, शमदमादि नहीं हैं, उनके लिए सहज भाव होना चाहिए।

जिसको हम चाहते हैं उसकी तरफ ध्यान देना मुमुक्षा है। मोक्षकी ओर ध्यान देना मुमुक्षा है। जिससे हम मुक्त होना चाहते हैं, उसकी ओर ध्यान गया तो वैराग्य है, पाना चाहते हैं तो मुमुक्षा है। चीज एक है। जिससे बन्धन है, उससे छूटनेकी।

(i) तीव्र इच्छाके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीनों आवश्यक हैं। वह मन्द अधिकारी है।

(ii) तीव्रतर इच्छाके लिए श्रवण और निदिध्यासन आवश्यक है। वह मध्यम अधिकारी है।

(iii) तीव्रतम इच्छाके लिए मात्र श्रवण पर्याप्त है। वह उत्तम अधिकारी है। उसका काम श्रवणसे ही बन जाता है। जहाँ वैराग्य है, वहाँ मुमुक्षा मन्द है।

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता ॥ ३१ ॥

कहते हैं; ये जो साधन हैं, वे भी आभासमात्र होते हैं । आभास माने साधनकी परछाईं । मालूम पड़ता है पर है नहीं । कहाँ ? जहाँ वैराग्य और मुमुक्षा मन्द हैं ; जैसे मरुस्थलमें पानी दीखता है, वैसे ही जिसमें वैराग्य नहीं है, उसमें शान्ति कहाँ ? ध्यान देकर देखो ! आपके मनमें राग-द्वेष हो और कहो, बड़ी शान्ति रहती है । तो यह तो ढोंग-धतूरा हुआ न ! कैसे शान्ति रहेगी ? वह तो आभासमात्र है ।

एक आदमीको गुड़ खानेकी बहुत इच्छा थी । कई दिनोंसे चाहता था, 'गुड़ मिले' । आप लोग खाते हैं जो गुड़ वह असली नहीं है । जिसने बनाया वह जानता है कि गुड़ क्या होता है ?

उस आदमीके मनमें कई दिनोंसे गुड़ खानेकी तीव्र इच्छा थी । इससे उसके मनमें अशान्ति हुई कि हाय-हाय, हमको गुड़ नहीं मिल रहा है । एक दिन गुड़ मिल गया तो भारी शान्ति मिली । बहुत दिनोंसे इच्छा थी, पूरी हुई । खाने-पीने, संभोगमें, पैसा कमानेमें इच्छा पूरी हुई तो शान्ति मिली, परन्तु कबतक ? जबतक दूसरी इच्छाका उदय न हो । तुम्हारी शान्तिकी उमर कितनी ? इन्तजार करनेकी जरूरत नहीं है । गुड़ खाया और शक्कर खानेकी इच्छा उदय हुई । वह तो आभास-मात्र होती है । अब एक बात यह बताते हैं कि यदि हृदयमें भक्ति रहे तो मोक्षके जो साधन हैं वे जीवनमें आने लगते हैं ।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।—३२

जैसे हम आँखसे घड़ी देखते हैं ; घड़ी देखनेमें हमारी आँख

असाधारण कारण है। यदि आँख न हो तो हम घड़ी नहीं देख सकते। कानसे ठीक-ठीक सुनते हैं न? बहरा आदमी नहीं सुन सकेगा। आँखसे वह नहीं सुनायी देगा। रूप कानसे नहीं देखा जा सकता। आवाज आँखसे नहीं सुनी जा सकती। आवाज सुननेके लिए असाधारण करण है कान। रूप देखनेके लिए असाधारण करण है आँख, छूनेके लिए त्वचा है। एक साधारण करण तीनोंमें है, उसका नाम है मन। मन न हो तीनोंमें-से एक भी नहीं होगा। इत्र लगा हो गन्ध हो, तो नाकसे मालूम पड़ेगी, परन्तु नाकमें मन होना चाहिए। शक्करका स्वाद जीभको मिलेगा, परन्तु जीभमें मन होना चाहिए।

किसी भी विषयके अनुभवके लिए अधासारण करण काम देता है। परन्तु साधारण करणके रूपमें मन उसमें मदद करता है। इस प्रकार साधारण करण है मन और असाधारण करण है एक-एक इन्द्रिय। आप साधन करते हैं तब असाधारण करण जीभसे जप करते हैं। कानमें ठेपी लगाइये, हाथसे चतुर्बन्ध कीजिए नहीं तो कानसे सुनेंगे। परन्तु भक्ति साधन-मात्रमें साधारण करण है। जैसे मनके बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषयको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर सकती, वैसे मन लगाये बिना यदि आपके मनमें भक्ति-रुचि या प्रीति न हो तो प्रेमपूर्वक कोई भी साधन न करोगे—जप, तप, होम तब न होगा, न प्राणायाम होगा। साधनके प्रति आदरबुद्धि होनी चाहिए।

धर्मात्माको धर्मानुष्ठानमें श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धाके बिना धर्मानुष्ठान अन्तःकरणमें अपूर्व उत्पन्न नहीं करेगा। श्रद्धा न हो, विधि और संकल्प न हो, तो धर्मानुष्ठान निष्फल होता है। 'फल अमुक मिले' यह भी होना चाहिए। निष्कामताका भी संकल्प

होना चाहिए कि हमारा अन्तःकरण निष्काम हो जाय। संकल्प, श्रद्धा और विधि होनेपर अपूर्व बीज हृदयमें धर्म डाल देता है। आदर बुद्धिसे योगाभ्यास करे तो समाधि मिलेगी।

कोई भी साधन हो, श्रद्धा, प्रीति और रुचि आवश्यक है; चित्तमें गौरवपूर्वक श्रद्धा-भावना होनी चाहिए कि 'यह साधन हमारे लिए फलप्रद बनेगा। मोक्षकी कारणभूत जितनी सामग्री हैं, उनमें भक्ति सबसे महान् है—गरीयसी, महीयसी, वरीयसी। सार यह कि हृदयमें भक्ति हो।

एक प्रश्न यह उठा कि उपासना-सिद्धान्तमें तो अपने इष्ट-देवके प्रति श्रद्धा और रुचि रखते हैं, प्रीति रखते हैं। वेदान्त माने तत्त्वज्ञानकी साधना—यह साधना नहीं है, यह तो मौजूद वस्तुको दिखा देनेकी एक प्रक्रिया है। असलमें हम वेदान्ती लोग प्रमाण ज्यादा नहीं मानते हैं। एक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, एक अपरोक्ष। अनुभव माने विद्या—अपरोक्ष तदाकार वृत्ति। वृत्ति प्रमाण है। प्रत्यक्षमें भी प्रत्यक्ष वृत्ति ही प्रमाण है, आँखगोलक प्रमाण नहीं है। 'अयं घटः' यह वृत्ति प्रमाण है।

अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, शब्द—ये प्रमाण यदि किसी वस्तुका प्रत्यक्ष करा दें तो प्रमाण हैं। यदि प्रत्यक्ष न करावें तो ? तो बिलकुल बोगस-फोकटके हैं। जो भौतिक वस्तुका तो प्रत्यक्ष न करा दें—स्वप्रकाश वस्तुकी, प्रकाशतामें जितने प्रतिबन्ध हैं उनका निवारण न कर दें।

बहुत प्रमाणोंकी गिनती बतानेकी जरूरत नहीं। आप वैज्ञा-निक मार्गसे चलते हैं, तो आप किस वस्तुका अनुसन्धान कर रहे हैं ? उसका चाहे यन्त्रसे या बिना यन्त्रसे इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होना

चाहिए। अनुमान करनेकी जरूरत नहीं। बिना प्रत्यक्षके अनुमान कुछ नहीं करता। अनुमानके मूलमें भी प्रत्यक्ष ही होता है। शब्दसे भी लोक-व्यवहारमें अर्थापत्तिसे या अनुपलब्धिसे भी यदि प्रत्यक्ष नहीं हुआ—अपने बारेमें तो प्रत्यक्ष कैसा? हमारे मनमें राग है कि नहीं? द्वेष है कि नहीं? बिलकुल प्रत्यक्ष है। हम देख ही रहे हैं कि है या नहीं। विभीषणने रामायणमें कहा है—

**प्रभु कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रेम सलिल सो बही॥**

स्पष्ट कहा विभीषणने—'मेरे मनमें पहले वासना थी, मैंने देखा और अब बह गयी, यह भी देखा।' भाव-अभाव दोनोंका साक्षी तो वासनाका अपरोक्ष हो रहा है।

साक्षात् अपरोक्ष होता है अपना। वह होता है प्रमाण। यदि अन्य वस्तु हो तो हमें प्रत्यक्ष दीखे। चाहे गणितसे, अनुमान या उपमानसे। यदि स्व ही वस्तु है तो उसके दर्शनमें जितनी रुकावटें हैं, सब दूर हो जायँ।

**स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ ३२॥**

**स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः।** ( ३३ पूर्वार्ध )

आपको यह भी ध्यानमें होगा कि अबतक विवेक-चूडामणिने जो साधन बताया है, वह बिना गुरुके है। अकल ऐसी होनी चाहिए। मुमुक्षाको तीव्र करनेके लिए गुरुकी आवश्यकता होनी चाहिए। यदि आपमें वैराग्य होगा तो आपकी मुमुक्षा तीव्र हो जायगी। परन्तु उसे तीव्र करनेके लिए आपके चित्तमें भक्ति आजायेगी।

भक्तिका लक्षण—**तदर्पिताखिलाचारः** ( ५·६५ ) **तद् विस्मरणे परमव्याकुलता।**—(१·१९)

नारदजी भक्तिका लक्षण करते हैं, 'जिसके प्रति हमारी भक्ति होनी चाहिए उसे भूल जायें तो परम व्याकुलता हो कि 'हाय-हाय ! अबतकका हमारा जीवन व्यर्थ गया !' तो जो कुछ करें, उसके लिए-सोवें तो उसके लिए; कैसे ? समयसे उठ जायेंगे तो भजन करेंगे ! तो सोना समयपर। शंकराचार्यने कहा कि 'रोटी न मिले खानेको तो माँगकर भी खा लेनी चाहिए।' क्योंकि जीवन रहेगा तब तत्त्वज्ञानका विचार होगा।

शरीर धारण करेंगे तब तत्त्वका विचार होगा। हम सोयेंगे तब परमात्माका अनुसन्धान होगा ! टट्टी लगी है और माला फेर रहे हैं। यह तो टट्टी-पिशाबकी, व्यापारका विचार करते हैं तो व्यापारकी माला फेर रहे हैं। इसलिए यदि कोई आवश्यक कार्य हो, तो पहले कर लो जिससे भक्ति ठीक हो ! तो वह भी भक्तिका सहायक हो गया। ध्यान आप ठीक कर सकेंगे तो वह कार्य ध्यानका मददगार हो जायेगा। इसलिए आपको भक्ति करनी चाहिए। दो बातोंपर ध्यान दीजिए—(१) आपके शौच-लघुशंका भी, भोजन आदि भी उसी लक्ष्यके प्रति अर्पित हैं कि नहीं ?

**तन मन धन सब संतको।**
**तन मन धन गुरुचरणां अर्पित कीजै !**

हे भगवान् ! ईश्वरके सामने बोलनेमें भी तो संकोच करना चाहिए न ! ऐसा कहो कि हम अर्पण करना चाहते हैं, किया तो नहीं है। तो भक्ति कहाँ होती है ? जहाँ अपने आचरणका सारा ही अंग अपने इष्टदेवकी सेवामें अर्पित होता है। फिर उसमें यह नहीं कि तीन दिन या तीन घण्टे व्यापारको अर्पित हैं।

तदर्पिताखिलाचारः ( नारद० ४.६५ ) तद् विस्मरणे परमव्याकुलता ।—( नारद० १.१९ )

आप जो कुछ करें वह इसलिए कि आपको अपने स्वरूपका ज्ञान होवे। स्व-स्वरूपानुसन्धानमें खोज रहे हैं किसको ? हमारे यहाँ भाद्रपदमें अनन्त-चतुदर्शी होती है। जैसे यहाँ कंगन-कोई सोने-चाँदीका पहनते हैं, बना लेते हैं, नहीं तो सूतका बना लेते हैं। उसे डालते हैं दूधमें। एक आदमी उसमें हाथ डालता है तो दूसरा पूछता है 'का खोजेला ?' क्या ढूँढ रहे हो ? 'अनन्तफल'। 'कहँवा ?' 'क्षीरसागर-समुन्दरमें'। 'पवला-मिलल ?' 'नाहीं।' अन्तमें कहते हैं, 'पवली, पवली, पवली।' तो क्षीरसागरमें अनन्तको ढूँढना है! अनन्तको ढूँढना है अपने अन्तःकरणको सात्त्विकतामें।'

'स्व-स्वरूपानुसन्धानम्'—अपनेको ढूँढनेके लिए दूसरेके घरमें मत जाओ! अपनेको अपने घरमें ढूँढो! 'एक आदमी भुलक्कड़ थे। वे रोज नोट करते थे—'टोपी यहाँ, छड़ी यहाँ, जूता यहाँ कोनेमें, कोट यहाँ, छड़ी यहाँ फिर मैं पलंगपर! 'एक दिन वे उठे—सब देखा और सब ठीक, पर वे खुद उठकर मिला रहे थे कि सब चीज ठीक जगहपर है न! तो देखा, 'मैं पलंगपर नहीं हूँ! तो बड़े घबराये बेचारे—मैं पलंगपर नहीं हूँ। उनकी पत्नी आयीं, पूछा 'क्यों घबराये हो ? तो तुम कौन हो ?' वह बोला-'देखो हमारी किताबमें नोट किया हुआ !' भाई ! अपनेको कहाँ ढूँढोगे ? जो ढूँढनेवाला है, वह अपनेको पलंगपर थोड़े ही ढूंढेगा ?

•

## : १६ :

१७-६-७५

मोक्षकी कारण सामग्री। जैसे आपको कपड़ा बनाना हो तो उसकी कारण सामग्री क्या है ? सूत चाहिए ! यह तो उसका उपादान कारण हो गया। बनानेके लिए कुम्हार चाहिए। तो यह निमित्त कारण हो गया ! तुरी चाहिए, वेम चाहिए। ईश्वरकृपासे जैसे कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बना सके या जुलाहा सूतसे कपड़ा बना सके इसके लिए और सामग्री चाहिए। घड़ा बनानेमें चाक, डंडा, सूत चाहिए ! इसीको बोलते हैं कारण-सामग्री ! तो मोक्षकी कारण-सामग्री क्या ?

मोक्ष घड़े-कपड़ेकी तरह चीज नहीं है कि उसको बनाया जाय। उसमें चाहिए समग्रता पूरी-पूरी चीज चाहिए। मोक्षमें अधूरी चीज नहीं चलती ! अपनेमें प्रेमयुक्त दृढ़ निष्ठाका जो उदय है कि 'मैं तो मोक्ष प्राप्त करके ही रहूँगा'—यह उसकी कारण-सामग्री है। जिसके मनमें मोक्षप्राप्तिकी दृढ़ रुचि—प्रीति नहीं है, उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसमें वस्तु मुख्य नहीं है, दृढ़ रुचि, प्रीति, सेवा आवश्यक है।

मोक्ष बनाना नहीं है, बनी-बनायी, विद्यमान वस्तुको जानना है। इसलिए जाननेमें भी रुचिके साथ सेवा अर्थात् उसकी अनुभूतिकी ओर अग्रसर होना चाहिए। इसको बोलते हैं भक्ति। जो लोग थोड़ा-बहुत व्याकरण जानते हैं, उन्हें मालूम है, 'भाग' माने बँटवारा कर देना। दो फल हैं—एक तुम्हारा और एक मेरा! **एष ते रुद्रभागः**-(यजुर्वेद ३·५७) श्रुतिमें आता है, 'हे रुद्र यह तुम्हारा भाग है।' एक ओर संसार है, एक ओर मोक्ष है। तो बोलते हैं—'**हे मोक्ष! अहं ते भागः**।' अब हम तुम्हारी ओर हो गये। हमें संसार नहीं चाहिए, मोक्ष चाहिए।' इसे बोलते हैं—'भक्ति।' 'एष ते रुद्र भागः।'

ईश्वरको कहना, 'हम भाईके, जातिके, मजहबके भाग नहीं हैं, हम तुम्हारे भाग है!' ईश्वर अंशी है, हम अंश हैं। यह ईश्वरकी भक्ति हुई। 'तो अब हम मोक्षके फण्डमें गये, संसारके बन्धनके फण्डमें नहीं हैं।' इस निश्चयका नाम है भक्ति।

एक और बात—जैसे वैज्ञानिक तत्त्वोंका विश्लेषण करते हैं तो उसमें उनका कोई पक्षपात नहीं होता कि यह ऐसा हो या वैसा हो। तटस्थ भावसे वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। विश्लेषण माने जुदा जुदा! दो चीजें मिली हुई हों तो वैज्ञानिक विश्लेषणमें अपनी वासना नहीं जोड़ता। उसका नाम होता है विवेक। इस विवेकमें यदि हमारी वासना जुड़ जाय तो उसका नाम होगा 'भक्ति।' मोक्षवासनायुक्त विवेकका नाम है भक्ति। सामान्य रूपसे वेदान्ती जैसे इस बातको समझाते हैं, वैसे हम आपको नहीं समझाते हैं। मोक्षवासनायुक्त विश्लेषण एकपक्षीय होगा। मोक्षपक्षपाती विवेकका नाम भक्ति होगा। वैज्ञानिकका विवेक निष्पक्ष होता है।

मुमुक्षुका विवेक मोक्ष-पक्षपाती होगा। इस पक्षपातको विवेक न कहकर भक्ति कहा गया।

भक्तिमें एक दूसरी बात है—जैसे भजनीय और अभजनीयका विवेक कर दिया तो जो भजन करने योग्य है उसकी सेवामें लग गये और जो भजन करने योग्य नहीं है, उसे छोड़ दिया। संस्कृतके शब्दोंको और भी पकड़कर समझा दें। एक है 'भजन' और एक है 'यजन'। यजन करना कर्तव्यबुद्धिसे होता है, सकामभावसे होता है और निष्काम हो तो कर्तव्यबुद्धिसे होता है। यजनमें यजनीयके प्रति आसक्ति नहीं है। यह बात आप ध्यानमें लो। जैसे हम इन्द्रदेवताके लिए यज्ञ कर रहे हैं तो हम सकाम भावसे कर रहे हैं हम जो चाहते हैं वह इन्द्र दे। इन्द्रमें आसक्ति है नहीं। यदि कर्तव्य-बुद्धिसे करते हैं तब भी हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि इष्ट है, इन्द्र नहीं। यजनमें देवता इष्ट नहीं होता, अपने अन्तःकरणकी शुद्धि या कामना इष्ट होती है।

भजनमें जिसकी सेवा की जाती है–इष्टदेवताकी सेवा अभीष्ट है वह सेवा प्रेमपूर्वक होती है। भजनीयके प्रति रुचि और आसक्ति हो तब भक्ति बनती है। ऐसे ही पंखा नहीं झला जाता, ऐसे ही पैर दबाया या खिलाया नहीं जाता। सेवकका मतलब है प्रीतिपूर्वक अर्थात् अपने प्रेमसे उसको प्रेमान्वित करना। उससे हम प्रेम करते हैं और हमारे प्रेमसे वह भी प्रेमान्वित हो जाय। सेवाका अर्थ परोपकार नहीं। भाई, अब गुरुजीको दीखता नहीं है तो उनका हाथ पकड़कर चलना कर्तव्य हो गया? नहीं, सेवाका अर्थ है अपनेको भी आनन्द दें। और सामनेवालेको भी आनन्द दें।

भक्ति माने क्या हुआ? यह कि भक्ति अज्ञानको दूर कर देगी। भक्ति भजनीयके स्वरूपको अपने हृदयमें ले आती है, यह बात

सच्ची है। भजनीयके अतिरिक्त जो रूप हैं, उनसे वैराग्य करा देती है यह बात भी ठीक है। परन्तु वेदान्ती जिस आत्मा और ब्रह्मकी एकताको ज्ञान कहते हैं, वह ज्ञान भक्ति नहीं देती।

भक्ति निष्ठापरक है अर्थात् यदि हमारे मनमें हो कि हमें मोक्ष मिले, तो यही भक्ति हमारे हृदयमें निष्ठा ला देगी, जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देगी। अन्तःकरणका परिवर्तन कर देना भक्तिका काम है। तत्त्वके अज्ञानको मिटा देना यह तत्त्वज्ञानका काम है। दोनोंका विभाग बिलकुल अलग-अलग है। दो स्त्रियोंके सामने दो अलग-अलग प्रकारके जेवर आये। एकने कहा, 'यह कंगन है' बहुत बढ़िया। एकने कहा, 'यह कुण्डल है', बहुत बढ़िया एक अन्य व्यक्तिने कहा, दोनों ठीक हैं, अपनी-अपनी जगहपर। एक कंगनकी प्रेमिका है, एक कुण्डलकी। इतनेमें दोनोंके पतिदेव आये और बोले, 'आपकी बात तो ठीक है, परन्तु सोना देखो। कंगन और कुण्डलमें वह सही है कि गलत है ? चाहे शकल कंगनकी हो या कुण्डलकी, जेवर हाथमें पहनो चाहे कानमें, सोना कैसा है ?

यह भक्ति आपको हाथमें पहननेका बढ़िया कंगन देती है, कानमें पहननेका बढ़िया कुण्डल देती है, परन्तु तत्त्वज्ञान आपको सोनेकी किस्म बताता है। इसलिए भक्ति व्यक्तिका विवेक है, तत्त्वका विवेक है। इसलिए धर्म, भक्ति और योग तीनों व्यक्तिके माने परिच्छिन्नके आश्रित रहते हैं, यह तत्त्वका विवेक नहीं है। वृत्तिकी स्थिरता निष्ठा है, इसलिए भक्ति दृढ़ निष्ठामें हेतु है और तत्त्वज्ञान अज्ञानको निवृत्त करनेके लिए है। **एवं च कलहः कुत्र ?** दोनोंमें कोई झगड़ा नहीं है। रूप देखनेके लिए आँख है, स्वाद चखनेके लिए जीभ है। आँख और जीभमें क्या झगड़ा है ? कोई नहीं। दोनोंके विषय दो हैं। यदि कोई भक्तिके बिना ही मुक्त हो जाय; तो जिन्दगी भर उसकी शिकायत बनी रहेगी कि वृत्ति

हमारी टिकती नहीं है । वृत्तिसे ममता नहीं छूटेगी । यही गृहस्थके और संन्यासीके ज्ञानमें फरक है ।

गृहस्थ ज्यादा-से-ज्यादा बानप्रस्थतक हो सकता है—वृत्ति उसकी साथ रहेगी माने पत्नी उसके साथ रहेगी । संन्यासीके ज्ञानमें पत्नी साथ नहीं है । इस फरककी बातमें विवेकका निरूपण करनेवाले वेदान्तके आचार्योंमें भी मतभेद हो गया है । वाचस्पति मिश्रको वानप्रस्थमें पत्नीकी आवश्यकता है । वे गृहस्थ आचार्य हैं और अद्वैतवादी हैं । शंकराचार्यको ? बिलकुल निर्द्वन्द्व ! यह भामती-प्रस्थानमें और विवरण-प्रस्थानमें फरक है ।

अब प्रश्न यह है कि भक्ति क्या है ? भक्तिका स्वरूप क्या है ? **त्वाम् आत्मानम् परं मत्वा परमात्मानमेव च** । इत्यादि । अभि प्राय यह है कि पढ़े-लिखे लोगोंकी मूर्खता देखो ! क्या ? आत्माको मानते हैं–देहके मरनेको आत्माका मरना समझते हैं और अपनी चेतनताको देहकी चेतनता समझते हैं । फिर हम परमात्माको ढूँढ रहे हैं । धन्य हो जी ! बाहर ढूँढने जाते हो परमेश्वरको । यहाँ नहीं मिलेगा तो क्या वहाँ मिलेगा । जिस जगह तुम्हारी बुद्धि काम करती है, जिस जगह वह उदित हुई, उस बुद्धिके उदयके पूर्व, उस बुद्धिके उदयके साथ और उस बुद्धिके शान्त हो जानेपर जो मौजूद है वह तुम्हें न मिलेगा और तुम उसे ढूँढनेके लिए सड़कपर जाओगे, गुरु ग्रंथ साहबका भजन हमें बहुत पसन्द आता है **काहेरे बन ढूँढन जाई** ।

भीतर वालेको तो ढूँढा नहीं, और अब किसको ढूढना ? **स्वस्वरुपानुसधानं भक्तिः इत्यभिधीयते** ( ३२ ) अभिधीयते माने संस्कृतमें अभिधाके नाम को कहते हैं—जैसे यह बच्चूभाई यह दहाणुकरजी, यह देशपांडे ये नाम हैं । किसीने पूछा—बच्चूभाई किसका नाम है । वे जो कुर्सीपर आगे बैठे हैं ।

भक्ति किसका नाम है ? स्वस्वरूपानुसन्धानका नाम भक्ति है। आप सब अपने-अपने स्वरूपका अनुसन्धान करें। दो बार स्व-स्व है न ! प्रति स्व माने प्रत्येक स्वका अनुसन्धान करना। यह स्व कहाँ छिपा है ? नाक-कान-आँख-जीभ-त्वचा और मनके पीछे रह-कर उसमें जो आने-जानेवाले संकल्पोंको देखता है। वृत्तिके पीछे रहकर वृत्तिमें उत्थान-पतन होनेवाले विषयों और आकारोंको देखता है। वह **स्वस्वरूपानुसन्धानम्**—देह अलग-अलग है। उस प्रत्येक शरीरमें विद्यमान स्व-स्व-स्व जो रूप है उस रूपका अनु-सन्धान माने खोज, अनुशीलन।

**'वाचो वाचम्'**—जीभकी जीभ—जिस जीभके कारण जीभ बोलती है, **'चक्षुषः चक्षुः'**—आँखकी भी आँख है, जिस आँखकी वजहसे आँख देखती है। इसका नाम है अनुसन्धान। आँखके सहारे उस आँखको ढूँढो। जीभका सहारा लेकर चखनेके लिए जीभपर जो ज्ञान आ रहा है वह कहाँसे आ रहा है ? **ज्ञानाधि-करणम् आत्मा**। जितने भी ज्ञान होते हैं उनका आश्रय आत्मा है—नैयायिकोंने ज्ञानकी यह व्याख्या बतलायी।

रूप कहाँ रहता है ? तेजमें। गन्ध कहाँ रहती है ? धरतीमें। स्वाद कहाँ रहता है ? पानीमें। ज्ञान कहाँ रहता है ? जिसमें ज्ञान रहता है, उसका नाम है आत्मा। नैयायिकोंने आत्माका लक्षण बनाया है।

शुरू-शुरूमें आप ऐसे सोचिये। इसलिए आपको यह बता रहे हैं। सांख्योंने तो ज्ञान दो प्रकारका कर दिया—एक प्राकृत ज्ञान जो सात्त्विक वृत्तिके द्वारा होता है—घटज्ञान, पटज्ञान। दूसरा स्वरूप-ज्ञान जो वृत्ति शान्त होनेपर भी रहता है। आप स्वरूपका अनु-शीलन कीजिये। बचपनकी एक बात है—हम एक प्रसिद्ध महात्माके पास गये। उन्होंने बताया, 'देखो, रोशनी तो दोनों

आँखमें आती है? तो वह कहाँसे आती है? एक तीसरा नेत्र है—तिल है, शिवनेत्र है। एक त्रिकोण बनाओ। एक रोशनी आयी वायीं आँखसे और एक रोशनी आयी दाहिनी आँखसे। दोनों एक जगहसे निकली हैं। दोनोंके बीचमें नाप लो और उतनी बड़ी लकीर ऊपरकी ओर ले जाओ। तो त्रिकोणका जो एक सिरा है, दोनों आँखमें-से रोशनी निकलकर जहाँ मिलती है वहाँ है। तो यह एक त्रिपुटी बनती है। तुम वहाँ जाकर बैठो। कोई-कोई इसे तीसरा नेत्र—तिल—शिवनेत्र भी बोलते हैं। हमारे बैठनेकी जगह वहाँ है। वह रोशनी फिर दोनों कानमें, नाकमे, जीभमें, दिलमें आती है—वहाँ चलकर ऊपरकी ओर बैठो, जहाँसे वह रोशनी फूटकर शरीरमें फैलती है। ज्ञान नहीं फूटता। उसके आभास-ग्रहणकी नलियाँ माने रोशनी फूटती है।

तुम पहले देखो, दोनों आँख—दोनोंमें रोशनी कहाँसे आती है? वहाँ चलकर ऊपरकी ओर बैठो—बंकनाल है, उसके ऊपर तीसरा तिल भ्रमर-गुहा है।

जिसमें गन्ध है वह मिट्टी है। स्वाद है वहाँ पानी है। स्पर्श है वहाँ वायु है। शब्द है वहाँ आकाश है और रूप है वहाँ अग्नि है—तेज है। संकल्प-विकल्प है वहाँ मन है। विचार है वहाँ बुद्धि है। सब ज्ञानोंका जो ज्ञान है वह आत्मा है। जीवात्माका इस प्रकार निरूपण किया है—'**ज्ञानाधिकरणम् आत्मा**'।

अनुशीलन करना माने? जो जो है उसके पीछेसे रोशनी आ रही है, उसका अनुशीलन करो। यह है भक्ति—'**स्वस्वरूपानुसन्धानं भवित इत्यभिधीयते**'। अपने स्वरूपका अनुशीलन भक्ति है।

दूसरेके मतका भी आदर करना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं, व्यक्तिरूपसे नहीं, तत्त्वरूपसे आत्माका अनुसन्धान मत करो। कसौटीपर सोनेको कसो। सब अपने-अपनेको आप बोलते हैं। 'मैंने

स्वयं देखा,' 'उसने स्वयं कहा,' 'उसने स्वयं सोचा'। तो यह स्वयं क्या चीज है, जो तीनोंको जोड़ता है। मैं-तुम-वह अलग-अलग। यह खुदी नहीं, खुदा भी नहीं, इसका नाम है खुद। हर आत्मा—रूपकी अलग-अलग जो खासियत है उसकी खोज मत करो। वह तो अपने कामकी सुविधाके लिए है। हाथका काम पसन्द है तो बढ़ई बना दो, पाँवका काम पसन्द है तो डाक ढोनेवाला हरकारा बना दो। यदि योजना—नक्शा बनाना पसन्द करता है तो उसके विभागमें रख दो। सब खासियतको छोड़कर सब रूहोंमें जो एक तत्त्व है, उसे ढूँढो। सबकी खुदी-खुदाको मत ढूँढो, सबका खुद ढूँढो और वही चेतन-तत्त्व स्वयंप्रकाश तुम्हारा स्वयं है। इसको बोलते हैं स्वयम्; तो 'आत्म-तत्त्वानुसन्धानम्'। इस परिच्छिन्नमें जो अपरिच्छिन्न है, अनेकमें जो एक है, इस कतरामें जो दरिया है—सब कतरे-कतरे कतरे, विन्दु-विन्दु-विन्दु सिन्धु जो होता है, वह तो विन्दुओंका समूह होता है। इसीसे बौद्ध लोग उड़ा देते हैं कि सिन्धु-जैसी कोई चीज ही नहीं। यह तो प्रत्येक विन्दु विन्दुमें फिर फुहिया, सीकर और सीकर आसमानमें कुछ नहीं। सीकरमें जब कण नहीं तो विन्दु नहीं। तो विन्दुओंके समूहसे बना सिन्धु भी झूठा।

यह वह चीज नहीं है, यह तो सच्चिदानन्दघन अद्वैत-सिन्धु है। आत्मा-परमात्माका नहीं, आत्मा-परमात्मा दोनोंमें जो अद्वितीय तत्त्व है, उसके अनुसन्धानका नाम भक्ति है। यह तो बिलकुल उलटा हो गया न! माने हम तो विचार करने जा रहे हैं कि यह फूल क्या है? वे तो कहते हैं, यह फूल क्या है? यह कौन कहने जा रहा है? इसका विचार करो। 'कोऽहम्? मैं कौन हूँ? आत्मा कौन है? तो यह प्रतीप विचार—उलटा विचार हो गया। कबीरकी उलटबाँसी हो गयी!

**धारा अगमकी सतगुरु दई लखाय।**

ज्ञानकी ये पाँच धाराएँ बाहर जा रही हैं। ये सरस्वतीकी पाँच धाराएँ हैं। उन्हें उलटकर उस एक सरस्वतीकी धारामें ले जाकर मिलाओ! जहाँसे ये पाँचों निकलती हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिकी ये अलग-अलग धाराएँ ज्ञान कराती हैं। जरा देखो तो, ये पाँचों अलग-अलग धाराएँ कहाँसे निकलती हैं? जिधर ज्ञान जा रहा है उधर नहीं, गंगाके साथ मिलकर गंगा-सागर जाना नहीं, गंगाके साथ चलो और ग्लेशियरकी ओर चलो। तो जो ज्ञानकी धारा यह बह रही है, उसका ग्लेशियर कौन है? ठीक है, अब आपके दिलमें दिलचस्पी पैदा हुई है, अपनेको ढूँढनेके लिए?

**उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ॥ ३३ ॥**
**उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम्।**

किसको ढूँढ़नेके लिए चलें? **मेरा हीरा हेराय गयो कचरे में** तो पहले विवेक-वैराग्य, शम-दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान-इनमें भी वैराग्य और मुमुक्षा दोनों तीव्र हों और भक्ति हो ऐसी कि हम तो इन्हींके संग रहेंगे, हम तो मोक्ष प्राप्त करके रहेंगे—ऐसी होवे मोक्षकी भक्ति। हमको बन्धन पसन्द नहीं है, मोक्ष पसन्द है। तो भक्ति निष्ठावान् बनावेगी। ये साधन आ जायँ तबतक आत्मतत्त्वका जिज्ञासु–हमें बाहरवाली चीजें मालूम पड़ती हैं, जिसे मालूम पड़ती हैं वह नहीं मालूम पड़ता है। तब तो किसीकी मदद लेनी पड़ेगी।

किसकी मदद लें? गुरूपस्थिति। सामनेसे गुरुकी ओर आवें। पीछेसे नहीं। जैसे कोई पीछेसे आये और पाँव पकड़े तो जिसका पाँव पकड़े उसके गिरनेका डर रहता है कि नहीं? यदि सामनेवाला घूमकर देखे नहीं, तो पता भी न चले कि किसने प्रणाम किया? वह तो आगे देखता चला जायगा, नहीं तो आगे देखना बन्द हो

जायगा। वह घूमकर देखने लगेगा। आपको यह एक व्यवहारकी बात सुनायी। यदि सामनेवालेकी परिस्थितिको समझकर आप व्यवहार करते हैं तो आप व्यवहारमें निपुण हैं। नहीं तो आपका लिहाज करके लोग आपकी बात मान लेंगे, परन्तु आपके बारेमें उनका आइडिया अच्छा नहीं बनेगा। लोग कई बार आकर बात करते हैं। हम जा रहे होते हैं बाथरूम और वे बात करते जा रहे हैं और पूछ लेते हैं, "आपको पाँच मिनट अवकाश है न बात करनेके लिए? टेलिफोन पर पाँच तिनट बात करते हैं? यदि हमसे उन्हें प्रेम होता तो देख लेते कि हम क्या कर रहे हैं?

तुम तो देख नहीं रहे हो कि कहाँ कौन बैठा है? उगलते जा हो। हम उस बातका जवाब दे भी सकते हैं कि नहीं! व्यवहार-की सारी निपुणता इस बातमें है कि हम सामनेवालेकी परिस्थिति समझकर व्यवहार करें। यदि हम उसको ठीक न समझें और अपनी भडांस-बकवास केवल अपना मन पूरा करना है तो व्यव-हार करना नहीं आता है।

'उपसीदेत्' माने बिलकुल अभिमुख होकर गुरुके पास जाय। कल मैंने सुनाया था कि सम्भव है, आपका जाना हुआ ज्ञान, मानी हुई धारणाएँ ठीक न हों। यदि गुरुकी बात माननी ही नहीं है तो उसके पास जानेकी क्या जरूरत है?

वेदका कहना है 'विधिपूर्वक समित्पाणि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु-के पास जाना चाहिए। गुरुजीके घरमें होम होता है तो, रसोई होती है तो उसके लिए लकड़ी लेकर जाओ। बम्बईमें लकड़ी लेकर मत जाना। उपसीदेत् माने विधिपूर्वक उपपन्न होना। याद आगयी। वैसे तो मैं संन्यासी होनेके लिए ब्रह्मानन्दजी महाराजके पास दो-तीन-चार वर्ष पहले गया था। उन्होंने तब बता दिया था कि "जब खाओ, मूँग खाओ और ऐसे रहो, वैसे रहो।" फिर दो-तीन

वर्षके बाद एक बार रास्तेमें चलते-चलते पहुँच गया। कुम्भके मेलेमें मैंने साइन बोर्ड देखा तो न आव देखा न ताव, और उनसे कहा, 'अब मैं आ गया।' तो 'उपसन्न'का अर्थ यह होता है कि "मैं बन्धनसे मुक्ति पानेके लिए, संसारमें मुक्त होनेके लिए जडताकी पराधोनतासे छूटनेके लिए, मृत्युसे मुक्त होनेके लिए, परमानन्द प्राप्त करनेके लिए, तत्त्वज्ञान पानेके लिए अब मैं आ गया।" उपसीदेत्का अर्थ है, 'अब मैं आ गया।'

गुरु कैसा हो? 'प्राज्ञ'। 'ये तो पागलकी तरह रहते हैं, बेहोशीमें रहते हैं, संसारका भान नहीं होता है,'—ऐसे गुरुके पास जायं? यदि ज्ञान प्राप्त करना हो तो, पूजा, आदर सेवा और पुण्य करना हो, तो मस्तरामके पास जाओ। जो बेभान रहता हो, फकीरीमें रहता हो उसके पास भी जाना चाहिए और ज्ञान प्राप्त करना हो तो? आप 'विवेकचूडामणि'में देख लीजिए—

**उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञः यस्माद् बन्धविमोक्षणम्।** (३२)

प्राज्ञके पास जाय माने जिसकी बुद्धि होशहवासमें हो, ठीक ठिकाने हो। बोले, 'उन्हें तो होश ही नहीं है।' तो तुम जाकर मिठाई उनके मुँहमें ठूँस देना, सेवाका पुण्य लेकर आ जाना। यह मोक्ष किसीकी कृपासे मिलनेवाला नहीं है। यह तो तुम्हारी बुद्धिमें जो ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय करा सकेगा—शब्दके द्वारा ही केवल ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय होता है। यह है वेदान्त-सम्प्रदाय।

प्राज्ञ उसको कहते हैं जिसमें प्रज्ञा हो। संस्कृतमें प्रज्ञा' शब्दसे 'प्रज्ञावान्' अर्थमें 'प्राज्ञ' शब्द होता है। प्रज्ञा हो। मूरख गुरु यह नहीं समझ सकता है। उसकी सेवाका पुण्य बहुत होता है। अन्तःकरण शुद्धि होतो है। यह ठोक है। तत्त्वज्ञान तो प्राज्ञ देगा।

**यस्माद् बन्धविमोक्षणम्**—बन्धन मूर्खताके कारण है। जिसकी बुद्धि मूर्च्छित-बेहोश हो, वह मूर्ख है।

दुनियामें एक ही सिद्धान्त है। दूसरे लोग धर्म, योग, उपासना-में बुद्धिको मूर्च्छित करते हैं। यह बेहोश बुद्धिसे मिलनेवाली चीज नहीं हैं। होश-हवास माने जाग्रत् बुद्धि। दुनियाके किसी पथमें या मजहवमें बुद्धिका इतना आदर नहीं है। न ईसाईमें, न मुसलमा-नमें। क्योंकि भ्रमसे बन्धन है, ब्रह्मबुद्धिसे मोक्ष है। तो प्रज्ञावान् जब गुरु होगा तब प्रमाके द्वारा वह भ्रमको दूर करेगा।

अब, वह गुरु कैसा हो, इस पर विचार करते हैं।

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः॥ ३४॥
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्॥ ३५॥
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः॥ ३६॥
स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या॥ ३७॥

हे भगवान्! कृपा-कृपा-कृपा! करुणासे, कृपासे, दयासे हो जाय! तो ऐसे होनेवाला नहीं है। दया जब किसीपर आती है तब आकार धारण करके आती है। जैसे निराकार परमात्मा साकार अवतार धारणकर प्रकट होते हैं, ऐसी निराकार दया, करुणा, कृपा भी जीवनमें साकार होकर प्रकट होती है। प्रत्येक भावका एक आकार होता है।

गुरुकी कृपा, करुणा, अनुग्रह, दया यदि शब्दपर उपदेश बन-कर आवे और वृत्तिको ब्रह्माकार बनावे तब उसका नाम कृपा, करुणा, दया! सारे दुःखोंसे छुड़ावे और वह कृपा बिचारी यदि बाँझ ही बनी रहे तो उससे वंशपरम्परा—ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। कृपा वह है जो ज्ञान उत्पन्न करे। शास्त्रार्थके झगड़ेमें भी न डाले। •

## : १७ :

### २०-६-७५

आदमीको जहाँ पहुँचाना हो, वहाँ न जाकर उलटा जा रहा हो—कोई आदमी मिले और बतावे, कि 'तुम्हें जिधर जाना चाहिए उधर नहीं जा रहे हो, उलटे जा रहे हो, पीछे लौट जाओ।'

मनुष्य ठीक रास्ते पर चले। अपने गलेमें हार हो और उधर-ढूँढ रहा हो तो कोई बता दे कि 'तुम्हारे गलेमें हार है।'

ऐसा भी होता है—कोई वर्णन करने लग जाय कि 'एक आदमी है, देखनेमें बहुत सुन्दर है, बोलनेमें बहुत मीठा है, सुशील, बुद्धिमान् और गुणवान् है।' अब वह सोचने लगा कि 'यह किसका वर्णन है' ? तो बता दिया कि 'वह तो तुम्हीं हो। हम तो तुम्हारा ही वर्णन कर रहे थे। ऐसे ही ये श्रुतियाँ है। शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि "नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त"—तो सोचते हैं कि 'यह कौन है ?' तो सोचते-सोचते कभी पार नहीं आयेगा। जब कोई बतायेगा कि जिसके बारेमें तुम सोच रहे हो कि 'वह ऐसा होता है—वह तो तुम्हीं हो, तब मनुष्यको मालूम पड़ेगा। स्वयं अपना आपा मनुष्यको नहीं दीखता है। जैसे आँखकी पुतली अपने आपको नहीं देख पाती, दूसरोंको को देख पाती है। वैसे यह जो 'मैं' है, 'मैं'के भीतर जो आत्मा है, वह सबको तो देख सकता है, स्वयंको नहीं देख सकता। तो सद्‌गुरुका यह काम है कि वह लखा दे कि 'वह तुम्हीं हो।'

जब सद्‌गुरुओंकी धाँधली मच गयी कि 'हम सद्‌गुरु,' 'हम सद्‌गुरु,' 'हम सद्‌गुरु'—जैसे राजनीतिक पार्टियोंमें होता है, 'हम नेता,' 'हम नेता,' 'हम नेता।' उनके लिए एक संविधान-संहिता माने विधि चाहिए कि 'सद्‌गुरु कौन ?' जो वेदशास्त्रके

अनुसार रास्ता बताता हो, वस्तुको लखाता हो, उसका नाम सद्गुरु 'ऊटपटांग नहीं।'

सद्गुरु कैसा होना चाहिए? श्रोत्रिय-वेदशास्त्र-विशुद्धबुद्धि। केवल पण्डित नहीं होना चाहिए। केवल पण्डिताईसे काम नहीं चलता, उसपर जितने प्रश्न, आक्षेप, शंका हों, उनका समाधान करनेमें समर्थ हो। वेदका पण्डित ही न हो, वेदके रहस्यको हृदयंगम करनेवाला हो!

दूसरी बात गुरु कैसा हो? पापी न हो, निष्पाप हो। कोई समझ ही नहीं सकता कि कौन पापी और कौन निष्पाप! यह तो ऐसी समझ और ऐसा लक्षण है कि कोई अपनी आँखसे देख ही न सके। आओ, हम बताते हैं।

निष्पापकी पहचान यह है कि 'मैं दुःखी हूँ' ऐसी संवित् उसे कभी न हो। भले शरीर सड़ रहा हो, खानेको न मिलता हो, उसके पास कपड़े न हों, कोई साथ चलनेवाला न हो, क्योंकि सब लोग अपने-अपने मनके अनुसार चलते हैं। वे अपनी बुद्धिके अनुसार सोचते हैं। तो कोई किसीके मनके अनुसार चले और बुद्धिके अनुसार सोचे यह तो आवश्यक नहीं है। आज दोनोंके मन-बुद्धि मिलते हैं कल न मिले ऐसा भी हो सकता है। तो यहाँ यह जानना है कि एक वृत्तिव्याप्ति होती है, एक फलव्याप्ति होती है। 'मैं दुःखी हूँ' यह फलव्याप्ति है। सद्गुरु वह है जिसके मनमें 'इस समय मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति नहीं उठती हो! लो, वृत्तिसे निश्चय कर लो! यह है निष्पापकी पहचान। दुःख पापका फल है।

यह हो सकता है कि उसमें पूर्व-पूर्वके पाप हों और उसके शरीरमें दुःखके निमित्त आते हों। जीवनमें निमित्तसे कोई तत्त्वज्ञानी, सद्गुरु बीमार न पड़ता हो सो बात नहीं, बीमार तो पड़ता है। उसके घरमें चोरी भी हो सकती है। परन्तु बीमार पड़ने या

चोरी होनेसे, बिछुड़ जानेसे 'मैं दुःखी हूँ' इत्याकरक वृत्तिका उदय उसके चित्तमें नहीं हो सकता। दुःखका अभिमान नहीं हो सकता। दुःखका अभिमान होना पापोकी पहचान है। इस जन्ममें या पूर्व-जन्ममें कोई ऐसा पाप किया है कि बारम्बार 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा बोध होता रहता है। ये अपनेपर दुःखका अध्यारोप कर लेते हैं। दुःख पापकी पहचान है।

दूसरी बात—'आगे मैं पाप करूँ' यह वासना भी उसके भीतर नहीं रहती। पापका कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता, इसलिए कहा—**अवृजिनः**। सबसे बड़ा पाप-पापोंका पाप है—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माको अनित्य-अशुद्ध-अज्ञ अहंकारके साथ मिला देना। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और अपनेको अशुद्ध-अबुद्ध-अमुक्त-बद्ध अभिमानके साथ जोड़ देता है। अध्यास ही सबसे बड़ा पाप है। सब पापोंका बाप, सब पापोंकी जड़ क्या है? अपनेको किसी भी परिच्छिन्न पदार्थमें जोड़ देना। अपने आपको परिच्छिन्न पदार्थ-में जोड़ोगे तो राग-द्वेष होगा। अपने-परायेका भेद होगा। अपनेको किसी भी परिच्छिन्न पदार्थमें जोड़ोगे तो जन्मना-मरना होगा, कालमें कटोगे, आना-जाना होगा नरक-स्वर्गकी प्राप्ति होगी।

एक कतरेको जो स्वयं-प्रकाश चेतनमें मालूम पड़ रहा है, उसे अपना मैं मान लेना सबसे बड़ा पाप है। सद्‌गुरु-महात्मा कौन है? जो इस पापसे बच गया, पूर्व-पापका सम्बन्ध न हो, भविष्यमें पाप करनेकी वासना न हो। भविष्यमें पापकी जो फलवृत्ति आती है कि 'मैं दुःखी हूँ' वह न हो। यह निष्पापका लक्षण हुआ।

दूसरा लक्षण—'**श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः**'। काम माने कामना, स्त्री-पुरुषकी कामना नहीं। अप्राप्तरूपसे प्रतीत वस्तु-मात्रकी कामना। जो वस्तु हमको प्राप्त हो रही हो, वह हमको और मिले। इसका नाम पाप होता है और जो नहीं मिली है,

वह मिल जाय—इसका नाम काम है। मिली है वह और मिले यह लोभ है। 'जो बाधा डालेगा उसको तो मैं मार ही डालूँगा' यह क्रोध है। काम, लोभ और क्रोध। सद्गुरु वह है जिसमें वस्तु-मात्र, व्यक्तिमात्र, देशकी कामना, नहीं होती। हम हजार बरस जी जायँ' यह कालकी कामना है। 'हम स्वर्ग-वेकुण्ठ पहुँच जायें' यह वस्तुकी कामना है।

कामना रहे तो उसमें सद्गुरुकी हानि क्या है? वह अपनेको 'पूरा' नहीं समझता है। यह सद्गुरुकी हानि है। गुरु तो पूरा होना चाहिए, जिसमें अपनेको पूर्णताका अनुभव हो। पूरे गुरुका लक्षण क्या है? जो कामके ऊपर है। जिसको काम चोटपर चोट मारता है, प्रत्येक कामना आकर दिलको घायल करती है—पर वे अविकृत हो रहते हैं।

हमारे अन्तःकरणमें ये-ये वृत्तियाँ हैं, ये-ये वृत्तियाँ हमें चाहिए, ये-ये वृत्तियाँ नहीं हैं, यह कामना भी होती है। यह गुरुकी बात है, चेलेकी नहीं। चेलेको तो विवेक-वैराग्य हो रहा है। 'इन-इन विषयोंसे हमें वैराग्य हो रहा है और इन-इनमें हमारी आसक्ति है। 'इतना वैराग्य हो गया है, इतना छोड़ना है'—इस प्रकारका विचार जिज्ञासु करता है। परन्तु इस प्रकारकी वृत्ति या स्थितिकी कामना भी सद्गुरु 'पूरा' है तो उसमें नहीं है, क्योंकि इसकी अखण्डता-पूर्णतामें कुछ भी पानेकी वस्तु नहीं है। 'इतने भगवान् मिल गये, इतने बाकी हैं, हमें पाना है'—यह बात सद्गुरुमें नहीं हो सकती। पूरे गुरुका यही लक्षण है।

पहले हम कोई किताब पढ़ते थे, उसमें लिखा था—"गुरु पूरेकी यही पहचान है कि अब अन्य नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। कार्यका व्यतिरेक है कारणमें। कारणका अन्वय है कार्यमें और यह जो अन्वित-व्यतिरिक्त कार्य-कारणकी अवधि है; कार्य-कारण एक

ओर और अवधि एक ओर। अवधिका नाम ब्रह्म नहीं है। उस अवधिसे उपलक्षित तत्त्व-अवधि व्यतिरिक्त है और कार्य-कारण अवधिसे अन्वित है जिसमें न अन्वय है न व्यतिरेक है। ऐसा जो गुरु है—देश-काल-वस्तुमें अधूरा नहीं, बुद्धिमें अधूरा नहीं, दृश्य नहीं, कार्य नहीं, व्यष्टि नहीं, समष्टि नहीं।

'अवृजिनः' और 'अकामहतः' का अर्थ है, उसको चोट पहुँचानेवाली कोई कामना नहीं है'—'अरे, हमारे पास यह नहीं है।' हमने चप्पलके लिए लोगोंको रोते देखा है। 'अमुक कपड़ेसे मैच करनेवाली चप्पल नहीं है—चप्पलकी रस्सी नहीं है। चप्पल तो एक ही रहती है। जैसी साड़ी, उस रंगकी रस्सी लगा लेते हैं। इसमें किफायत पड़ती है। अरे, तुम्हारा दिल इतना अधूरा? छोटी-सी चीजको-जिसको हम फेंक सकते—लुटा सकते—दान कर सकते हैं, उस चीजके लिए रोना आता है? क्या मनुष्यका जीवन है? तो सद्गुरु कौन? जिसमें कामना आकर घायल न करती हो। 'अकामहतः' माने जिसका दिल घायल नहीं है।

यहाँ तो घायल दिलवाले लोग हैं। ऐसे लोग कि दिल टूट फूट गया। कहीं जाते हैं तो कहते हैं—'हमारा दिल तो वहीं टूट गया।' जिसका दिल घायल होता है, जो छटपटाते हैं, उनका सद्गुरुसे कोई सम्बन्ध नहीं। '**अकामहतो यो ब्रह्मवित्तम**।' और सद्गुरु कैसा होवे! हमने एक आदमीको देखा। दिल्लीमें जमुनाके उस पार वह रहता था। उसने बनायी थी एक गुफा और उसमें लगाता था समाधि। समय-समयपर बाहर निकलकर सिंहासनपर बैठता था। वह खुद ही बोलता था, 'अब सद्गुरुदेव सिंहासनपर विराजमान हो रहे हैं। पहले आप आरती कर लीजिए, तब उनके मुखड़ारूप बादलसे उपदेश-रूपी जलकी वर्षा होगी। 'आरती सद्गुरु देवकी कीजे'। ऐसे सद्गुरुदेव 'सद्गुरुदेव' नहीं होते। वह तो ब्रह्मवित्तम होना चाहिए।

ब्रह्मवित्तम। ब्रह्मणि उपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।

जब आपको गाने-बजाने-नाचने-कमर हिलानेमें मजा आ रहा है तो ब्रह्ममें अचल बैठनेमें आपको मजा कैसे आयेगा? आप स्वाद तो लेते हैं कमर हिलानेका। एक हाथ सिरपर, एक हाथ गया कमर पर एक इधर, एक उधर! नाचनेका आनन्द दूसरा है और ब्रह्मानन्द दूसरा है। एक चल है, एक अचल है। एक दैहिक है, एक आत्मिक है। आप साधन-भजनको हँसी-खेलकी, मजाककी वस्तु मत समझिये। सद्गुरु होता है 'ब्रह्मवित्तम'।

ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। उपनिषदोंमें इसके चार भेद किये गये हैं। 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। श्रुतिके मूलमें ये शब्द आते हैं—आत्मरतिः आत्मक्रीडः। ब्रह्मविद्, ब्रह्मवित्तर, ब्रह्मवित्तम–ये कौन हैं? गुरु। गुरुब्रह्मविद्वरीयान् होना चाहिए। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता भी वहाँ ब्रह्मज्ञानमें निष्ठा प्राप्त करनेके लिए वहाँ आवें। ब्रह्मवित्, ब्रह्मवित्तर, ब्रह्मवित्तम एक होता है ब्रह्मविद्। दो सौ ब्रह्मविदोंमें एक होता है ब्रह्मवित्तर। करोड़ोंमें एक होता है ब्रह्मवित्तम।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७·३)

अपने अन्तःकरणको सँवारकर—श्रृङ्गार करके उसे पहनना दूसरी चीज है और अपनेको शुद्ध स्वर्णके रूपमें कुन्दन—एकदम चमाचम अनुभव करना दूसरी चीज है। परन्तु ब्रह्मवित्तम कहनेसे भी सन्तुष्ट नहीं हुए।

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।

उपराम हो गये। संसारी लोग जो हैं—योगीलोग ब्रह्ममें रमते हैं माने अपने परमेश्वरमें। दो विभाग कर लो। एक न सोता है

और दूसरा न रमता है। तो क्या करता है ? दीख रही है दुनिया और यह दुनियासे उपराम होकर अधिष्ठान ब्रह्ममें विराजमान है। इनमें न लय है न रमण है, न शयन है। ब्रह्मण्युपरतः।

जो ब्रह्ममें सो जायगा माने लीन हो जायगा, वह आपको उपदेश करने कहाँसे आयेगा ? क्या करोगे ? गुरुजी महाराज समाधिमें हैं। हमारे एक गुरुजी थे। हम तो बनारसी हैं। किसीको भी गुरु कह देते हैं। आप लोगोंको भी गुरु कह दें। बनारसमें गुरु शब्द बहुत सस्ता है। 'हे गुरु, जरा पनहियाँ उठाके ले आवा त ?' पनहियाँ माने जूता। पर आप लोगोंको हम नहीं कहेंगे।

यदि सो जायगा माने समाधिस्थ हो जायगा तो उपदेश कैसे करेगा ? और संसारीकी तरह रमेगा तो कहेगा, अभी हमें फुरसत नहीं है। हम तो अपने प्यारेके साथ खेल रहे हैं। रम गया वह भी ! सो गया वह भी, उपदेशमें रुचि न लेगा। तो कैसा हो ? उपराम हो ! जागता हो और कहीं रमता न हो ! शान्त हो !

शिष्यजी आये ! यह शिष्यजीका काम है कि गुरुको बुलवा ले वैसे तो बोलता नहीं। एकके पास मैं गया। चार महीनेसे मौन थे। जिस खंडहरमें वे रहते थे, वहाँ चार-चार अंगुल धूल थी, झाड़ू लगी ही न थी और ततैया उड़ रही थीं। छत्ता लगा रखा था जगह-जगह। मैंने कहा--मैं तो अपना घर-द्वार छोड़कर आपके सत्संगके लिए आया और आप तो मौनी बाबा बने बैठे हैं। वे हँसने लगे तो मैंने कहा—यह धूल लगी है। मैं झाड़ू लगाकर यह जगह साफ कर दूँ। और किरासिनका तेल ले आता हूँ। आग लगाकर भगा देता हूँ ततैया। ये छत्ता लगाकर पड़े हैं। 'उस समय मेरी उम्र १८-१९ वर्षकी थी। जवानी बोलती थी। वे बोले— 'नहीं नहीं, ऐसा नहीं। मैं तो समझता हूँ, यह मेरा घर नहीं है। मैं यहाँ आकर रहने लग गया हूँ और ये ततैया समझते हैं, 'यह

हमारा घर है, हमने बनाया है; तो उनकी ममता ज्यादा है, हमारी कम ! मैं निकल जाऊँगा, उन्हें क्यों निकालते हो ? बातचीत शुरू हो गयी, तो मैं वहाँ तीन महीने रहा। सत्संग करता रहा। वे यदि समाधिमें होते तो मेरी बात नहीं सुनते। और यदि प्यारेको गोदमें लेकर रमते होते तो भी मेरी बात नहीं सुनते। Disturb मत करना, मैं माला फेर रहा हूँ और तुम बीचमें बात करने आ गये ? दिन-रात माला फेरते हैं माने प्रिया-प्रियतमके चिन्तनमें लगे हैं। चेला बनानेकी वासना हो तो बात दूसरी है, नहीं तो क्या काम है उनको ? न कोई साधन-भजन करना है, न स्थिति प्राप्त करनी है ! कोई प्रयोजन नहीं है। निष्प्रयोजन बैठे हुए हैं। सारे प्रयोजन पूरे हो गये। यह कैसा ?

**निरिन्धन इवानलः। शान्तः।**

आग तो है, पर शान्त। इन्धन नहीं है, लकड़ी, कोयला, उपले खतम हो गये। सब जल गया। धुआँ बिलकुल नहीं निकलता। राखमें ढँकी जलती आग है। यदि चेला फूँककर आग जला दे तब तो काम निकल जाय। यदि चेला कहे कि 'अपने आप ही जलो' तो वह तो अपने आप बुझ गया न ! यह शिष्यकी जिज्ञासा-मुमुक्षा है कि वह बुझती आगको जिसमें इन्धन, धुआँ नहीं है, उसे भी प्रज्वलित करके प्रकाश कर ले और तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ले। इस अर्थमें वह शान्त होता है।

हमारे पास बहुत लोग मन्त्र लेने आते हैं। हम उनको पूछते हैं, 'तुम्हें राम पसन्द है कि कृष्ण !' तो वे कहते हैं, 'महाराज, हमको तो सब पसन्द है। आपकी जो पसन्द हो वह बता दीजिए।' वे तो निर्वासन हो गये। उनके मनमें तो कोई इच्छा ही नहीं है। अब वासना रही तो हमारी रही !

हम बोले 'कड-कड-कड-कड करो !' तो कहा—'अरे महाराज

हमें भगवान्‌का नाम बताइये।' तो तुम्हारी प्रीति 'कड-कड-कड-कड' करनेमें नहीं है न ? भगवान्‌का नाम लेने में है।

दूसरी बात—'शान्त हो!' शान्त माने उसकी वृत्तिको विषयकी जरूरत न हो। उसकी वृत्तिमें कोई विषय आवे और वृत्ति प्रज्वलित हो, सो बात नहीं है। वह **'स्वप्रकाशे चिदात्मनि ब्रह्मणि रमते'**। हम स्वप्रकाश, चिदात्मक, ब्रह्ममें बैठे हुए हैं, ढोलक बज सकती है। है कि नहीं? परन्तु अपने आप हे ढोलक जी! बजो तो। तो वह अपने आप नहीं बजती। उसे बजाना पड़ता है।' 'हे सद्‌गुरुजी! आप अपने आप उपदेश दे दो!' नहीं बाबा, हमारे तो तुम बद्ध रहो या मुक्त रहो, हमें तो कोई कल्पना ही नहीं है तुम्हारे बद्ध होनेकी। हम तो जानते हैं कि तुम मुक्त ही हो! तुम्हारी कल्पना ही है बद्ध रहनेकी।

हमारी कल्पना तो है मुक्त रहनेकी। हम तो जानते हैं, ऐसे रहो या वसे रहो, तुम्हारे मरनेका, पुनर्जन्मका, स्वर्ग-नरकमें जानेका, उत्थान-पतनका हमें डर नहीं है। हमें तुम्हारे लिए कुछ बोलनेकी जरूरत नहीं है।

लोग बोलते हैं—'नहीं नहीं, महाराज, हम गिरे! हमें बचाइए तब हमें बोलनेकी ज़रूरत है कि 'तुम गिरते नहीं।' जब तुम कहो कि 'हम दुःखी हैं' तब हमें बोलनेकी ज़रूरत है कि—'तुम दुःखी नहीं हो।' 'अरे महाराज, हम जन्म-मरणके चक्करमें फंसे हैं, हमें बचाइये।' ऐसा तुम कहो तब हमें बोलनेकी ज़रूरत है कि 'अरे, ना ना तेरे स्वरूपमें यह कुछ नहीं है।' ढोलक बजानेसे बजता है, वीणा छेड़नेसे बजती है। ऐसे तत्त्वज्ञानी सद्‌गुरु होते हैं।

**अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्॥ ३५॥**
**तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।**
**प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः॥ ३६॥**

गुरु कैसा हो ? बताते हैं, 'दयाका समुद्र है।' समुद्रमें ज्वार आता है। अहैतुक आता है ? नहीं, सहैतुक--वजहसे आता है। क्या वजह है ? पूर्ण चन्द्रमाका जो सान्निध्य है उसीसे समुद्र छलकता है। बोले—'गुरुजी महाराजके शरीरमें ज्ञान छलकता है।' बोलकर नहीं, उनकी आँख, चमड़ी, हाथ-पाँवसे ज्ञान छलकता है। दयाके समुद्र हैं। वह दया किसी वजहसे नहीं है, सहज है। दुःखियोंको देखते होंगे और उनपर दया करते होंगे कि ये दुःखी हैं।' ना-ना दुःखियोंपर दया करनेवाले समाजसेवी लोग दूसरे होते हैं। चलो, यह दुःखी है, इसपर दया करो, यह दुःखी है, इसपर दया करो।

जो दूसरोंपर दया करते हैं वे फिर दूसरोंसे दया लेने जाते हैं। हम फक्कड़ोंकी बात सुना रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक सन्तके पास गये। बातचीत हुई। उन सन्तके ज्ञानको देख करके गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर आश्चर्यचकित हो गये कि इस जंगलमें पेड़के नीचे इतना बड़ा ज्ञान निवास करता है ? बोले—'महाराज, आप चलिये शान्ति-निकेतनमें निवास करनेके लिए। वहाँ लाखों आदमी हैं। हम सबको मालूम करा देंगे। सब आपके पास आयेंगे।' वे बोले—'कुआँ प्यासेके पास नहीं जाता, प्यासा कुएँके पास जाता है। हम जाकर बाजारू लोगोंकी भीड़ इकट्ठा करें ? कोई भक्ति कर रहा है, कोई बोल रहा है ! हम उनके पास जाकर क्या करें ? जिसे इच्छा होगी वह हमारे पास आयेगा।'

तो फिर सन्तकी अहैतुकी दया क्या है ? फिर ज्यों-की-त्यों-अपरित्यागलक्षणा उनकी दया होती है। वे किसीके बारेमें यह ख्याल नहीं करते कि आत्मासे अलग कोई सत्य है। किसीको छेड़ते नहीं, क्योंकि आत्माके सत्यके रूपमें सब हैं। 'हे मच्छर, हे चिड़िया, तुम भी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो ! कोई बन्धन नहीं है ! जो मैं हूँ सो ही तुम हो ! ये आलतू-फालतू लोग समझते नहीं।

**इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तते।**

तुम्हारे गाँवमें कोई सन्त नहीं है या तो तुम किसी सन्तका अनुगमन नहीं करते हो!

**अथैते विपरीता ते बुद्धिराचारर्वजिता।**

तुम्हारी बुद्धि ऐसी जो सदाचारसे च्युत हो गयी। हमारे एक बड़े फक्कड़ महापुरुष थे। हमारे गाँवके पास आये। जब वे भोजन करते तब उनसे बचे हुए दाल-चावलको हम आपसमें बाँटकर खा लेते। जाति-विरादरीके लोग ब्राह्मण--बड़ा पोथा पगड़ा बड़ा पण्डित लोग पाँच-सात-दस इकट्ठा होकर आये—'यह हमारा बालक ब्राह्मण है, पण्डित है, आपका जूठा खाते हैं। आप कौन हैं? बताइए न कौनसा दूध है आपका?' 'हमारी तरफ जाति पूछनी हो तो ऐसे पूछते हैं।'

बाबा बोले—'जो मच्छर है, जो मक्खी है, सो मैं हूँ! जो चिड़िया है सो मैं हूँ! एक बातकी ओर आपका ध्यान नहीं गया होगा। मैं खींचता हूँ! ध्यान देना। वे कहते हैं कि तुम्हार बालक मक्खीका जूठा खाता है कि नहीं खाता है! तुम्हारा बालक चिड़ियाका जूठा खाता है कि नहीं खाता है? मच्छरका जूठा खाता है कि नहीं? उनको जात-पाँतसे कोई मतलब नहीं। बादमें उन्होंने बता दिया कि वे वहींके ब्राह्मण थे, हमारी ही जातिके थे। परन्तु उन्होंने बता दिया कि 'मैं मक्खी हूँ, मच्छर हूँ, चिड़िया हूँ।' चिड़िया उच्छिष्ट-समन्वय करती है कि नहीं? एक थालीमें से दूसरी थालीमें गयी। आचारका लोप करनेके लिए हम यह बात नहीं कह रहे हैं। जब महात्मा मच्छर, मक्खी-चिड़ियासे भी अपनेको जुदा नहीं समझता है, अपना ही स्वरूप जानता है तो यह है अपरित्याग अर्थात् किसीको न छोड़ना। 'किसीको न छेड़ना'—यह है उसकी सबसे बड़ी दया।

**अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥ ३५ ॥**

अहंकार करे, अपना बड़प्पन दिखावे कि हमारी यह विद्या—साधना—श्रेष्ठता-बुद्धि ! तो 'यह तेरी बुद्धि अचार डालकर खा ।' आपको यह बोली तो कभी शहरमें सुननेको न मिलती होगी ! हम तो देहाती प्रोग्राम सुना रहे हैं। आप अपनी विद्या-बुद्धि-साधना श्रेष्ठताको अचार डालकर खाइए। आपके बड़प्पनसे हमें क्या लेना-देना है ? आप करोड़पति हैं तो उसमें-से कौन-सा हिस्सा आप हमें देंगे ? यह हम जानते हैं। समुद्रमें-से एक बूंद भी कोई देता हो न, तो अभिमान कर सकते हैं कि 'हमारे पास समुद्र है।' 'हम बड़े भारी आदमी हैं।' नहीं, सन्तसे कोई रिश्ता नहीं है।

**बन्धुः आनमताम् सताम्**—इसके दो अर्थ हैं—जो पूरी तरह झुक जाय, उनका नाम बन्धु है। जो नेक भी झुक जाय, उनके बन्धु हैं। 'आ' उपसर्ग-पूर्वक 'नम' है। अरे, आप तो साक्षात् ब्रह्म हैं। नमनका अर्थ है 'न मे इति' मेरा नहीं। अहिर्बुध्न्य संहितामें 'नमः' पदका यह अर्थ दिया है।

हम क्यों बोलें ? क्यों बात करें तुम्हारे साथ जब तुम अपनी मान्यताको बिलकुल छोड़नेको तैयार नहीं हो ? जमे रहोगे वहीं-के-वहीं। यह तो ऐसा ही हुआ कि एक आदमी मुगलसराय स्टेशनपर गया और स्टेशन-मास्टरसे पूछा—पटना जानेवाली गाड़ी कब जाती है ? गया जानेवाली गाड़ी कब जाती है ? बनारस और मिर्जापुर जानेवाली गाड़ियां कब जाती हैं ? उसने उसे सब बताया और फिर पूछा कि 'तुमको कहाँ जाना है ? टिकट लो ! तो वह बोला—'हमको तो रेलवे-लाइन पार करनो है।' जब तुमको उस रास्ते जाना ही नहीं है, तो मुझसे रास्ता क्यों पूछते हो ? क्यों परेशान करते हो ? **"बुद्धिरानमताम् सताम्"।**

**तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।**

ऐसे गुरुको भक्तिके द्वारा सिद्ध करे। आराध्यका अर्थ होता है—आराधनाके योग्य। हमारे गाँवमें तो लोग भूत-प्रेत, मन्त्र, यक्षिणी सिद्ध करते हैं। बहुत मालूम है इसके बारेमें कि कैसे सिद्धि होती है। गुरुको सिद्ध करना चाहिए अर्थात् अपने अनुकूल बनाना चाहिए।

यदि आपको अपनी ही वासना पूरी करनी है, तो तुम्हें गुरु नहीं, चेला चाहिए। एक नहीं, दस बना लो। कितने घूमते रहते हैं बेवकूफ दुनियामें। गाँजा पीनेवाले, शराब पीनेवाले हमारे गाँवमें आते हैं। ब्राह्मण लोग तो नहीं जाते, परन्तु छोटी जातिके लोग—चमार, तेली, कलवार हैं! कलवार तो अपनेको बहुत ऊँची जातिमें मानते हैं, परन्तु शराब पीनेवालेके अर्थमें चलता है, इसलिए बोलता हूँ। छोटी किस्मके लोग—हमारे गाँवमें हाथीपर चढ़कर एक साधु आता था। लेकिन हमारे दरवाजेपर कभी नहीं आता था। कँहार-कुम्हारके घरमें ठहरता था, चेला बनाता था मौजसे! सब किसी-न-किसीसे छोटा होता है और दुनियामें जहाँ कहीं जाओ, आपको चेला मिल जाता है। तो चेला बनाओ, गुरु काहेको बनाते हो?

**तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।**

भक्तिसे उसको सिद्ध करो। भक्ति तो हृदयकी वस्तु होती है। हाँ, उसको जरा बाहर ले आओ। प्रह्व माने नम्रता, विनय। अहंकारको छोड़ दो। विनयके साथ सेवा!

•

## : १८ :

२१-६-७५

पहले बताया कि गुरुकी आराधना करो। उसमें यह है कि केवल नमस्कार या केवल साधनासे काम नहीं चलता। गुरुकी आराधनाके लिए उसकी सेवा चाहिए। विनय और आश्रयके साथ सेवा भी हो। फिर यह नहीं कि जब उनका मन होगा, तब बता देंगे। भक्तिके सिद्धान्तमें तो यह ठीक है कि जब उनकी कृपा होगी तब बतलावेंगे; परन्तु ज्ञानके सिद्धान्तमें यह सोचना कि जब उनकी मरजी होगी तब बतलावेंगे। यह इन्तजार लापरवाहीकी सूचक है। जिसके मनमें तीव्र मुमुक्षा-जिज्ञासा होगी, उसका तो जाने बिना दिल फटने लगेगा? जिज्ञासाकी तीव्र वेदना होती है और वह वेदना जबतक उदय नहीं होती, तबतक ठीक-ठीक जिज्ञासा होती नहीं।

जब गुरु प्रसन्न हों, तब उनके पास जाकर हमको जो नहीं दीखता है, उसके बारेमें प्रश्न करना चाहिए। हमको जब मालूम है कि 'अमुक वस्तु है', 'मैं हूँ,'—गुरुका यह उपदेश नहीं है कि यह-मैं-तुम हो। यह तो आदमीकी अपनी जानकारी है कि मैं हूँ, मैं नहीं हूँ? नहीं यह जो अपना आत्मा है, उसके सम्बन्धमें जो

ज्ञातव्य है, वह अपना आपा है, और इसका होना सही है, पर दीखता नहीं, तो यह कैसा है ? 'हे महाराज ! यह आप हमें बताइये ।' यह प्रश्न हो गया ।

**'आत्मनः ज्ञातव्यं पृच्छेत्'**—'आत्मविषयकं ज्ञातव्यं प्रष्टव्यम्' अपने बारेमें पूछे कि 'मैं हूँ यह तो मालूम पड़ता है, परन्तु मैं कैसा हूँ, यह मालूम नहीं पड़ता । तो आप बताइये कि मैं क्या हूँ ?

इसके सम्बन्धमें आप चार बात तय कर लीजिए । हमने एक बत कही–वाद । फिर उसने एक बात कही, फिर हमने उसका खण्डन कर दिया, उसने हमारा खण्डन कर दिया । वाद·विवाद–जैसे दो वकील करते हैं । यह न्याय करनेमें मददगार होता है । अपने पक्षमें क्या-क्या युक्ति है ? समझनेवालेके पक्षमें क्या-क्या युक्ति है ? एकने एक पक्षकी युक्ति कही, दूसरेने दूसरे पक्षकी बात कही ! तो यह समान पक्षमें होता है । यह जो वादके द्वारा तत्त्वका निर्णय है, यह दोनों पक्षके समान होनेपर होता है ।

एक बात यह होती है कि हम अपनी बातका तो कुछ करने-वाले नहीं, आपकी बातका खण्डन करनेवाले हैं ! इससे तो कुछ नतीजा निकलनेवाला नहीं है । इसको वितण्डा बोलते हैं । यह तो इस वितण्डासे कुछ नहीं होता । न अपना पक्ष स्थापित होता है न दूसरेका खण्डित और बोलते जा रहे हैं । तो वाद, जल्प और वितण्डा तीनों शास्त्रार्थमें आते हैं; जहाँ वादी-प्रतिवादी आपस-में वाद-विवाद करते हैं, वहाँ आते हैं । जहाँ जिज्ञासु अपने पीड़ा-दायक अज्ञानको स्वीकार करके और उसके निवारणके लिए अपनेसे बड़े, गुरु या श्रद्धास्पदसे विनयसे प्रश्न करता है वहाँ वाद होता है ।

एक है वस्तु, परन्तु हम जानते नहीं कि वह कैसी है ? चीज है, परन्तु मालूम नहीं कि कैसी है ? तो उस पीड़ाके लिए ओषधिरूप

ज्ञानकी अर्थात् उत्तरकी अपेक्षा होती है। उसमें वाद-विवाद नहीं होता है। उसमें एक बात सुनते हैं। सुनकर उसको धारण करते हैं। कोई संशय हो तो अनुकूल मनन करते हैं। कोई ऐसा संशय आ जाय, जिसका हम निवारण नहीं कर सकते, तो जाकर उस संशयका निवारण करते हैं। पहले हम सुनते हैं, फिर मनन करते हैं। यह नहीं कि सुनते गये और काटते चले गये।

एक हमारे मित्र हैं। जब वे बात सुनते हैं तो अभी हमारे मुँहसे पूरी बात निकली भी नहीं और बोल उठते हैं—'बस-बस! मैं समझ गया। आप यह बताना चाहते हैं न? तो इसका उत्तर यह है!' अब हम गुरु बनकर समझावें कि वादी-प्रतिवादी होकर समझावें? वे तो समझनेके मूडमें ही नहीं हैं।

वादी-प्रतिवादीका शास्त्रर्थ और जल्प, विजल्प, वितण्डा करनेवालोंका शास्त्रार्थ दूसरा होता है और जिज्ञासुका तो वह प्रश्न है जो उसके हृदयको कुरेद रहा है। जैसे गलेमें प्यास लगती है, तो प्यास बुझानेके लिए जिज्ञासा होती है। यह है, पर मैं देख नहीं पा रहा हूँ कि क्या है?

**आत्मनः स्वयंसिद्धस्य स्वप्रकाशस्य विषयं यद् ज्ञातव्यं तद् पृच्छेत्।**

अपने सिद्ध स्वप्रकाश आत्माके बारेमें जो ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह पूछे। पूछनेकी भी विधि बतायी गयी है—आपने देखा, ज्ञानकी प्रक्रियामें—**तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**-(गीता)प्रणिपातका अर्थ है, अपनेको झुका दो। अर्थात् अपनेको छोटा समझकर पूछे। सेवासे प्रसन्न करके पूछे। उसमें तर्क-वितर्कके लिए स्थान नहीं है। वह तो ग्रहण, धारण, अनुभव करनेके लिए है।

जबतक रामनाम जप करनेमें, रूप-विषयका ध्यान करनेमें, अपनी धारणामें सन्तोष है, तबतक झूठमूठके प्रश्न नहीं करना

चाहिए। यह तत्त्वज्ञानमें वर्जित है। जब अपनी धारणा, जानकारी, मान्यतामें असन्तोष हो, तब केवल जिज्ञासा करनी चाहिए। जिज्ञासा माने जाननेकी इच्छा। मुमुक्षा अर्थात् मोक्षकी इच्छा। जिहासा माने त्यागनेकी इच्छा। परिजिहीषा माने परित्यागकी इच्छा। तो चाहिए पृच्छा। यह तीव्र होती है हृदयमें। पिपृच्छा माने पूछनेकी इच्छा। पृच्छा तब बनती है जब वह शब्दमें आरुढ हो।

**स्वामिन् नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।**
**माम् उद्धरात्मीय कटाक्ष-दृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥**
(३७)

हे स्वामी! जो अपनेको जान गया, उसे स्वामी कहते हैं। स्व + अम्। अम् धातु है गत्यर्थक। जो अपने पास पहुँच गया है! दूसरेके पास तो आप पहुँचे हैं; विलायत, विषय, मकानके पास तो आप पहुँचे हैं, राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्रीसे आप मिल आये हैं, परन्तु स्वामी कौन है। अपने पास किसकी पहुँच है?

'हे स्वामी! आपको नमस्कार है' माने मैं अहंकार और ममकार छोड़कर आपके शरणागत हूँ! क्यों? हम जानते हैं कि जो आपके सामने झुकता है वही आपकी कृपा पाता है। हमारे भगत लोग भी नम्रताका बहुत आदर करते हैं, झूठी नम्रताका भी वे आदर करते हैं, जो ऊपरसे बनायी जाती है।

गीतामें ज्ञानकी प्रक्रियामें बताया है कि—

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**

यह तो बहिरंग साधन है, अन्तरङ्ग नहीं है। अन्तरङ्ग क्या है?

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अचिरेणाधिगच्छति॥**

(गीता ४·३९)।

श्रद्धा हो, तत्पर हो, संयतेन्द्रिय हो, तीनों नहीं होगा तो ज्ञान न होगा। एक आदमी श्रद्धालु तो है, परन्तु उपदेशके अनुसार आचरण नहीं करता, तो उसे ज्ञान नहीं होगा। एक आदमी श्रद्धालु और तत्पर तो है, परन्तु उसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं तो उसे भी ज्ञान न होगा। सब कुछ बह जायगा। घड़ा फूटा हुआ है। अतः इन्द्रियाँ वशमें हों और तत्परता न हो, तब भी ज्ञान न होगा। इन्द्रियाँ वशमें हों, तत्परता हो परन्तु श्रद्धा न हो, तब भी ज्ञान न होगा। तीनों एक साथ रहते हैं—श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता। ये तीनों कभी अलग नहीं होते। ये अन्तरंग साधन हैं।

**तद्विद्धि प्राणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।**

इससे उपदेश मिलेगा। ज्ञानी लोग कहेंगे, यह तो श्रद्धालु है, इसे उपदेश करो।

अब तुम्हारा दिल टटोलनेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है। दिलमें श्रद्धा होगी, तत्परता होगी, जितेन्द्रियता होगी, तब ज्ञान होगा। ये तीन अन्तरंग और तीन बहिरंग हैं। गीतामें ज्ञान-प्राप्तिके लिए इन छह साधनोंका वर्णन है। हमें मालूम है जो झुकता है,

**न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसः खल्ववनतिः।**

जो परमेश्वरके सामने सिर झुकाता है. उसे भगवान् अपनेसे भी ऊपर उठाकर रख देता है और जो भगवान्‌के सामने बड़ा बनता है, उसे दबा देते हैं। हरिश्चन्द्र कहते हैं—'हरिचन्द नगद दमाद अभिमानी के।'

'कोई हमारे सामने अभिमान करता है तो हम उसके जमाई हैं।'-यह गाली है। पहले पण्डितोंके पास जाओ। उनसे शास्त्रार्थ करो। अपने अज्ञानको समझो, तब वह अज्ञान तुम्हें पीड़ा देगा। तब महात्माके पास जाओ। जबतक पण्डित लोग झापड़ नहीं मारेंगे, चपत नहीं लगावेंगे कि तुम इस सम्बन्धमें अनजान हो, जानकारीकी इच्छा प्रबल कैसे होगी? 'नतलोकबन्धो'—ज्ञानी किसका रिश्तेदार है? जो अभिमान छोड़कर अपनी शरणमें आया, उसका रिश्तेदार है।

**'कारुण्यसिन्धो**—करुणाका समुद्र है और हम संसारसागरमें गिरे हैं। संसारसागरकी तीन बातें हैं, नासमझी, कामना और कर्म। अविद्या तो बैठी है महारानीकी तरह, सबसे ऊँचे, सिंहासन पर। अपनेको नहीं जानती। अपनी स्वतःसिद्धता, अपनी स्वप्रकाशता, अपनी व्यापकताको नहीं जानते, इस कारण अपनेमें अपूर्णताका ज्ञान होता है। 'हमारे पास यह नहीं है, वह नहीं है और जो चीज नहीं है उसे पानेका प्रयास करते हैं। प्रयास करनेसे तो कामना और बढ़ेगी। कामना और प्रयास यह तो है संसारका कार्यरूप। यह भवाब्धिका कार्यरूप है। कामना और कर्म, कर्म और कामना। लहर किनारे आकर टकराई और लौटी। अविद्या संसार-सागरका जल है। मूल तत्त्व यही है अविद्या।

जल और जड़ एक ही है। इस जल माने 'जड़ताकी महान् राशिमें मैं पड़ गया हूँ।' और बस गिरना और उठना, गिरना और उठना। टकराना और लौटना—यह है कामना और कर्म। अविद्या, कामना, कर्म यही भवसागर है। मैं इसमें गिर पड़ा हूँ महाराज!

**स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ।**
**मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या॥३७॥**

आपकी कृपा दृष्टिसे ! आपको जलमें कूदना नहीं पड़ेगा, हाथसे उठाना नहीं पड़ेगा, आपको कुछ करना नहीं पड़ेगा। आपकी एक नजर हमको इससे बचा लेगी। आपके लिए अनायास है।

**ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या**

आपकी दृष्टि सीधी, सरल, ऋजु है! उसमें दावपेच नहीं है। यदि शिष्यके साथ भी गुरुको दावपेच करना पड़े समझानेके लिए तो क्या गुरु क्या चेला?

**गुरु लोभी सिष लालची, दोनों खेले दाव।**
**दोनों बीचहिं डूब मरे, जस पत्थरकी नाव॥**
**हरहिं शिष्य-धन, शोक न हरहीं।**
**ते गुरु घोर नरक महु परहीं॥**

सरलता होनी चाहिए और करुणा-सुधाकी दृष्टि होनी चाहिए।

**दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः।**
**भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यं यदहं न जाने॥३८॥**

जिसको मैं बुझा नहीं सकता ऐसी संसारकी दावाग्निसे मैं जल रहा हूँ। दुर्भाग्यकी आँधी और तूफान हमको इधरसे उधर घुमा रहे हैं। मैं डर गया हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ। मुझे मृत्युसे बचाइये।

**परिपाहि मृत्यो शरण्यमन्यं यदहं न जाने।**

मृत्युसे डर लग रहा है। अनजानमें ही लोग सोचते हैं कि जिन्दगी भरमें मैंने जो कुछ बनाया है, धनदौलत-मकान, भाई-बन्धु—हमारी सब रचना धरीकी धरी रह जायगी। अपनी रचना छूट जानेका डर लगता है। यदि कोई होशहवासमें अपनी रचना-

को छोड़ दे तो मौतका डर नहीं रहेगा। असलमें अपने मरनेका डर नहीं है, हमारी कमाई, हमारा मकान, हमारी बनाई इज्जत, बालबच्चे, घरबार ! राम-राम क्या होगा ? आतममृत्यु अनुभूत नहीं है, इसलिए उसका भय भी नहीं होगा। अपनी मौत कभी अनुभव की हुई नहीं है। जन्म-जन्मातरमें भी कभी अनुभव की हुई नहीं है, इसलिए उसका डर नहीं हो सकता।

डर किसका हो सकता है ? यही जो, अपनी बनायी गृहस्थी–हमारे माँ-बाप, बाल-बच्चे, पति-पत्नीका क्या होगा ? अरे, होगा क्या ? वह चीज पहले भी तुम्हारी नहीं थी, अपनी मानकर रोते-धोते रहे ! मृत्यु तो मधुर है। हम जानते हैं ! जिसके मनमें त्याग-वैराग्य, असंगता है, उनके लिए तो मृत्यु स्वरूप-स्थिति है। आभासमात्र जो दुनिया है, वह छूट गयी। बड़ी मीठी, परमानन्दमयी ! परन्तु जिन लोगोंने अपने आपको दूसरोंके साथ बाँध-जोड़ रखा है, उनको डर लगता है। तो आओ, मृत्युसे हमको छुड़ाओ !

शूर्पणखा आयी रामजीके पास कि हमसे व्याह कर लो। रामजीने कहा, 'और किसीके पास जाओ।' 'तुम लक्ष्मणजीके पास चली जाओ'। केवल चुटकी तो बजी न ? काम खतम ! लक्ष्मणने कहा, 'नहीं, नहीं हम तो सेवक हैं। राम हमारे मालिक हैं। उनके पास जाओ।' तो ऐसे जो भटकू लोग हैं यहाँ गये-वहाँ गये। उसमें भी अनन्यता चाहिए।

एक भगवान्के प्रति जैसी भक्तकी अनन्यता होती है, वैसे तत्त्वज्ञानमें गुरुके प्रति अनन्यता होती है। अन्याश्रयका परित्याग करना होता है।

**शरण्यमन्यं यदहं न जाने।**

क्योंकि, हे गुरुदेव, आपके सिवा अन्य किसीको नहीं जानता-मानता हूँ कि उसकी शरणमें जानेसे वह हमको मृत्युसे संसारसागरसे बचा ले। यह नहीं कि एक दलालसे काम न चला तो दूसरा दलाल।

**शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।**

**तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥ ३९॥**

कभी-कभी सकामभावसे लोग आते हैं तो हम उनको कहते हैं—'भाई हमको कोई सिद्धि-विद्धि नहीं आती। वह बड़ा भारी सिद्ध है, उसके पास जाओ।' यह भी देखा कि वह कहता है कि 'अच्छा, स्वामीजीने भेजा है न! परन्तु वह अपनेसे भी बड़ा सिद्ध बताता है। वह हमारा भी गुरु है। उनके पास चले जाओ।' अब तीन-चार जगह भटकनेके बाद उसे जो आशीर्वाद मिले जो अनुष्ठान हुआ, वह सब घपलेमें पड़ गया एकदम। छः जगह जाकर बेटेका वरदान माँग आये। अब हुआ तो सोचने लगे, 'किसके वरदानसे हुआ? किसकी भेंट-पूजा करें?' काम ही खतम हुआ। नहीं हुआ तो जाकर बोला, 'महाराज। तुमने आशीर्वाद दिया था न?' अरे भाई। तुम बीस जगह जाकर आशीर्वाद ले आये। फतेहपुरी तो पानी पीकर आये और उलाहना हमको देता है?

**शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।**

सन्त शान्त होते हैं और परम उदार होते हैं एव वसन्तके समान लोकहितका आचरण करते हैं। वसन्त जैसे सब वृक्षोंके फल-फूलसे भर देता है सन्त भी 'भीमभवार्णव' से पार चले जाते हैं और दूसरोंको भी पार उतारते हैं।

अयं स्वभावः—ये शिष्य जो गुरुजीसे बात कर रहे हैं क्योंकि दिल खिलनेके लिए भी कुछ बात होनी चाहिए। सच्ची ईमानदारीकी होनी चाहिए। यह तो महात्माओंका स्वतःसिद्ध स्वभाव है कि दूसरोंकी तकलीफ दूर हो जाय, उन्हें इधर-उधर भटकना न

पड़े। जब चन्द्रमाका उदय होता है, उसकी किरणें शीतल चांदनी बरसाती हैं, तो सूर्यका जो सन्ताप है, सारी धरती शान्त हो जाती है।

**अयं स्वभावः स्वत एव यत्परश्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।**
**सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कशप्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥४०॥**

**ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-**
**र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय।**
**सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो**
**धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥४१॥**

प्रभु! सींच दो हमारे संतप्त हृदयको। आपने ब्रह्मानन्द-रसानुभूतिमें-से ये बड़े पवित्र, शीतल, अमृत-वाक्यामृतका चयन किया है और यह आपकी वाणीके कलशसे बाहर निकलता है, हमारे लिए बड़ा सुखकर है।

**सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो**

हम संसारदहन-ज्वालासे सन्तप्त हैं। हमको सींच दीजिए। जिसे आपने एक बार आँखसे ही स्वीकार कर लिया कि तुम हमारे हो, आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षणमें अधिकारी बन गये, पात्र हो गये।

**कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।**

हम इस भवसागरसे कैसे पार पायेंगे। हमारी क्या गति है? इसके लिए क्या उपाय हैं? मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। कृपा करके आप मेरी रक्षा कीजिये और संसारदुःखका हरण कीजिये।

हमको यह बात कुछ दिनोंके बाद मालूम पड़ी। हम सोचते थे कि 'एक महात्माके पास जब हम साधना कर चुकेंगे, या

जितना हम समझ चुकेंगे, उसके बादकी बात हम किसीके पास जायेंगे तो वे बता देंगे' ऐसा हमारे दिलमें बहुत दिनतक था।

एक दिन हमको हमारे भीतरवाले गुरुने कहा कि 'यह जो तुम सामनेवालेसे अपेक्षा करते हो कि जितना तुम जान-सीख चुके हो उसे देखकर वह तुम्हें ब्रह्मज्ञानी मान ले फिर उपदेश करे; ब्रह्मज्ञानीको तो उपदेश करनेकी जरूरत ही नहीं। तब ? तुम जिसके पास जाओगे वह तुम्हें पहले ककहरेसे सिखाकर ही आगे बढ़ेगा। वह तो पूछेगा—'तुम सन्ध्या-वन्दन करते हो कि नहीं ? गायत्री-जप, अनुष्ठान करते हो कि नहीं ? कुछ ध्यान-धारणा, इष्टदेवकी आराधना करते हो कि नहीं ? जिसके पास तुम जाओगे, वह तुम्हारी योग्यताकी प्रथम जाँच करेगा। वह देखेगा कि कहाँ तुम्हें अलब्ध-भूमिकत्व—जिस भूमिकापर हम नहीं पहुँचते हैं, उसपर पहुँचे हैं ऐसा भ्रम हो गया है—अपना उत्कर्ष, श्रेष्ठता, बड़प्पन दिखानेमें दुनियामें सबको मजा आता है। तो यह साधनामें विघ्न है कि वह जहाँ नहीं पहुँचा है वहाँ अपनेको पहुँचा हुआ मान बैठा है। इसलिए किसी भी महात्माके पास जाते हैं तो वह हमारे स्तरको प्रारम्भसे लेते हैं जिससे हमारा मिथ्याभिमान कट जाय। जो गुरुकी गाली नहीं सह सकता, उसमें दुनियाकी गालीकी सहिष्णुता आवेगी ही नहीं। कभी सहिष्णु-तितिक्षु न होगा। आगे बढ़नेकी संभावना उसके जीवनमें रही ही नहीं कभी।

**कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।**
**जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥४२॥**

आप कृपा करके वह दीजिए। क्यों दें ? यह संसारकी जो बारम्बार चोट लगती है और दुःख होता है, उससे बचाइये।

तो तुम खुद क्यों नहीं बचते ? हमको यह मालूम है कि तुम

खुद क्यों नहीं बचते। तुम तो हमसे भी ज्यादा जानते हो ! हमें ही सिखाके जाओ ! इस बातका अनुभव होता है। मुझे हुआ है, इस लिए इसका दुःख मैं जानता हूँ :

मैं एक बार एक महात्माके पास गया था। वे प्रसिद्ध हैं। ईश्वर-कृपासे अभी भी हैं। मैं तो अपनेको मानता था ब्रह्मज्ञानी, उनके पास गया तो उन्होंने बताया, 'अभी तुम निदिध्यासन करो।' अच्छी बात बतायी उन्होंने ! निदिध्यासन और ध्यानमें फरक होता है। इसे वेदान्ती लोग जानते हैं। ध्यानमें वृत्तिकी स्थिरता है लक्ष्यमें। निदिध्यासनमें लक्ष्यको ग्रहण करनेकी चेष्टा है। क्रियाशील वृत्ति भ्रम-विपर्ययको निवृत्त करती है। ध्यानमें वृत्ति निष्क्रिय हो जाती है। तो विपर्ययकी निवृत्तिका समर्थ्य भी ध्यान में नहीं रहता।

'दिध्यासा' और 'ध्यान' में फरक है। भक्तिसिद्धान्तमें वृत्ति मान्य है, समाधि नहीं। यदि हमारी वृत्ति निष्क्रिय हो गयी तो भगवद्-रसका अनुभव ही नहीं होगा। भगवद्-रसका अनुभव करने के लिए वृत्ति चाहिए। वेदान्तमें भ्रमकी निवृत्तिके लिए 'प्रमा' रूप वृत्ति चाहिए और जहाँ वृत्ति शान्त हो जाती है, वहां भ्रम-अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, केवल विक्षेपकी निवृत्ति हो जाती है।

ध्यान केवल विक्षेपका निवर्तक है। वृत्ति भ्रम-विपर्ययकी निवर्तक है। वृत्ति आवरणकी भञ्जक है—भ्रम-विपर्यय-आवरण-निवर्तक है। जो हटाना है वह निदिध्यासन हटायेगा। इसीसे अनात्माकार वृत्तिका तिरस्कार करके आत्माकार वृत्तिका प्रवाह 'निदिध्यासन' है। 'एकाग्रता' और 'स्थिरता' का नाम निदिध्यासन नहीं है। जब Force में पानी आता है तो वह मैलको फेंक देता है और यदि पानी शान्त हो तो मैल नीचे बैठ जायगी, हिलेगा तो ऊपर आ

जायगी। ध्यानमें मैल नीचे बैठ जाती है। ध्यानसे उठने पर वह मैल ऊपर आ जाती है। निदिध्यासन Force है, ध्यानमें Force नहीं है। वह तो निष्क्रिय है। मलिनताको दूर करनेके लिए वृत्तिमें बल चाहिए। सबल वृत्ति मलिनताको दूर करती है।

**तथा वदन्तं शरणागतं स्वं संसारदावानलतापतप्तम्।**
**निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्ट्या दद्यादभीति सहसा महात्मा ॥ ४३ ॥**

जब साधक शरणागति करता है और इस प्रकार विनय करता है—मन ही मन शरणागति हो सो नहीं, उसमें तो दोष आता है। वह शरणागति शब्दोंमें भी आनी चाहिए। शरणागतिको रूप-आकार मिलना चाहिए, समसताका आकार मिलना चाहिए, तो बोलना चाहिए कि 'मैं शरणागत हूँ।' 'श्रीकृष्ण, तवास्मि !' 'हे श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारा हूँ।' जैसे मुँहसे बोलते हैं, वैसे 'हे गुरुदेव ! तवास्मि।' 'मैं तुम्हारा हूँ' और तुम्हारे सिवा दूसरे किसीको नहीं मानता हूँ।

एक शरणागतिकी बात आपको सुनाता हूँ—

'हमारी बुद्धि इससे आगे नहीं चलती, समाप्त हो गयी। हमारी युक्ति, उपाय समाप्त हो गये।' **नान्यत् किञ्चित् विजानामि त्वमेव शरणं मम** 'मैं और कुछ भी नहीं जानता, मैं तुम्हारी शरणमें हूँ।'

आप इतना दुःखी अपनेको मान लेते हैं ? कहाँ है दुःख ? क्यों तुम अपनेको इतना दुःखी मानते हो ? आपको सुनावें ? बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने दुःखका अनुसन्धान किया। दुःखमें वजन, लम्बाई-चौड़ाई, उमर—कुछ भी नहीं है। शकल-सूरत लाल-काली-पीली नहीं है। दुःखका फल नहीं। 'मैं दुःखी हूँ' इस अभिमानको छोड़कर 'दुःख' नामकी कोई वस्तु नहीं है। मैंने जिसको दुःख मान लिया

वह दुःख है। मैंने जिसको अपने साथ लगा लिया वह दुःख है। लोग चिढ़ते हैं, जलते बहुत हैं, परन्तु दुःख तो अपनी मान्यता है। यह तो 'आ बैल मुझे मार।', 'आ दुःख मुझे लग जा।', 'मैं दुःखी हूँ।'

**विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे**
**मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे।**
**प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय**
**तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥ ४४ ॥**

गुरुजी पहले क्या बोलते हैं?—'बेटा, मा भैः।' वेदान्तका फल यहींसे शुरू होता है। वेदान्तका फल भी है—**अभयं वै जनक प्राप्तोसि** (वृहदा० ४-२-४)। यह नहीं कि दुनियामें संयोग-वियोग नहीं है, आना-जाना नहीं है, शरीर छूटना नहीं है। वह सब है, पर निर्भय हो जाओ। हे जनक! **अभयं प्रतिष्ठां विन्दसे**। अभय हो जाओ।

एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानरूप महान् वैदुष्यकी प्राप्ति हो जायगा। हमारे प्रवचनके साथ 'रहस्य' शब्द छपा है। रहस्य खुपिया बात। 'रहस्यमय' बोलते हैं न? आपको एक बहुत खुपिया-बात बतावेंगे।

**दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ॥ ४३ ॥**

एक खुपिया बात—'यदि ज्ञानी पुरुष ध्यान करेगा तो वह 'मैं', के रूपमें आ सकती है। चाहे राम, कृष्ण, शिव, विष्णु हो, वह बिलकुल दृश्यको अपना स्वरूप समझेगा, तादात्म्यापन्न हो जायगा। रहस्य यह है कि ज्ञानी पुरुष किसीका भी ध्यान करेगा तो प्रत्यगात्मासे अभिन्न रूपमें ही ध्यान करेगा, नहीं तो ध्यान कर ही नहीं सकता। चाहे देवी-देवता हो, सखी-सखा हो! राम-

कृष्ण हो ! शिव-विष्णु हो ! वह अपने अन्दर अपना दृश्य, अपनी भावना, अपना रूप पृथक् रूपसे स्थापन करनेमें असमर्थ है। है ही नहीं सामर्थ्य ! 'अहं विष्णुः', 'अहं शिवः' के रूपमें ध्यान होगा।

दूसरी बात—यदि किसी भी आकारका ध्यान दो मिनट अचल हो जाय तो आकार नहीं रहेगा, केवल ज्ञान रहेगा। क्योंकि आकार तो फिल्म है पर्देपर जैसे फिल्म चलती रहती है। 'ध्यान' तो पर्दे पर फिल्म है—नया-नया हिलता हुआ ! एक दृश्यको आप यदि पर्देपर लगातार रखना चाहें तो नहीं रह सकता ! रोक लिया जाय तो पर्दा ही रहेगा, और कुछ नहीं। नया-नया निकलता रहे तो दीखता रहे। यदि ध्यान अचल हो जाय तो आकृति नहीं रहेगी। केवल ज्ञान रहेगा।

**दद्याद् अभीति सहसा महात्मा**—महात्माका पहला काम है कि वह जिज्ञासुको अभिधान करे। दद्यात् अभयम्। यह रहस्य तो आपको पहलेसे ही मालूम होगा—रहस्य नहीं होगा। क्या ? कि संसारमें जितने दुःख हैं ये दुःख नहीं हैं, भय है। मरना दुःख नहीं है, मरनेका भय है, क्योंकि मरना किसने देखा है ? राम-राम, हम मर जायेंगे, 'यह बिछुड़ जायगा' यह दुःख है। 'टी०बी० न हो जाय, यह दुःख 'यदि खाँसी आयी, बढ़ न जाय' यह दुःख है। कभी हाँफने लगे तो 'दमा न हो जाय' यह दुःख है। डाक्टरसे आपरेशन करवाना है तो 'हे भगवान्, क्या होगा' यह भय है ! आपरेशनका दुःख थोड़े ही है पहले ?

असलमें दुःख जो है, वह एक प्रकारका भय है। शोक भी दुःख है, परन्तु फिर ऐसा शोक न आवे, इसके लिए भय ही है। 'यह हमारी बनी-बनायी दुनिया छूट न जाय'—यह क्या ? यह भी भय है। 'यह न हो जाय'। तो, जिस अभय पदकी प्राप्ति हो गयी हर हालतमें निर्भय हो गया। निर्भयता ही परमानन्द है।

यदि कुछ हो जाय तब ? कहोगे कि 'मैं बच गया', तो सर्वत्र सन्तोषका कारण है और सर्वत्र भयका कारण है। देखना यह है कि आप किस पक्षमें जा रहे हैं ?' अरे, घरमें यह आदमी नहीं रहेगा, चला जायगा तो कैसे जीयेंगे ?' और उसके चले जानेके बाद भी जीते हैं ! असलमें मनुष्यके मनमें जो भय है, वह मानसिक है। इस भयसे अभय बनानेवाला जो है, वही गुरु है, वही अपना सबसे बड़ा हितैषी है।

**अभयं प्रतिष्ठां विन्दते।** असलमें सबसे बड़ी प्रतिष्ठा अभय ही है। जो निर्भय है, वह अपने स्वरूपमें पक्का है, प्रतिष्ठित है और जो डरपोक है, वह तो डरकर कहीं इधर भागेगा, उधर भागेगा। उस आश्रयसे काम न चलेगा, तो यहाँ आओ, यहीं नहीं तो वहाँ ! 'बड़ी गड़बड़ है यहाँ, हम तो यहाँ आ गये, फिर भगो !'

हमको मृत्युका भय था कि—जब हम छोटे ही थे, चौदह-पन्द्रह वर्षकी उमरमें हमें मालूम हो गया था कि हमारी कुंडली देखकर ज्योतिषियोंने कह दिया था कि उन्नीस वर्षसे अधिक हमारी आयु नहीं है। ब्याह हो गया था कि शायद उन्नीस वर्षके पहले हमारा वंश चल जाय। हमारे मरनेकी उतनी फिकर नहीं थी जितनी वंश चल जाय उसकी फिकर थी। बड़ा डर था कि 'हाय-हाय, मैं मर जाऊँगा।' जब महात्माओंकी संगति मिली, उन्होंने कहा, 'भले हम मौतको नहीं टाल सकते, यह बात सच्ची है, पर हम मौतके भयको टाल सकते हैं। मनमें हमारे गलत-सलत बातें बैठ गयी हैं, उनको निकाल देना महात्माका काम है।

**दद्यादभीतिं सहसा महात्मा।**

**अभयं**—सहसाका यह अर्थ नहीं है कि पहले ध्यान करके देख ले कि इसे ज्ञान होगा कि नहीं, कल्याण होगा कि नहीं, मोक्ष

होगा कि नहीं। यह सब सोच-विचारके न कहे कि 'निर्भय हो जाओ'। बिना सोचे-विचारे ही सिरपर हाथ रख दिया कि 'मा भैः मा भैः।' मत डरो, मत डरो। कोई डर नहीं है। मुँहसे यही निकलना चाहिए। मंगल! अशोक!

**मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे।**
**प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥ ४४ ॥**

शिष्य होना चाहिए शरणागत यह एक बात! उसके मनमें होनी चाहिए 'मोक्षकी इच्छा'—यह दूसरी बात! और तीसरे वह आज्ञाकारी होना चाहिए! ये खुचर निकालनेवाले लोग हैं न, 'न तु न च।' वे तो डाक्टरकी दवा भी तब करना चाहते हैं जब उनके मनमें यह आ जाय कि यह दवा किस-किस नसमें जायगी, क्या-क्या करेगी? समझदारीका भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। थोड़ा-थोड़ा दूसरे समझदारोंपर भी छोड़ देना चाहिए। (१) सद्गुरुकी शरणमें हो, (२) मुमुक्ष हो, (३) आज्ञाकारी हो, और (४) प्रशान्त चित्त हो। यह नहीं कि यह करना है, वह करना है। यहाँ जाना है, वहाँ जाना है। काम-क्रोध आदि दोष मनमें कम हों, तो ऐसे शिष्यके प्रति तत्त्वका उपदेश करना।

**श्रीगुरुरुवाच—मा भैष्ट विद्वंस्तवनास्त्यपायः**
**संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः ।**
**येनैव याता यतयोऽस्य पारं**
**तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥ ४५ ॥**

'अरे, तुम बड़े समझदार हो!' यह नहीं कि 'हट्-हट् तुम क्या समझते हो?' ऐसे नहीं बोलना चाहिए। गुरु जानता है कि 'जो मैं हूँ, वही यह है।' चेला जानता है कि 'मैं दूसरा हूँ, छोटा हूँ, गुरुजी दूसरे हैं।' एक महात्मा थे। उनसे कोई पूछे, 'महाराज,

आप अमृतसरवाले सरदारजीको जानते हैं !' बोले, 'हाँ हाँ !' 'वे कैसे हैं, महाराज ?' अरे, वह तो मैं ही हूँ !' 'महाराज, उनका नाम क्या है, 'जो साँवरे-साँवरे हैं !' बाबा—'हम नाम-रूपको नहीं जानते। नाम-रूपमें हमारी आस्था नहीं है।' महाराज, आप राधारानीको और उनके प्रेमको जानते हैं ?' बोले —'हाँ हाँ, क्यों नहीं ? राधारानीको और उनके प्रेमको नहीं जानेंगे !' 'वह क्या है महाराज !' 'वह तो मैं ही हूँ।'

ईश्वरकी कृपासे महात्मा जो है वह एकदम निर्भय है। वे हैं कि 'जो मैं हूँ, वही यह है।' पूछनेवाले जो हैं—एक सज्जन गये महात्माके पास ! वे पढ़े-लिखे नहीं थे, समझदार नहीं थे। उनसे काई प्रश्न किया तो बोले, 'तुम इस प्रश्नके अधिकारी नहीं हो।' माने, इस प्रश्नके उत्तरके योग्य नहीं हो ! अरे, ऐसा कौन है जो अपने घरमें घुसनेके योग्य नहीं है ? आप उसे इस ढंगसे बताइये कि वह इसे समझनेमें योग्य होवे। संस्कृतमें एक कहावत है—

**वक्तुरेव हि तद्जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्धति।**

यदि बात श्रोताकी समझमें नहीं आती है तो वह वक्ताकी ही मूर्खता है बच्चेको समझाना है तो बच्चा समझ सके ऐसे समझाइये। विद्वान् हो, तो विद्वान्के ढंगसे समझाइये, वैद्य हो तो आयुर्वेदकी भाषामें और वैज्ञानिक हो तो विज्ञानकी भाषामें ! तुम अपने समझनेके लिए थोड़े बोलते हो ? उसको समझानेके लिए बोलते हो न ? भाषाका प्रयोग होता है, अपने हृदयका ज्ञान और भाव दूसरेके हृदयमें पहुँचानेके लिए—'वस्तुरेव हि तद् जाड्यम्'— यह संस्कृतकी लोकोक्ति है—वक्ताकी जडता है, तुम योग्य हो !

यहाँतक वर्णन आता है कि विरोचन और इन्द्र दोनों प्रजापतिके पास जाकर बोले—'हम समझ गये।' 'हम समझ गये कि

ब्रह्म क्या है ?' तब प्रजापति यह नहीं बोले कि तुम नहीं समझे। चुप रहे। तो फिर विरोचनको तो यह अभिमान हो गया कि 'मैं ब्रह्म समझ गया' और इन्द्रने जाकर कहा,—'विचार किया तो मैं नहीं समझा।' और फिर पूछने-विचारने लगा कि 'दादाजी, तुमने यह क्यों नहीं कहा कि 'तुम नहीं समझे !' ब्रह्माजी बोले—

**सभामध्ये मानभंगाद् बुद्धिभ्रंशो भवेत् ध्रुवम्।**

यदि मैं भरी सभामें कह देता कि 'तेरी समझमें नहीं आया' तो तेरा मानभंग हो जाता। अभिमान हो जाता, इसलिए मैंने भरी सभामें नहीं कहा। तुमने मनन किया, विचार किया और खुद कहा कि 'मेरी समझमें नहीं आया' तो बहुत बढ़िया हुआ। और सुनो, यह जो मैंने पंक्ति बोली वह 'अनुभूति-प्रकाश'में विद्यारण्य स्वामीने इसी प्रसंगमें लिखी है। तो भाई—'विद्वन्', यह अपने जिज्ञासु शिष्यके लिए सम्बोधन है कि 'तुम विद्वान् हो। अच्छा, मत डरो, मत डरो। तुम तो बहुत समझते हो।'

**मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः**
**संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।**
**येनैव याता यतयोऽस्य पारं**
**तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥ ४५ ॥**

कोई समुद्रमें डूब रहा है तो बोलो कि 'डरो मत, डरो मत, तुम डूबोगे नहीं। तुम अविनाशी हो। समुद्रमें यह सामर्थ्य नहीं है कि तुमको अपनेमें डुबो दे। तुम डूब नहीं सकते।'

**'तवनास्त्ययः'**—अपाय माने नाश। पहले ही गुरुने कह दिया, 'तुम निर्भय हो जाओ, डरो नहीं, तुम अविनाशी हो। तुम्हारा नाश कोई नहीं कर सकता।' किसी किसी चीजका नाश स्वयं हो जाता है, समय-समयपर वह वस्तु घिस जाती है।

किसीका नाश किसी निमित्तसे होता है कोई दूसरी चीज उसका नाश नहीं कर देती है। किसीका नाश आश्रय या आश्रितके कार्य या कारणके नाशसे होता है। कभी निमित्तसे तो कभी वह स्वयं नष्ट हो जाती है। नाशकी प्रक्रिया गिनी हुई है।

तुम्हारा नाश न स्वतः, न परतः न निमित्तापायसे, न आश्रय, न आश्रित, न अवयव, न अवयवीके नाशसे होता है। किसी भी प्रकारसे तुम्हारा नाश है ही नहीं। यदि तुम्हारा नाश हो जाय तो नाशकी सिद्धि ही न होगी। नाश मालूम कैसे पड़े ? इसलिए '**नास्त्यपायः**'। तुम्हारा नाश-क्षय अपाय नहीं है, नहीं है।

जिज्ञासु कहता है—'ठीक है महाराज। हमारा नाश तो नहीं है और मैं नाशसे डरता भी नहीं हूँ। आपकी दृष्टि है मुझपर। हम पर आपका विश्वास है। आपने मुझे अविनाशी कर दिया, परन्तु मैं संसारके सागरमें डूब रहा हूँ।'

अच्छा, यदि हम अलग-अलग लोगोंसे पूछने लगेंगे कि वह कौन-सा संसार-सागर है, जिसमें आप डूब रहे हैं ? लोग आ के बताते हैं कि 'महाराज, हम ससार-सागरमें डूब रहे हैं।' लेकिन हम उनसे पूछें कि 'वह कौन-सा संसार-सागर है जिसमें आप डूब रहे हैं ? आप बता तो दीजिए। तो इनमें-से आधे आदमी नहीं बता सकते हैं। कौन-सा संसार-सागर नहीं है ?

(१) आप अपने कर्तव्यके सागरमें डूब रहे हैं जिसे आपने खुद बनाया है। ( २ ) आप अपने भोक्तृत्वके सागरमें डूब रहे हैं कि 'हम यह भोगेंगे, वह भोगेंगे। 'वह भोग रहे हैं' ( ३ ) आपने खुद यह संसार सागर बनाया है। जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही बनाये तन्तुजालमें फँसता है। आपको अमेरिका, पेरिस जाना है, कि नरक-स्वर्ग जाना है इस संसारमें ?

कल किसीने हमें बताया—'महाराज, यहाँ होटल बने हैं—एकका नाम 'द्वारका-होटल' है, एकका 'वृन्दावन' तो एकका 'मथुरा' है। और भी ऐसे कई नाम बताये। तो अब द्वारका-वृन्दावन-तो जाना छूट गया, होटलमें जाकर द्वारका-वृन्दावन-मथुरा जाने-की वासना पूरी कर आते हैं। दस रुपयामें भोजन मिलता है। बतानेवाला प्रेमसे बोला—'महाराज ! वैष्णव-भोजन मिलता है।' तो वहाँ जायेंगे तो जीभ, आँख तृप्त होगी। होटलमें कहीं जीभ तो कहीं जननेन्द्रिय या मन तृप्त होता है।

जो अपनी तृप्तिके लिए इधर-उधर भटकता है, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग और अपनी परिच्छिन्नता। दरियाका अपने-को कतरा समझ बैठना। ये चार दुःख हैं। इसीका नाम संसार है!

आप संसार-सागरमें डूब रहे हैं, ऐसा आपका ख्याल तो नहीं है, मानने लगे हैं। मानने भी नहीं लगे हैं, सुन-सुनके कहने लगे हैं। दिल तो नहीं मानता है कि 'हम संसार सागरमें डूब रहे हैं।' हम तो बहुत मजेमें हैं, मौजमें हैं। शंकराचार्य कहते हैं—'संसार माने अपनेको पाप-पुण्यका कर्ता मानना और उनका सुखदुःख भोगना।' आप इसमें रचपच गये हैं। 'यह पा लिया और वह भोग लिया। हमने यह मजा पा लिया।'

शंकराचार्य कहते हैं—'**कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः संसारः**।

विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि जो चीज ईश्वरकी बनायी हुई है, वह दुःखदायी नहीं है। स्त्री-पुरुष, सोना-चाँदी, मकान, पंचभूत, मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश, सूर्य, चन्द्र हैं—ये कोई दुःख-दायी नहीं हैं। यह तो ईश्वरकी सृष्टि है। ईश्वरका हाथ आनन्द-मय है। वह जिसको छू देता है, जिसको बना देता है उसमें मजा ही मजा है, आनन्द ही आनन्द है। तो दुःख कहाँ है? जीवकी

बनायी सृष्टिमें दुःख है। 'मकान मेरा', यह दुःख है मकान दुःख नहीं। अपने मनमें जो 'मकान मेरा'—यह भाव है, यदि पैसा मिल जाय और मकान छूट जाय, बड़े-बड़े किले और नगर जब दुश्मनके हाथमें चले जाते हैं, तब लोग उनपर बम बरसाते हैं कि नष्ट हो जाय ! अरे, तुम उसपर बम क्यों बरसाते हो ? 'जबतक मेरा था तबतक ठीक था महाराज, अब तो यह पराया हो गया न ?' माने 'अपना संसार है' और 'पराया संसार है।' नगर संसार थोड़े ही है ? उसमें दुःख नहीं है।

तो संसार कहाँ है ? 'मेरा पैसा' नोट सरकारी खजानेमें, बाजरमें, बैंकमें है तो आपको उसके जलनेका दुःख होता है ? नहीं, मेरा नोट जलेगा तब दुःख होगा। तो दुःख नोटने दिया कि 'मेरा-मेरा'ने दिया ? तो 'मेरा-मेरा', 'तेरा-तेरा' का नाम संसार है।

इसमें हम लोग डूब कैसे रहे हैं ? अपने मनकी कल्पनामें ही डूब रहे हैं। उसमें पानी थोड़े ही है कि डूब रहे हैं ? इसके बिना हम कैसे रहेंगे ? कैसे जीयेंगे ? अरे, तुम्हारे—जैसे सैकड़ों भोग भोगकर छोड़ दिये हैं। कितने नोट आये और गये, कितने लोग और कितने मकान आये और चले गये ! क्या अभिमान करते हो ? सोना, चाँदी नोट; मकान, तुम्हें पहचानते नहीं और तुम उसके लिए मरो ! सीताराम ! शरमकी बात है। वह तो हमें मेरा नहीं कहे, हमें पहचाने नहीं, किसीके घर चला जाय, किसीका अपना हो जाय ! किसीकी दुकानमें चला जाय ! वेश्यासे भी गया-बीता है यह नोट-का बंडल ! उसके लिए हाय-हाय ! इसीका नाम है संसारमें डूबना ! डूब गये संसारमें।

एक बात यह भी है कि यदि कोई डूब रहा हो समुद्रमें और तुम किनारेसे चिल्लाओ कि 'तत्त्वमसि' 'तत्त्वमसि'। तू साक्षात् ब्रह्म है। तू

भी बोल भाई कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अहं ब्रह्मास्मि।' तो क्या वह समुद्रमें डूबनेसे बच जायगा ! नहीं बचेगा ! लेकिन यदि तुम मन ही मनमें समुद्रमें डूब रहे हो, बुद्धिमें भ्रम है, नशेमें तुम्हें मालूम पड़ रहा है कि मैं समुद्रमें डूब रहा हूँ, तो वह नशा उतारनेके लिए 'तत्त्वमसि' का उपदेश काम देगा ? सचमुच जो समुद्रमें डूबता है उसमें-से 'तत्त्वमसि' नहीं निकालेगा।

कर्मके उपदेश दूसरे होते हैं और ज्ञानके दूसरे। यह तुम्हारी बुद्धिके शोधनके लिए है। बुद्धिमें जो संशय है, भ्रम है, संसार-समुद्रमें यह जो डूबना-उतराना है, यह बौद्धिक है। विपरीत बुद्धिसे ऐसा हो रहा है। यह बौद्ध भ्रम है। इससे बचनेका उपाय तो है।

**संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।** एक शब्दकी लकड़ी फेंकेंगे, नाव देंगे, हेलिकॉप्टरसे उठा लेंगे आपको। हमने यहाँ एक दिन देखा, चौपाटीपर खेल हो रहा था। हवाई जहाजवाले दिखा रहे थे। एक आदमी समुद्रमें तैर रहा था और हेलिकॉप्टर आया। झट उसे उठा लिया। यह मैंने अपनी आँखसे देखा।

शब्दका हेलिकॉप्टर भी ऐसा है। जंगलमें भटके हुएको, समुद्र-में डूबते हुएको यह शब्द उठा देता है। उठा कैसे देता है ? जैसे कोई नशेमें भ्रमसे अपने आपको जंगलमें भटकता हुआ अनुभव करता हो तो यह शब्द उसे झटसे उठा देता है। यह शब्द बुद्धिका नशा उतार देगा ऐसा यह मणि है, मन्त्र है।

**संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।**

संसार-सागरको पार करनेके लिए उपाय है। संस्कृत भाषामें 'उपाय' शब्द बहुत भारी नहीं है। एकदम हल्का-फुल्का है। जैसे बच्चे लोग पहले-पहल सीखते हैं—तो गोली रखते हैं! अक्षर सबके सब निराकार होते हैं। क, ख, ग, घ, अ, आ, इ, उ, सब

निराकार हैं। ये जो गोली, गोटी या तस्वीरमें बनाते हैं या कागजसे लिखते हैं, वे सब झूठे हैं। हिन्दी, अंग्रेजी, अरबी, फारसी हो, चाहे रशियन या चाइना हो, कागजपर जो अक्षर लिखे जाते हैं, वे सब-के-सब झूठे हैं, माने कल्पित हैं। नहीं तो सबकी शकल होती, परन्तु नहीं, शक्ल अलग-अलग होती है। उच्चारण एक होता है। इसका मतलब हुआ, 'अ' निराकार है और उसकी जो लिपि हुई, वह साकार हुई, उस निराकार अक्षरको, जो कंठसे बोला जाता है. 'अ', 'अ', 'अ' उसको समझानेके लिए एक लकीर खींच दी जाती है और वह तरह-तरहकी होती है। उस अक्षरको समझ जानेपर लकीरका खयाल नहीं रहता।

पंचकोण 'अ' लिखें, तांत्रिक लोग 'अ' लिखते हैं तो पंचकोण बनाते हैं। उसकी पूजा होती है। पंचकोण अकार होता है। आप लोग भी हिंदीमें कभी 'अ' लिखके देख लें। उसमें पाँच कोने होते हैं। परंतु आप 'अ' भी लिखें उर्दूमें तो उसमें पाँच कोने नहीं होंगे। 'अ' को समझनेके लिए यह एक उपाय है—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानाम् उपलालना।

उपाय जो होते हैं, वे सीखनेवाले बच्चोंके लिए एक उपाय होते हैं, जिससे वे खेल भी लें, सीख भी लें।

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहिते।

(वाक्यपदीय २.२३८)

पहले एक झूठी चीजका सहारा लेकर एक सच्ची चीज समझी जाती है। संस्कृतमें उपायके लिए बोलते हैं—

उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते।

(वाक्यपदीय २.३८)

पहले उसे पकड़ो, फिर छोड़ दो। अपनी मुक्तिके लिए पहले उपाय पकड़के देख लिया कि 'अरे, मैं तो स्वतः मुक्त हूँ। बंधन तो था ही नहीं। और कोई बोले कि 'अभी इस उपायको जरूरत नहीं है,' तो प्रयोजनकी पूर्ति होनेसे उपायका बाध हो गया। हम उस उपायको करके जो चाहते थे, वह तो पहलेसे ही है।

उपाय माने ज्ञानप्राप्तिका साधन। आप लोग आय तो चाहते हैं, परन्तु उपाय नहीं चाहते। आय माने 'भज कलदारम्'। ज्ञानकी आमदनी तो आप चाहते हैं, परन्तु उसका जो जरिया है, उसे आप नहीं अपनाते। उपाय माने आमदनीका जरिया।

जैसे किसी सेठको वशमें करना हो तो उसके चमचेको वशमें करना होगा। उसके चमचेको माने उपायको वशमें करना चाहिए। उप माने पास। आय माने आमदनी। उपाय वह जो आमदनीके बिलकुल पास हो। जो मिनिस्टरके, सेठके बिलकुल पार्श्ववर्ती हो, उसको वशमें करलो तो आपका काम तुरन्त बन जायगा। उपायका अर्थ है, भ्रमका निवारण करनेके लिए ज्ञान। ज्ञानको आमदनी करनी चाहिए।

ज्ञानकी आमदनी कहाँसे होगी? आँखसे दिखाके, गालसे चिपकाके या जीभसे चाटके नहीं होगी। वह तो ब्रह्मके बारेमें जो सद्गुरु एवं शास्त्रका उपदेश है; उसमें भी एक अन्तर है। शब्द नहीं, वाक्य चाहिए। ये 'सबदी साखी-दोहरे, कहि कहनि उपखानि।' सार्थक शब्दोंके समूहसे वाक्य बनता है। सुननेसे ज्ञान नहीं होगा।

यह-वह-तुम सुननेसे ज्ञान नहीं होगा। परोक्षसे मिलानेवाला जो अपरोक्ष वाक्य है, परोक्ष-अपरोक्षकी, व्यष्टि-अवच्छिन्न और समष्टि-अवच्छिन्नकी, कार्यसे उपहित और कारणसे उपहितकी एकता बतानेवाला जो वाक्य होता है;—'राम', 'राम'! कहाँ है

राम ? हम तो देख आये, अयोध्यामें नहीं मिले ! इस अयोध्यामें नहीं, दिव्य अयोध्यामें है ! तब तो वह माननेकी ही बात हो गयी ? नहीं नहीं, वह तो आपके दिलकी अयोध्यामें रहते हैं। यह क्या हो गया ? अधिभूती-अयोध्या, अधिदैव अयोध्या और अध्यात्म अयोध्या। इससे क्या हो गया ? तुम्हारे दिलमें जो राम हैं वह तुम्हीं हो ! यह अध्यात्म नहीं है। अध्यात्मका अर्थ बहुत कम लोग जानते हैं !

तीन विद्यामें एक है अध्यात्म-विद्या और तुम वही हो। वेदान्तमें जो वाक्य है, 'महावाक्य' वह उपाय होता है। यह हमारी देह पञ्चभूतमें, पञ्चभूत प्रकृतिमें, लय करना, यह वेदान्त नहीं है। अद्‌भुत है।

संसार-सिन्धोस्तरणे उपायः। तुम भ्रमके कारण जो 'मैं-मेरा'-में डूब रहे हो, जो नहीं है उसे सच समझके फंस रहे हो; जो दुःख है उसे सुख समझकर चाह रहे हो, जो जड़ है, उससे प्रेम पानेकी लालसा कर रहे हो, जो मरनेवाला है उसे अमर समझके चाह रहे हो, यह तुम्हारी बुद्धिमें भ्रम है। उस भ्रमको दूर करनेके लिए जो नहीं है उसे है करके चाह रहे हो—इस भ्रमको दूर करनेके उपाय हैं।

पहले तो महाराज, यह बताओ कि कोई इस रास्ते संसारमें गया भी है ? जो गये हैं वे इसी उपायसे गये हैं—

**येनैव याता यतयोऽस्य पारंतमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥४५॥**

बड़े-बड़े प्रयत्नशील, विरक्त, निवृत्तिपरायण महात्मा इसी रास्तेका अवलम्बन लेकर संसारसागरसे पार गये हैं। इसमें शिष्टाचार प्रमाण है। श्रुति, स्मृति, सदाचार माने महात्मा-लोगोंने इसी उपाय-रास्तेसे परमात्माको प्राप्त किया है—'येनैव उपायेन-यतयः' माने यत्नशील जन।

**जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।**

अन्यकी ओरसे निवृत्त होकर 'स्व'की ओर अभिमुख। जो दूसरोंकी ओर नहीं जा रहे हैं, अपनी ओर जा रहे हैं, वे संसारसे पार हो गये।

**तमेव मार्गं तव निर्दिशामि।**

वही मार्ग है। आप लोगोंको शायद मालूम होगा। संस्कृतमें मार्ग माने 'खोज', 'अनुसन्धानं', 'अन्वेषण।'

बर्तन माँजना—यह मार्जन है। यह जो स्वयं ज्योतिरूप आत्मा-लिंग है, उसपर वासनाका कूड़ा-कर्कट, भ्रमका घेरा, अज्ञानके उस अंधेरेमें वासनाके बिच्छू, सर्प, पाप-पुण्यके कीट, लकड़ी, पत्ते सब इस लिंगपर पड़ गये हैं। मार्ग क्या है? परिमार्जन। साफ धोओ, अनुसन्धान करो, परिमार्जन करो। परिमार्गण ही मार्गं है। खोजो, खोजो। खोज ही इसका मार्गं है। 'तमेव मार्गं तव निर्दिशामि।' परमात्माकी प्राप्तिके लिए चलके जाना मार्ग नहीं है।

**तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।** (तैत्तिरीय उप० ३.१)

जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है। **तमेव मार्गं तव निर्दिशामि।**

अरे, ढूंढने भरसे मिल जाय न? ढूँढो, मिलेगा। बाइबिलमें है—'दरवाजा खटखटाओ! तुम्हारे लिए दरवाजा खुलेगा।' ढूँढो, मिलेगा।

**आप ही ढूँढै, आप ढूँढावै, आप ही ढूँढनहारी।**
**आप ही अमृत, आप अमृतघट, आप ही पीवनहारी॥**

**अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः।**
**येन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि॥ ४६॥**

प्यारे जिज्ञासु, ऐसा है कोई महान् उपाय, जिससे संसार-सागरसे पार उतरा जाय?

: १६ :

२२-६-७१

एक रहस्य देखिए—जो चीज हमको मालूम पड़ती है, चाहे भीतर चाहे बाहर, चाहे यह-वह, चाहे मैं-तुम, मालूम पड़नेकी रूपरेखा चाहे कुछ भी हो, जो चीज मालूम पड़ती है वह चीज, वस्तुतः हमसे भिन्न नहीं है। मालूम पड़े बिना तो किसी चीजका कोई महत्त्व नहीं है और मालूम पड़े तो हमसे भिन्न नहीं है। उसका अस्ति-भाति-प्रिय जितना भी रूप है, सब हमारा ही है। भ्रान्तिके कारण उसको हम अपना स्वरूप न समझकर पराया समझते हैं और फिर उससे डरते हैं, उससे बँधते हैं, उससे आसक्ति करते हैं, उसके साथ जीते-मरते हैं। यह आपको वेदान्तका सिद्धान्त माने रहस्य सुनाता हूँ।

हमें जो-जो मालूम पड़ता है, वह मैं नहीं हूँ यह तो ठीक है, परन्तु हमें जो जो मालूम पड़ता है वह ईश्वर-जीव-जगत्, परोक्ष-अपरोक्ष, मैं-तुम, यह-वह वस्तुतः आत्मासे माने 'मैं'से भिन्न नहीं है। अपने 'मैं'का अज्ञान और दूसरेके होनेकी भ्रान्ति। हमें और भी अधिक दुःख देती है भ्रान्ति। हमें जो साधन करना है या ज्ञान प्राप्त करना है, वह इस बुद्धिके भ्रमको मिटानेके लिए है। कुछ बनाने-बिगाड़ने के लिए नहीं है। दुनियामें न कुछ बनता है न कुछ बिगड़ता है। यदि यह बात आपके मनमें बैठ जाय कि मैं मरता

नहीं हूँ, तो कभी मृत्यु न आपके अनुभवमें आवेगी, न आप उससे डरेंगे।

**पलटू हम मरते नहीं, साधो करो विचार।**

मूलमें बात यह है कि हमारे भयका विनाश होना चाहिए और भयका विनाश लोगोंकी भीड़में रहनेसे नहीं होता है। आप देख लें। यह खयाल होगा कि इसमें कोई पुलिसका आदमी न हो, हमारा दुश्मन न हो! हमने भीड़में रहके देखा है। एकान्तमें रह-कर तो भूत-प्रेत-पिशाचका डर भी लगता है। कहींसे कोई आ न जाय। एकान्तमें रहनेसे भी भयकी निवृत्ति नहीं होगी। किसीसे हमारा प्रेम हो जाय तो भयकी निवृत्ति हो जाती है? प्रेम होगा तो भय क्यों होगा? हम उससे प्रेम करेंगे। प्रेममें अपने लिए भय नहीं होता, परन्तु जिससे प्रेम होता है, उसके बारेमें भय होता है कि यह कहीं मर न जाय, यह कहीं बिछुड़ न जाय! कहीं यह बेवफा न हो जाय। बहुत प्रेम होगा तो भय होगा कि इसका कहीं नुकसान न हो जाय। इसलिए एकान्त समाधि भी निर्भयता नहीं देती, भीड़-भाड़ भी नहीं, प्रेम भी नहीं। जबतक अन्यकी भ्रान्ति नहीं निवृत्त होगी, कि वह सब अपना स्वरूप ही है, तब तक भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरा है हो नहीं। दूसरा देश-काल; दूसरी वस्तु या कोई कार्य-कारण भी नहीं है। साक्षी-साक्ष्य भी नहीं है। तब तो फिर सम्पूर्ण भयकी निवृत्तिके लिए एक खास तरहकी बुद्धिकी जरूरत है। बुद्धिमान् होना काफी नहीं है, बुद्धि-मान् लोग डरते हैं तो कहते हैं, 'हम बड़ी बुद्धिमानीसे डर रहे हैं। आगेकी बात सोचके डर रहे हैं कि आगे ऐसा होगा तो? दोस्तीसे डरते हैं, दुश्मनसे डरते हैं। बुद्धिमान् होनेसे भयकी निवृत्ति नहीं होगी। निर्भय होनेके लिए एक खास तरहकी बुद्धि चाहिए और वह हमारी अपनी बनायी हुई नहीं है कि हमने यह

प्रयत्न करके बना ली, अभ्यास करके बना ली। अभ्यास ढीला पड़ गया तो ? भयकी निवृत्ति उस बुद्धिसे नहीं होगी।

स्वरूप-अनुभव करनेवाली बुद्धि भयको निवृत्त करती है। हमारी बनायी हुई बुद्धि नहीं। हम खास तरहसे बड़ी-बड़ी बातोंकी समालोचना करते हुए बोल रहे हैं कि भीड़में, अभ्यास, प्रेम, एकान्त या स्थितिसे भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती। हम कमरा बन्द करके एकान्तमें बैठ गये। हम आँख बन्द करके बैठ गये अब क्या डर है ? अरे बाबा, इसी तरह तो शुतुरमुर्गको खा जाता है। कबूतरने मुँह बालूमें गड़ा दिया कि 'अब बिल्ली हमको नहीं खायेगी।' बालूमें मुँह गड़ानेसे भय नहीं मिटता है।

हमने अलग-अलग सिद्धान्तकी बात कही। एकान्त, भीड़, प्रेम, स्थिति—ये सब सिद्धान्त हैं। इनसे भयकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, इसके लिए चाहिए एक खास तरहकी बुद्धि और वह बुद्धि हमारी बनायी हुई न हो। वह परमार्थ-सत्यके अनुरूप हो।

कोई कहे, हमने ऐसी बुद्धि बना ली ! अरे वस्तुतन्त्र जो बुद्धि होगी वह काम देगी ? कर्तृतन्त्र जो बुद्धि होगी वह काम देगी ? अच्छा जी, तो आओ, भयके निवारणके लिए कौन-सी बुद्धि चाहिए ?

> वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।
> तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥४७॥

संसार नहीं है, संसारका भय है। संसारका भय मिटाना है। इसमें फरक पड़ता है। चित्तका निरोध नहीं करना है, चित्तवृत्तिका निरोध करना है, चित्त तो योगीका भी रहेगा। नहीं तो शरीर कहाँसे रहेगा ? जैसे योगमें चित्तका नहीं, चित्तवृत्तिका निरोध होता है, वैसे वेदान्तमें संसारको नहीं, संसारके भयको मिटाता

है। भय तो हमारी बुद्धिमें रहता है। ऐसा कभी मत समझना कि वेदान्तका ज्ञान होगा तो हमें भान ही न होगा। हमारा रुपया, मकान, बेटा-बेटी सब छूट जायगा तो ? हाय-हाय हम ऐसा वेदान्त लेकर क्या करेंगे ? ऐसे मत डरना।

**योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात् अभये भयदर्शिनः**

( माण्डूक्यकारिका ३.३९ )

निर्भय पदकी प्राप्तिकी बुद्धि कहाँसे मिलेगी। हमें याद है, नागपुरमें एक अच्छे वेदान्तके ज्ञाता थे। वे अच्युतमुनि जीके शिष्य थे। वे जब पहले-पहले हमारा दर्शन करने आये तब वे वयोवृद्ध थे। उनका पहला प्रश्न था, 'वेदान्तार्थ-विचारके बिना मनुष्यका और किसी उपायसे परम कल्याण हो सकता है कि नहीं ?' मैंने कहा, 'नहीं'। तो बोले—'अब सत्संग कर।' यदि आपने कह दिया होता कि आत्मा-ब्रह्मकी एकताका ज्ञान-परमार्थ अनुभव किसी और उपायसे हो सकता है तो हम आपको प्रणाम करके चले जाते।'

बस ! देखिए, वयोवृद्ध हैं। आप लोग 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास' वाली बात मत कीजिए। उन्होंने फिर दूसरा प्रश्न किया उनका नाम था विरधीचन्द्र पोद्दार जिनकी बालकेश्वरमें बड़ी कोठी थी। उनके बड़े भाई थे घनश्याम पोद्दार।

दूसरा प्रश्न उन्होंने यह किया—'आपने 'प्रस्थानत्रयी'का श्रवण-मनन-निदिध्यासन किया है ?' मैंने कहा 'हाँ' तो बोले—'अच्छा, अब हमारे प्रश्नोंके आप उत्तर दीजिए।'

यह वेदान्तकी बात है। वेदान्ती लोग यह नहीं मानते कि 'इससे भी हो जायगा उससे भी हो जायगा'। 'बौद्ध-सिद्धान्त,

जैन-सिद्धान्त, सांख्य-सिद्धान्त भी सुना! यह भी वेदान्त है" सबका नाम वेदान्त नहीं होता।

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥४७॥

वैदान्तार्थका विचार कीजिए। जिनको जिज्ञासा-मुमुक्षा ही नहीं है, 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास!' उनसे क्या बात करना? वेदान्तका अर्थ-वेद तो आप जानते ही हैं। वेद माने ज्ञान। वेद माने इतनी बड़ी-बड़ी पोथी नहीं; वेद माने मन्त्रोंका समूह नहीं। हमारे अन्तःकरणमें जो ज्ञानवृत्ति है, धर्म-कर्मको, स्वरूपको समझानेवाली वह वृत्ति! वृत्तिज्ञान वेद है। और उसका अनुभव मात्र होता है, जहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका भेद मिट जाता है, शुद्ध ज्ञान रहता है। जिस ज्ञानमें भेदका बाध हो जाता है। वह हुआ वेदान्त-ज्ञान। उसका अर्थ, प्रयोजन क्या है? घट-पट-मठ नहीं, अज्ञानका निवारण ही उसका प्रयोजन है। आप विचार कीजिए। अज्ञान ज्ञानसे मिटेगा। बैठनेसे, पीठकी रीढ़ सीधी करनेसे, आँख बन्द करनेसे नहीं, 'स्वाहा' करनेसे नहीं, प्रेमसे भी नहीं। यदि अज्ञानसे ही द्वैतकी भ्रान्ति हो रही है तो उसको मिटानेके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए। आप यह बात समझिये। वेदान्तका प्रयोजन माने ज्ञानकी जरूरत किसलिए है।

वस्तु है अद्वैत और भ्रम हो रहा है द्वैतका। द्वैतका भ्रम हो जानेके कारण जीव अलग पड़ गया, ईश्वर अलग पड़ गया, अज्ञान सिरपर सवार हो गया। इस द्वैत्वका—भेदका जो भ्रम है, उसके कारण सारे दुःख हो रहे हैं। यह हो रहा है, आत्मा और उसको जाननेके कारण यह न जाननेको मिटानेवाला है वेदान्त। वेदान्तका प्रयोजन ही यह रहस्य-ज्ञान है। नहीं तो

बोले, 'जपसे, योगसे, कर्मसे ही ज्ञान हो जायगा। पढ़ने-लिखनेसे, अभ्याससे, किसीकी कृपासे, शक्तिपातसे ही हमें ज्ञान हो जायगा, हमें कोई साधन-भजन न करना पड़ेगा, किसीकी सेवामें चार-पाँच हजार भेंट-पूजामें रख देंगे और वह सिरपर हाथ रखेंगे, हमें ज्ञान हो जायगा ! यह कृपासे होनेवाली बात नहीं है। वेदान्तका प्रयोजन समझिये। यह काम बिना वेदान्तके हो ही नहीं सकता और हो सकता है तो अभी आप वेदान्तको स्पर्श मत कीजिए। हम आपको और रास्ता बताते हैं। आप जाइये नरीमान पोइन्ट और समुद्रकी ओर मुँह करके बैठ जाइये। लोग कहते भी हैं—'तरंग देखनेका आनन्द आ रहा है।' क्या बढ़िया !

वेदान्तका खास प्रयोजन माने एक अभिप्राय है और वह काम किसी और उपायसे नहीं होता, सिवा वेदान्तके। उससे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होगी। ज्ञानके तीन स्तर देखिये—ज्ञान, उत्तर ज्ञान और उत्तम ज्ञान। जहाँ सर्वको एकमें मिलाते हैं, वहाँ 'उत्तर ज्ञान' है। आज-कल बहुत लोग कश्मीरी शैवोंका या वल्लभाचार्य-का सिद्धान्त पढ़ते हैं। वल्लभाचार्यका सिद्धान्त है, 'एक भग-वान्‌में मैं और सब मिल जाते हैं और वही 'मैं' और 'यह' के रूपमें प्रकट होता है।' तो सब भी है, भगवान् भी है।

'भगवान् ही सब हैं'—यह उत्तर सिद्धान्त है।

'जीव-जगत्-ईश्वर अलग-अलग है, यह साधारण ज्ञान है।

'ईश्वर है ही नहीं', यह तो मूर्खता है, ज्ञान नहीं है। 'आत्मा है ही नहीं', यह भी मूर्खता है, ज्ञान नहीं। परन्तु 'एक ईश्वर ही सर्वरूपमें प्रकट है', यह भागवत-ज्ञान है। और 'मैं ही सर्वरूपमें प्रकट हूँ' यह 'शैव-ज्ञान' है।

वेदान्त ज्ञानमें 'एक है' माने एक मैंमें चाहे सर्वका उदय-विलय हो या सर्वमें 'मैं'का उदय-विलय हो, वह 'उत्तर ज्ञान' नहीं है; उत्तम ज्ञान है। यह ऐसा श्रेष्ठ ज्ञान नहीं, जिसके परे कुछ न हो।

उत्तम ज्ञान है, 'जहाँ सर्व नहीं है, स्वयं है।'

**वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।**
**तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥ ४७ ॥**

उस ज्ञानसे संसारका आत्यन्तिक दुःखनाश होता है। यह भी देखिए, 'दुःखनाश तो और ज्ञानसे भी हो सकता है। आपको बेईमानीका रुपया घरमें आया हो और सता रहा हो, उसे धर्मके काममें लगा दीजिए तो आपको सन्तोष हो जायगा। नहीं तो, जिस समय आपका मन कमजोर पड़ेगा, नसें शिथिल पड़ेंगी, उस समय वह आपको सतावेगा कि आखिर हमें जाना है, छोड़ करके! जिन्दगीभर मैंने बेईमानी करके दूसरोंको सताया, मेरे काम नहीं आया। आप रोते-रोते जायेंगे। यदि अपने हाथसे अच्छे काममें लगायेंगे, तो सन्तोष होगा और दुःखका नाश होगा, परन्तु आत्यन्तिक नाश नहीं होगा। क्यों ? क्योंकि उसमें कर्तापन है।

यदि अपने कर्तापनको ईश्वरमें समर्पित कर देंगे या अपने अकर्तापनमें स्थित हो जायेंगे तो भी दुःखका ज्यादा नाश होगा। लेकिन, यदि अकर्ता अपने आपको ब्रह्मके रूपमें जान ले तो आत्यन्तिक दुःखका नाश होगा। संसारका नाश नहीं होता, दुःखका नाश होता है। वस्तु और क्रियापर ये पठ्ठे विश्वास करते हैं। हमने देखा है कि किसी भी रोगपर, किसी भी घासको उखाड़ कर दिया कि 'जा, अच्छा हो जायगा। सर्वस्मिन् सर्वम्। जाग रे जाग! इस रोगको मिटानेवाली ताकत इसी घासमें आ जाय!' महात्माने संकल्प किया। प्रकृतिपर जिन महात्माओंने विजय प्राप्त किया है, उन महात्माओंको हमने देखा है कि उन्होंने हुक्म दिया तो जहाँ वर्षाके बादल बिलकुल नहीं हैं, वहाँ वर्षा हो गयी। जहाँ नदीके भीतर नावमें फँसे हैं, बादल घिर आये हैं और महात्माने हुक्म दिया तो बादल हट गये, चाँदनी निकल आयी।

छिटक गयी चाँदनी, यह भी हमने देखा है। परन्तु इससे संसारके दुःखका नाश नहीं होता है, क्योंकि दुःख होता है भीतर, बाहर होता ही नहीं है।

सेठ जयदयालजी गोयनका ऐसे बोलते थे—'हृदयके भीतरके अन्दरके बीचके माँय।' तो जिस चीजकी पहुँच आपके दिलमें होगी जितनी स्वाभाविक, स्वरस, अविनाशी होगी, दुःखको उतना अधिक मिटावेगी। गीतामें कहा है—'त विद्याद् दुःख-संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।' 'दुःख-वियोगं तं संज्ञितम्' क्यों नहीं कहा? खास चमत्कार तो उन्होंने यह किया कि 'वियोगका नाम ही योग है।' दुःखका वियोग? ना ना, ऐसा समझनेकी भूल मत करना। दुःख तो है, परन्तु उसके संयोगका वियोग हुआ। माने दुःखी भी है, मैं भी हूँ। दुःखका वियोग नहीं हुआ, संयोगका वियोग हुआ।

जब हमारे यहाँ धानकी खेती होती थी—शहरके लोग नहीं जानते, उसके इतने बड़े-बड़े, हरे-हरे बीज, जिसकी रोपनी होती है, बीस-बीस बोझ धानका बीज बाँधकर, पानीमें डुबोकर केवल एक आदमी उसे खींचके आगे-आगे ले जारहा है और बोझ ढोते हुए चला जा रहा है। बरसाती पानी, माटी, कीचड़। पानी गंदला होनेसे तकलीफ होती। तब क्या करते? कड़वा तेल शरीरमें पोतके फिर पानीमें उतरते तब फिर गंदला पानी होता, हम भी होते, परन्तु वह गंदला पानी हमपर असर नहीं करता था। पानीके संयोगका वियोग हो गया।

देहातमें मच्छर काटते तो हम निमकौड़ीका तेल शरीरमें लगा लेते। खुले आम सोओ मच्छरोंमें। तो मच्छरोंका वियोग नहीं हुआ। वे शरीरपर बैठकर रक्त निकालते थे, उससे हम बच जाते थे। एक महात्माने ऐसे बताया, 'जैसे हम मुँहमें पम्प गड़ाके पानी निकालते हैं, ऊपर पीते हैं तो धरतीमें-से निकालते हैं। हमारा

शरीर बिलकुल इन मच्छरोंके लिए धरतीके बराबर है। उनके और हमारे शरीरका अनुपात देखिये। उसमें वे कुआँ खोदते हैं, पम्प लगाते है। लाल-लाल पानी निकालते हैं।

हमारी दृष्टिसे यह शरीर है मच्छरोंकी दृष्टिसे यह धरती है। जब हम करवट बदलते हैं तब उन्हें मालूम होता है, भूकम्प हो गया। ट्यूब-वेल लगाके वे पानी निकालते हैं। हमें एकने बताया था कि 'मच्छरकी आँखसे चाम नहीं दीखता है। उसको केवल शरीरमें लाल-लाल खून दीखता है, कि 'यह हमारा खाद्य-पदार्थ रखा हुआ है।' जैसे हम लोग नदीमें-से पानी निकालते हैं, हाथी अपनी सूँड़से पीता है, वैसे वह अपनी सूंड़से हमारा खून पीता है। नीमका तेल लगा लो तो वे बेचारे अपनी सूँड़ नहीं लगा पाते। यह संयोगका वियोग हो गया।

'संसारमें दुःखकी कोई घटना घटित न हो, हमारे शरीरमें चोट न लगे, हमारे घरका वियोग न हो, घरकी वस्तु जले नहीं– जो लोग ईश्वरपर ऐसा बोझ डालना चाहते हैं, वे तो गलत सोचते हैं। साधनाका काम है कि हमारे मन-बुद्धि ऐसे न हो जायँ। जो मन दुःखमें दुःख नहीं माने; 'दुःख नहीं' माने ज्ञानके आधार पर—

**तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥ ४७ ॥**

फिर तो दुःख-नाश ही है।

**श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-**
**र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गी।**
**यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य**
**मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥ ४८ ॥**

अब कहते हैं, 'भाई श्रुतिकी वाणी साक्षात् बोलती है।' क्या कहती है? 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगैः'— तुम परमात्माको जानना

चाहते हो तो अपने ध्यानमें तीन बात ले आओ, 'श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान।' श्रद्धा करोगे तो एक-लक्ष्य हो जाओगे। यदि गुरु, शास्त्र, सत्संगपर श्रद्धा करोगे, तो पहुँचनेके पहले ही 'हमको वहाँ पहुँचना है'—इस लक्ष्यका निर्णय हो जाता है। यह रहस्य है। मामूली आदमी इसे नहीं समझता है। हमें कहाँ जाना है? एक आदमी चलता है, उसे मालूम नहीं, 'हमें कहाँ जाना है।' दूसरा आदमी चलता है, उसे मालूम करा दिया गया है कि 'हमें कहाँ जाना है।' एक आदमी रास्तेसे चलता है, उसे मालूम नहीं है कि 'यही रास्ता ठीक-ठीक जाता है कि नहीं और उसे बता दिया गया कि 'यही रास्ता ठीक-ठीक जाता है।' देख लें, दोनोंकी यात्रामें फरक होगा कि नहीं?

'कहाँ पहुँचना है, मालूम नहीं है'—माने आपके विचारका कोई लक्ष्य है कि नहीं? तर्क और मननमें कुछ मालूम पड़ता है न? तर्क काटना जानता है, पहुँचाना नहीं। मनन एक लक्ष्यकी सिद्धिके लिए होता है। बालकी खाल निकालनेवालेको परमेश्वर-की प्राप्ति नहीं होती। अतः गुरु, शास्त्र और अपने साधनपर श्रद्धा करके आगे मार्गपर बढ़ना होता है। श्रद्धा छूटती भी नहीं। जबतक वस्तुका साक्षात्कार नहीं हुआ, तबतक श्रद्धा हो जाने-पर निष्ठा होती है, परन्तु कुतर्की लोग अपनेको बहुत बुद्धिमान् मानते हैं और कहते हैं 'स्वामीजी, आप हमसे शास्त्रार्थ कीजिए।'

अरे, तुम जाकर किसी पण्डितसे शास्त्रार्थ, तर्क-वितर्क करो! हमको पण्डित मानकर हमारा अपमान क्यों करते हो? महात्माको पण्डित मानकर उससे तर्क-वितर्क करना अपराध है। पण्डितसे बात करना दूसरी चीज है और महात्मासे बात करना दूसरी चीज है। पण्डितकी बात सुनकर आप उसे काटनेके लिए तर्क भी कर सकते हैं। महात्माकी बात सुनकर उसपर मनन किया जाता है।

यही तो हमें बचपनसे सिखाया गया है कि 'यदि कोई बात बेटा, शास्त्रमें लिखी मिले तो मत समझना कि 'हमारी मति उससे बड़ी है, हम उसे काट देंगे !' यह समझना होगा कि यह बात किस अभिप्रायसे कही गयी है ? उसका भाव समझनेकी कोशिश करना। मनन माने हुई बातका अनुकूल चिन्तन। प्रतिकूल तर्क-वितर्क और युक्तिसे आजतक न कोई बात सिद्ध हुई है न हो सकती है। अपने-अपने पथके लोग युक्तियोंका टोकरा माने बोझ सिरपर लिये लिये ढोते चलते हैं। युक्तिसे कोई बात सिद्ध नहीं होती। इसलिए पहले श्रद्धा–वस्तुका साक्षात्कार होनेके पूर्व अश्रद्धा—बादमें निष्ठा हो जाती है।

भक्ति माने बारम्बार बुद्धिके द्वारा उसका सेवन करो। उस वस्तुके सिवा दूसरेसे वह वैराग्य दे देगी—साक्षात्कार न होने तक। साक्षात्कार होने पर बिलकुल असंग कर देगी और जीवन्मुक्तका विलक्षण सुख देगी। तत्त्वसाक्षात्कारके पूर्व भक्ति, पश्चात् जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख।

योग = ध्यानयोग। ध्यान करो। वेदान्तकी यह रीति है कि वह दृश्यमान प्रपंचमें-से भ्रमको तो दूर करता है। स्वर्ग-नरक, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, मैं-तुम, यह-वह, दुनिया जो दिखती है, वेदान्तकी रीतिसे इसका भान होना दूसरी चीज है और उसमें सत्यका भ्रम होना दूसरी चीज है। नीलिमाका भासना दूसरी चीज है और उसे सत्य मानना दूसरी चीज है। वेदान्त भान नहीं, भ्रम मिटाता है। यदि साक्षात्कार होनेके पहले कोई ध्यान करे तो क्या होगा ? तत्वज्ञानकी योग्यता उसमें आवेगी, ध्यान होगा। ठीक है। ज्ञान होनेके बाद ध्यान क्या करेगा ? ध्यान प्रपञ्चका अभान देगा। जो ध्यान साक्षात्कारके पूर्व किया हुआ है, वह बादमें प्रपञ्चका अभान देगा। जीवन्मुक्तकी तीन स्थितियाँ हुईं।

(१) निष्ठावान् हो गया। चाहे ब्रह्मा आकर कहें कि ऐसा नहीं, वैसा, उसकी श्रद्धा-निष्ठा बन चुकी है, वह अडिग रहेगा।

एक बार एक भगतराजने हमारा हाथ पकड़ा। दुनियामें वे बड़े मशहूर हैं। मुझे एकान्तमें ले गये और बोले—'स्वामीजी, शंकराचार्य जिसे प्रणाम करते हैं ऐसे उस व्यक्तिने मुझसे कहा है कि 'अभेद सिद्धान्त गलत है।' वे तो हमें चेला ही बनाना चाहते थे।

मैंने कहा, 'देखिये भगतजी, आप और आपके शंकराचार्य और उनके गुरु सब हमारे स्वप्न-पुरुष हैं। हम शंकराचार्यके कहने-से नहीं मानते हैं कि 'अभेद सिद्धान्त है।' उन्होंने कहा है, ठीक है। पर हम उनके कहनेसे नहीं मानते। यह तो हमारा अनुभव है। आपके शंकराचार्य और शंकराचार्य जिसे प्रणाम करते हैं वे भी हमारे स्वप्न-पुरुष हैं। हमारे साथ यह गड़बड़ी नहीं चल सकती।'

वे बोले—( हाथ जोड़कर ), 'बस-बस महाराज ! अब कुछ मत बोलिये।'

इस प्रकार (१) श्रद्धा निष्ठा देती है, चाहे प्रपञ्चभान हो चाहे न हो। तब भी हम ब्रह्म ही हैं। (२) भक्ति देती है असंगता और (३) ध्यान देता है अभान। ये तीन भूमिकाएँ बनेंगी।

चतुर्थ भूमिका बनेगी श्रद्धा और निष्ठासे। श्रद्धाके परिणाम-परिपाकसे। भक्तिसे व्यवहार करते हुए भी असंगतका होना पाँचवीं भूमिका है। छठी भूमिका है अभान। साक्षात्कारके पूर्व भक्ति, असंगता, ध्यान, बादमें निष्ठा, निवृत्ति और प्रपञ्चका अभान।

ऐसे भी कर सकते हैं कि चतुर्थ भूमिका भक्तिकी बीचमें रख लें तो तीन भूमिका साधनकी, तीन भूमिका सिद्धिकी। श्रद्धा, भक्ति,

ध्यान। मैं यह रहस्य बता रहा हूँ, कोई व्याख्यान नहीं दे रहा हूँ, टीका-टिप्पणी नहीं सुना रहा हूँ। श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि। जान लीजिए, यह कैवल्य उपनिषद् है।

एक बात है कि मुक्ति किसको बता रहे हैं? जैसे प्यासेको पानी बताया जाता है? जिसे प्यास न हो उसे पानी बतानेसे क्या फायदा? जिसे मोक्षकी इच्छा न हो, उसे बतानेसे क्या फायदा? वे कहते हैं—'महाराज, मैं सुनके आया हूँ, सबसे बढ़िया चीज दुनियामें क्या है? मोक्ष। तो हम वही चाहते हैं।'

कुत्तेकी पूँछ जहाँ बाँसकी नलीसे निकली कि फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी। वह तो सहज टेढ़ी है। ऐसे हम अपने अन्तःकरणमें दोष-निवारणका प्रयत्न करते हैं। हम कोयलेको साबुनसे धोना चाहते हैं! साफ करके छोड़ेंगे चाहे सारी जिन्दगी बीत जाय। 'बारह बरसमें हाथ धोना नहीं आता है। हम जानते हैं ऐसे लोगोंको।' हम तो अपने अन्तःकरणमें काम-क्रोध, लोभ, मोह नहीं आने देंगे। योगदर्शनमें तो निद्रा भी वृत्ति है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प. निद्रा स्मृति (१.६)। यदि वृत्तियोंका निरोध करेंगे तो निद्रा-वृत्तिका निरोध होना चाहिए न? योगमें क्लिष्ट, अक्लिष्ट वृत्तियोंका भी निरोध होता है। वेद, शास्त्र, पुराणका निरोध होता है। योगमें इन्द्रियोंका–आँख-कान आदिका। स्मृति माने जिसे आप याद करते हैं उसका भी। छाती ठोंककर देखो। यदि योगमें जरा भी प्रमाद रह जायगा तो जबतक यह अन्तःकरण रहेगा तबतक स्मृति आयेगी। कोई प्रमाणवृत्तिका उदय हो जायगा। घट-पटादि दीखने लग जायेंगे। विपर्यय हो जायगा। जीवत्व, सिद्धत्व आदिका विपर्यय। 'मैं सिद्ध हूँ' यह भी विपर्यय है। तब?

मुमुक्षा माने क्या? इस सारे अन्तःकरणसे ही पिण्ड छुड़ाओ। यही राग-द्वेष करता है, सुखी-दुःखी होता है, स्वर्ग-नरक जाता है, अपनी परिच्छिन्नताके भ्रमको पकड़े हुए है।

अन्तःकरणको ही छोड़नेकी जो प्रक्रिया है, वही मुमुक्षा है : सारी दुनिया मनमें ही है। दोष-दुर्गुण, दुर्वासना, संसारकी भ्रान्ति-प्रतीति। इस मनसे पिण्ड कैसे छूटेगा ? मारकर ? दवा लेकर ? नहीं। यह न पहले अपना था, न आगे अपना रहेगा। यह तो बिना हुए अपना ज्ञान ही मन होकर भास रहा है। तो माने अन्त-करणतत्त्वसे मुमुक्षा।

मुमुक्षुके लिए श्रुति बताती है, यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो साधनके क्रमसे चलिए। जाकर हाथ उठाकर नाचने लगे ! कपड़ा फाड़कर फेंक दिया ! यह तो हमने गाँवमें ओझा लोगोंके घरमें देखा है। सयाने लोग नवरात्रमें जब अपने घरमें देवी-देवताको बुलाते हैं तब देखा है, कहीं सिर पटक दिया, हाथ पीटकर छोड़ दिया ! कोहनी फूट गयो ! उनको पुकार—'आ जा रे देवता आ जा ! धर्मकी जय हो, पापका नाश हो।' और देवता होकर झूठ बोले ! सत्यानाश !! हमने सयानोंके घरमें सिर पटकते देखा है। क्या इससे मुक्ति मिलती है। नहीं, इससे मुक्ति नहीं मिलती। ये देवी-देवता, भूत-प्रेत, जादूका खेल-मदारीपना-हिप्नोटिज्म, मेस्मैरिजम् ! आपको ये मुक्ति देनेवाले नहीं हैं। आप अपनेको भी सम्मोहित कर रहे हैं। अपनी बुद्धिसे आप सम्मोहित हो रहे हैं ! इससे मुक्ति मिलनेवाली नहीं है। श्रुति कहती है, यदि तुम चित्तसे मुक्ति चाहते हो, तो आओ बेटा ! हम तुम्हें मुक्ति देते हैं ! मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव
ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।
तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि—
रज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥ ४९ ॥

यह सारा-का-सारा अज्ञानका फल है। इसलिए आओ, अज्ञानको मिटानेका प्रयास करो ! यह वेदान्तका कहना है। •

: २० :

२३-६-७५

वेदान्त-विधिका कहना है, वेदको भगवान् कहते हैं और वेदान्तको साक्षाद् विद्या अर्थात् ब्रह्माकार-वृत्ति। भगवान् अधिदैव है तो विद्या अध्यात्म। यह बात बहुत थोड़े लोग जानते हैं। ग्रन्थ अधिभूत है। अध्यात्म होनेके कारण जैन, बौद्ध, आस्तिक, नास्तिक सबको वह मान्य होना चाहिए। यह वेदान्त-विद्या तो साक्षात् सरस्वती है। वेदान्त वेदका शिरोभाग है। उसका कहना है कि श्रद्धा, भक्ति और ध्यान तीनों मुक्तिके साधन हैं। साथ-साथ मुक्तिकी इच्छा होनी चाहिए। जैसे मोटर तो हमारे पास होवे, पेट्रोल और रास्ता भी होवे, परन्तु वहाँ पहुँचनेकी इच्छा भी होनी

चाहिए न ? इच्छा न हो तो क्या करेगा पेट्रोल और क्या करेगी मोटर, क्या करेगा रास्ता ? पहली बात यह है कि अपने मनमें मोक्षकी तीव्र इच्छा होनी चाहिए।

श्रद्धा, भक्ति और ध्यानयोगपर थोड़ा और विचार करें! श्रद्धा होती है परोक्षपर, भक्ति होती है प्रत्यक्ष और ध्यान होता है अपरोक्ष। यहाँतक कि एक आदमी आपके सामने बैठा है! उसके आँख-कान-नाक है। वह जिन्दा है। परन्तु 'यह महात्मा है' यह आपकी श्रद्धा है, महात्मा प्रत्यक्ष नहीं है। महात्मापन श्रद्धासे है। दूसरा कोई उसे बदमाश भी समझ सकता है। आप उसे महात्मा समझ सकते हैं। जो उसको पाखंडी समझेगा, उसके हृदयमें पाखंडाकार वृत्ति होगी, जो उसे महात्मा समझेगा उसके हृदयमें महात्माकार-वृत्ति होगी। अन्तःकरणकी शुद्धि, उसे पाखंडी समझनेवालेकी नहीं होगी, महात्मा समझनेवालेको होगी, क्योंकि श्रद्धा अपने हृदयकी सात्त्विक दैवी सम्पत्ति है।

श्रद्धा होती है परोक्षपर। इसीसे कहीं-कहीं तो अनुभवीसे भी ज्यादा महिमा है श्रद्धालुकी। यह कैसे ? अनुभवी तो देखकर मानता है। उसकी क्या तारीफ हुई ? अरे, जिसने बिना देखे मान लिया, उसके अन्दर कितना सत्त्व है ? गीतामें यह बात है--

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेतीव मे प्रियाः ॥(१२-२०)**

जो श्रद्धालु है, वह मेरा अतीव प्रिय है। एक तो परोक्षपर होती है श्रद्धा। बल्कि कई बार 'यह विद्वान् है' ऐसी श्रद्धा ही करनी पड़ती है, क्योंकि विद्या सबको तो मालूम नहीं पड़ती है। मानना पड़ता है। महात्मा भी श्रद्धासे ही मालूम पड़ता है। क्या आप जपसे चौबीसों घण्टा उनको देखते हैं, सुबह शाम ? अतः परोक्षपर होती है श्रद्धा और प्रत्यक्षपर होती है भक्ति।

'वह' करके श्रद्धा होती है, 'तुम' करके भक्ति होती है। 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव।'

ध्यान कहाँ होता है ? वह तो स्थिति रूप होता है, अपरोक्ष होता है। वह हृदयमें रहता है। श्रद्धा, भक्ति, ध्यान तीनों मनमें हैं। वृत्ति तो अपरोक्ष है, परन्तु तीनोंका विषय पृथक्-पृथक् है। इसलिए आप महात्माको कसौटीपर कसके नहीं जान सकते। इसकी जाँच-पड़ताल नहीं कर सकते। महात्मा लेबोरेटरीमें तुम्हें परीक्षा देने नहीं आयेगा। यह श्रद्धाका विषय है।

किसीने कहा, 'महाराज, हम तुम्हें प्रत्यक्ष देख रहे हैं।' अरे बाबा, तू हड्डी-मांस-चामको देख रहा है या महात्माको ? महात्मा तो तेरी मानसमूर्ति है, ऐन्द्रियक नहीं। श्रद्धासे यह मानसमूर्ति हुई और भक्तिसे उसकी सेवा हुई।

विरक्त-गुरुको हम मानते हैं। हमारे पास बड़े-बड़े समझदार लोग आते हैं। हम समझदारको बुद्धि-सागर ही बोलते हैं। वे कहते हैं, वर्तमान युगमे तो हमारे गुरु बनाने लायक कोई है नहीं और है नहीं तो बना नहीं ! तब ? हम वसिष्ठ, सनत्कुमार आदि जो अमूर्त महात्मा हैं, उनको गुरु बनायेंगे। एक बात आप निश्चय कर लीजिए कि जो परोक्ष गुरु है, वसिष्ठ, सनत्कुमारादि-रूप या मरा हुआ, उनकी आप उपासना कर सकते हैं, उनका ध्यान कर सकते हैं, आपके हृदयमें प्रेम भी आ सकता है, परन्तु वह ज्ञान आपको उतना ही दे सकता है जितना आपको मालूम है। उसके आगेकी एक बात भी वह नहीं बता सकता, क्योंकि आपके ज्ञानने जिस आधारपर उन्हें गुरु बनाया है वही ज्ञान उसके अन्तःकरण-में है। इसलिए वे आपको तत्त्वज्ञान नहीं दे सकते।

आपको त्याग-वैराग्य हो सकता है, आपका मन एकाग्र हो सकता है, और बताइये भला, वसिष्ठको प्रत्यक्ष पानेके लिए हम

दस वर्ष ध्यान-भजन-भक्ति करेंगे और भगवान्‌के प्रत्यक्षके लिए हम उतना ध्यान, भजन भक्ति नहीं करेंगे। जितनेमें तुम्हें वसिष्ठादि मिल जायेंगे, उतनेमें तो तुम्हें राम-कृष्ण-विष्णु आदि सब मिल जायेंगे। इसलिए यह असलमें अभिमानके कारण ऐसा होता है कि 'हमारे पास जैसे समझदार-हितैषी तो दूसरा कोई नहीं है सृष्टिमें यह अपने अभिमानका और अपनी असहायताका विज्ञापन है।'

आप रामका भजन क्यों नहीं करते और वसिष्ठ-सनत्कुमारका भजन करके उनका प्रत्यक्ष करना चाहते हैं? तो वह वर्तमान गुरुका तिरस्कार और अपने बड़प्पनका अभिमान—दोनों अपराध होते हैं। इससे अपने अद्वितीय रूपके साक्षात्कारमें बाधा आती है। इसीसे कई गुरु तो कहते हैं, 'हमें विरक्त गुरु चाहिए जो सीधे-सीधे हमारी समस्याओंका, वर्तमान प्रश्नोंका समाधान कर सके'—ऐसा गुरु चाहिए।

प्रेमपूर्वक सेवाका नाम भक्ति है। ध्यान स्थिति है। इसमें अपरोक्षता है। ध्यान सर्वदा अपरोक्ष-विषयक और भक्ति परोक्ष-विषयक मानसिक रूपमें अपरोक्ष, तो परोक्षापरोक्ष-विषयक है। श्रद्धा परोक्षविषयक है तो हम कहाँ रहे? अजी, अभी आपकी चर्चा नहीं है। आप तो साक्षादपरोक्ष हैं। यह परोक्ष-अपरोक्ष-प्रत्यक्ष ज्ञान जिसको हो रहा है, जिससे प्रकाशित हो रहा है, वह आप हैं।

कोई ऐसा माईका लाल नहीं है, जो अपने आपमें देश-काल, वस्तु प्रतीत करवा दे। हम देश-काल-वस्तुके साक्षी हैं। साक्षी देश-काल-वस्तुसे आक्रान्त नहीं है। इसलिए जब परिच्छिन्न रूपसे जो हमारा वर्णन करेगा, वह तुरन्त कट जायगा। अतः ज्ञानके पूर्व श्रद्धा और बादमें निष्ठा। श्रद्धामें स्थिरताका निवास निष्ठा है।

भक्ति ज्ञानके पूर्व है। प्रपञ्च निवृत्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख ज्ञानके बाद है। ज्ञानके पहले ध्यान है, वही वादमें प्रपञ्चका अभान है।

**यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य**
**मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात्॥ ४८॥**

आप कहाँ रहते हैं? कभी-कभी कोई हमसे पूछने आते हैं तो हम पूछ लेते हैं, 'क्या करते हो? (भजन, पूजन, ध्यान, धारणा?)' वे बोलते हैं, 'हम नौकरी करते हैं, अमुक दुकान करते हैं।' हमने पूछा कुछ और वह बताता है कुछ और! तो हम कहते हैं, 'ठीक-ठीक'। अरे, हमको उसकी नौकरी, दुकान लेकर क्या करना है? हम तो पूछते हैं, 'यदि यज्ञोपवीतधारी हो, तो गायत्रीका जप, सन्ध्या-वन्दन, इष्टदेवका भजन करते हो कि नहीं? हम यह थोड़े ही पूछते हैं कि कितनी आमदनी है तुम्हारी?'

**यो वा एतेष्वेव तिष्ठति।**

तुम कहाँ खड़े हो? 'झंडा गाड़ो जायके, हद-बेहदके पार।' हद-बेहदके पार, दूर जहाँ अनहद बाजे!' आप बस इसीमें रहिए। सामने वस्तु न दिखती हो तो भक्ति करो, दिखती हो तो सेवा करो! अपने आपमें अनुभव होती है। स्पर्श करके बारम्बार जानो। तुमने जो श्रवण किया है, वस्तुके स्वरूपका निश्चय किया है, उस निश्चित वस्तुको बारम्बार स्पर्श करते जाओ।

वेदान्ती लोग तीन तरहका ध्यान मानते हैं। यदि आप स्वयं दस ग्रन्थोंको पढ़के, मनन करके समझेंगे, तब यह बात आपके ध्यानमें आयेगी।

१. बहिरंग साधनके रूपमें ध्यान—'समाधान' नाम रखते हैं। इसकी परिभाषा है—'ध्यानम् निर्विषयं मनः।' अपने मनको

निर्विषय कर दो। विषयका मनमें न आना ही ध्यान है। यह हुई मनकी शुद्धि और यह बहिरंग साधन है।

२. अनात्माकार-वृत्तिका तिरस्कार करके आत्माकार वृत्तिका प्रवाह। 'मेरे सिवा दूसरा कोई है' यह वृत्ति न होवे और आत्माकार-वृत्तिका प्रवाह होवे। इसको बोलते हैं ध्यान। वृत्ति प्रवाहरूप होनेसे इसे ध्यान नहीं, 'दिध्यासा' बोलते हैं। 'ध्यान' शब्दसे 'सन्' प्रत्यय जोड़ा जाता है, तब ध्यानकी इच्छाका नाम 'दिध्यासा' माने आत्माकार-वृत्तिका प्रवाह होता है। 'अब छुआ, अब छुआ—यह आत्मा, यह आत्मा, यह आत्मा !'

३. तीसरा ध्यान बहुत विलक्षण है। वह तो ज्ञान होनेपर ही होता हैं। कर्तृत्वभोक्तृत्वोल्लेख-शून्य माने 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' यह मनमें उदय न हो ! वासना-स्पर्श-शून्य-मनमें कोई वासना न हो ! शुद्ध-सात्त्विक प्रतीतिरूप अन्तःकरणमें जो आत्मचैतन्यका झिलमिल झिलमिल प्रतिविम्ब है, तत्त्वज्ञानी मनुष्यका शुद्ध अन्तःकरण वह है। दुनियाकी कोई बात ध्यानमें नहीं आ रही है ! अपने-आपमें अन्तःकरण भी मिथ्या है। कर्तापन, भोक्तापनका उदय हुआ तब भी उसे ध्यान नहीं कहेंगे, भले ही वह प्रातिभासिक हो। बादमें ज्ञानमें भी बाधितानुवृत्तिसे कर्तापन-भोक्तापनका उदय होता है।

लोग कहते हैं, 'ठीक है, ध्यान यह है ?' जब तत्त्वज्ञानीके अन्तःकरणमें कर्तापन-भोक्तापनका उदय न हो, वासना न हो, प्रतीतिमात्र शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरण हो और झिलमिल-झिलमिल अपने आपमें तत्त्वका प्रतिविम्बन हो रहा हो ! कुछ मालूम न पड़े, इस बेहोशीका नाम ध्यान नहीं है। यह तो आप एक इन्जेक्शन लगवाकर, गोली खाकर, दवा सूँघकर कर सकते हैं। जो स्थिति कुछ खा लेने, सूँघ लेने या इन्जेक्शन लगवानेसे बेहोशीकी हो जाती है, उस अभावका नाम परमात्माका ध्यान नहीं होता है। ध्यान माने परमात्माका

स्फुरण ! 'आप कहाँ रहते हो भाई ! आपका निवास-स्थान ?' लोग बताते हैं, 'कभी श्रद्धामें, 'कभी भक्तिमें, कभी ध्यानमें ।' बस-बस !

**अमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥ ४८ ॥**

मोक्ष तो इसीको मिलता है। 'अमुष्य' शब्दका प्रयोग होता है प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों अर्थोंमें दूर-निकट दोनोंके लिए। इसका मोक्ष है। अरे, इतनी जल्दी मोक्ष कैसे हो गया ? आपको क्या सुनायें ? आप मोक्ष नहीं चाहते हैं। मोक्ष चाहनेमें बस इतनी चुटकी बजानेकी देर है। आप क्या चाहते हैं ? देखलो ! धन, इज्जत, कुर्सी, औरत, मर्द कुछ-न-कुछ चाहते हैं ! आपकी चाहके गर्भमें संसार है। जिस चाहके गर्भमें संसार नहीं होगा, मोक्ष आ जायगा। तब ! देखो, यह जो बन्धन है, वह अविद्या-कल्पित है। धर्मात्मा लोग मानते हैं कि पाप करते-करते तुम अपने किये हुए पापके बन्धनमें बँध गये हो ! इसलिए तुम पाप करना छोड़कर जब धर्म करोगे तब उसके बन्धनसे छूटोगे। यह धर्मका सिद्धान्त है।

अरे, अपने प्रभुको भूलकर तुम दुनियाकी यादमें खो गये हो ? प्रभुको भूलना ही बन्धन है। प्रभुको तो आप भूल गये और दुनियादारीके बन्धनमें बँध गये कि 'हमें यह चाहिए, यह चाहिए।' यह जो प्रभुकी विस्मृतिका बन्धन आया है अपने जीवनमें, वह बन्धन प्रभुकी स्मृतिसे छूट जायगा, यह भक्ति-सिद्धान्त है। शैव-लोग कहते हैं, 'आत्माकी विस्मृतिसे बन्धन है।' यह विस्मृति भी आत्माका एक उल्लास है—क्योंकि दूसरा पराया तो कोई है नहीं ! भक्त लोग कहते है, यह भी भगवान्की लीला है। भगवान्की विस्मृतिसे ही बन्धन है और भगवान्की निरन्तर स्मृति-धाराका उदय होनेपर मोक्ष होगा।

वेदान्ती कहते हैं, 'न बन्धन है पाप-वृत्तिसे, न विस्मृतिसे। बन्धन सिर्फ नासमझीसे है। नासमझीके अलावा बन्धनका कोई

कारण नहीं है। यहींसे वेदान्त प्रारम्भ होता है। जबतक आप बन्धनका कारण केवल भ्रमको नहीं मानते हैं, तबतक वेदान्तका ज्ञान आपके लिए निष्प्रयोजन है। केवल नासमझी—भ्रम।

आपकी सांस कितनी लम्बी है? जितनी नाकमें आती-जाती है, उतनी ही बड़ी है? सबका ख्याल असलमें ऐसा ही होता है। जितनी सांस नाकमें आती-जाती है, शरीरमें जाकर क्रियाशीलता उत्पन्न करती है। यह जो धौंकनी चलती रहती है। लेकिन आप विचार करके देखिए कि संसारमें जो हवा बह रही है, उससे जुदा क्या आपकी सांस-कुछ है? समष्टिकी वायु न हो तो क्या आपकी सांस रहेगी? लोग तब बताते हैं, 'हाँ महाराज, जब संसारमें हवा न रहेगी, तब तो यह शरीर ही नहीं रहेगा। ठीक है, तब तो तुमने अपने शरीरको 'मैं' और सांसको 'मेरा' समझा। अब आप देखिए, 'असलमें आप शरीर नहीं हैं। जितनी रोटी थालीमें होती है, वह परायी होती है और मुँहके भीतर चली जाती है, तब 'मैं' हो गयी।' क्यों जी? रोटी थालीमें है तबतक अनात्मा है, और मुँहके भीतर चली गयी तो 'मैं–आत्मा' हो गयी? जो रोटी बाहर थालीमें है, वही भीतर शरीरके मटकेमें है। उसीका रसायन बनता है।

असलमें यदि तुम यह शरीर हो, तो सृष्टिका सम्पूर्ण अन्न तुम हो! अन्नमय-कोशका अर्थ यह होता है कि 'आओ, हम साढ़े तीन हाथके ये शरीर नहीं हैं। आप समष्टि अन्न नहीं, समष्टि प्राण हैं, समष्टि मन हैं। जब दूसरा आदमी हमें गुस्सा या काम दिलाता है, तब वह हमारा मन बनाता है कि नहीं? दूसरा हमारे मनको बनाता है, हम दूसरेके मनको बनाते हैं। असलमें हमारा मन समष्टिका मन है। इसलिए जिसका मन शुद्ध हो जाता है,

उसके मनमें दूर-दूरकी बात, दूसरेके मनकी बात फुरने लग जाती है।

असलमें आप क्या हैं? आप साढ़े-तीन हाथके भीतर रहनेवाले हैं या सम्पूर्ण अन्न हैं? आप केवल शरीरमें चलनेवाली सांस हैं या सम्पूर्ण वायु हैं? आकाशमें शब्द आया, 'कक्का', 'चच्चा'। वायुमें गति आयी--एक धक्का, एक स्पन्द, दो स्पन्द, तीन स्पन्द! रूप माने तेजमें चिन्गारी, जलमें कण-कण, बूँद-बूँद! धरतीमें बालूका टुकड़ा आया। ये सब कहाँ हैं? पञ्चभूतके ये सारे गुण आपके मनमें हैं और इस मनके मालिक आप हैं, साक्षी आप हैं, अधिष्ठान आप हैं। समझदारी न होनेके कारण आपने अपनेको बहुत गलत जगहपर बाँध दिया है।

**अविद्याकल्पितात् देहबन्धात्**—एक बात तो आपको मालूम होगी जरूर कि कई चीजोंको एकत्र करके एक चीज बनायी जाती है। जैसे पुड़ियामें दवा है तो वह आपके खानेके लिए नहीं होगी, रोगीके लिए होती है। कई पुर्जा जोड़कर जो मोटर बनती है वह मोटरके लिए नहीं होती, मोटरपर चढ़नेवालेके लिए होती है।

**'संघात्-परार्थत्वात्'**—बहुत चीजोंके संघटनसे जो बनता है, वह अपने लिए नहीं होता, दूसरेके लिए होता है। इस देहमें सारे अंग–उंगलियोंके मोड़, अंगूठा, कोहनी, पुखना, टखना, घुटना, ये सब अलग-अलग हैं। इन्हें जोड़ा गया है। इन्हें आपसमें ऐसे फिट किया गया है—बैठाया गया है कि लगे रहें। कहीं रस्सीसे इन्हें बाँधा गया है—आँतोंसे! इसमें चरबी, मांस, खून, ये सब न होंगे तो ये हड्डियाँ जुड़ी नहीं रहेंगी बिखर जायेंगी सब-की-सब। वह चीज तो खुदके लिए नहीं, किसीके चढ़नेके लिए, किसीको साधन करके किसी साध्यकी प्राप्तिके लिए, किसीके कोई लक्ष्य-

निश्चयके लिए, किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए है। यह शरीर साधन है, न साध्य है, न साधनका फल है। यह तो किसी साधकके लिए, जीवात्माके लिए, किसी वस्तुको सिद्ध करनेके लिए बना है!

ब्रह्माजीने क्या किया? अपने आपको तो भूल गये और इसीको अपना 'मैं' मान लिया—अविद्या-कल्पितात् देहबन्धात्! अपने आपसे बँध गये। एक कुम्हार था, वह गधोंको लेकर माटी लेनेके लिए जा रहा था। दोपहरको वहीं गधोंको बाँध देता। विश्राम करके फिर माटी लेकर आ जाता। एक दिन एक रस्सी कम थी। सब गधे बाँध दिये, एक खुला रहा, तो कान पकड़कर वह खड़ा रहा कि कहीं भाग न जाय। एक महात्माने उसे बताया—'जहाँ रोज उसे बाँधते हो वहीं झूठमूठकी रस्सी बाँध दो।' कुम्हारने उसके पैरोंमें झूठमूठकी रस्सी लगा दी। अब तो गधा वहीं खड़ा रह गया। वहीं बैठा, वहीं लेटा। जब शाम हुई तो लौटते वक्त और गधोंको तो छोड़ दिया, उसे न छोड़ा। अब, वह गधा तो वहाँसे हिले-डुले नहीं, टस-से-मस न हो। क्या टोना-टोटका इसे हो गया? भूत-प्रेत-ईश्वर उसे बांध गया? माया बाँध गयी। कोई नहीं बाँध गया, गधेका मन अपने ख्यालसे वहाँ बँध गया।

**'मानि-मानि बन्धनमें आयो।'**

लौटते समय महात्माने यह देखा तो बोले, 'भाई, तू वहममें मत पड़। जैसे झूठमूठ बाँधा था, वैसे ही झूठमूठ छोड़ दे!' कुम्हार गया उसके पास और झूठमूठ छोड़ा कि गधा वह भगा! गधेको किसने बाँधा? उसकी भ्रान्तिने। वह भूलमें पड़ गया कि 'मैं बन्धनमें हूँ।' हमारे पास एक तलवार है। आपने कभी देखी है। आप अपना बन्धन लाकर हमारे सामने रख दीजिए। हम उसे काट देंगे। एक मिनट, एक सेकण्ड भी नहीं लगेगा! कौएको तो देखा नहीं है और 'कौआ कान ले गया'—जैसे कोई मान ले?

एक देहाती सज्जन थे। उन्हें गुस्सा बहुत जल्दी आ जाता था। एकने कहा, 'ओ! तुमने ख्याल नहीं किया? देखो, वह कौआ तुम्हारा कान लिये जा रहा है?' उस सज्जनने तो न आव देखा, न ताव। वे तो लाठी लेकर कौएके पीछे दौड़े। इधर-उधर। 'क्या हो गया?' 'कौआ हमारा कान ले गया।' भले मानुस! पहले अपना कान तो देख लो! है कि नहीं? है, कान कहीं गया नहीं। ऐसे ही पहले देख तो लो, कि बन्धन अपनेमें है कि नहीं है!

**मानि मानि बन्धनमें आयो,**
**नलिनीको सुवटा! कौने पकर्‌यौ?**
**अपुनसे आपुन हि बँध्यौ।**

अविद्यासे बन्धन है। अविद्या-कल्पितात् देहबन्धात्।

आप बँधे हुए हैं तो कहाँ? देहमें। देहकी पूँछ तो बहुत बड़ी होती है। ठीक है, पर इस देहमें भी हम बँधे कैसे? अपने आपको न जानकर! हम इतने बड़े हैं। आकाशसे भी बड़े! हम बँधेंगे कैसे? पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे। इन दिशाओंकी कल्पना होती है न! इन दिशाओंके अधिष्ठान हम हैं। एक देहमें बँधेंगे कैसे? भूत-भविष्य-वर्तमान काल है। इस कालके भी हम साक्षी हैं। अधिष्ठान हैं! तो हम कालमें बँधेगे कैसे? सारी वस्तुएँ हमारी कल्पनामात्र हैं। दृश्य दृष्टिका विलास है। हमारा ही दृश्य हमें कैसे बाँधेगा? न भूत-भविष्य-वर्तमान काल हमें बाँध सकते हैं, न देशकी लम्बाई-चौड़ाई, न दृश्यमात्र वस्तुएँ हमें बाँध सकती हैं। बन्धन कहाँ है? नासमझीसे जो बन्धन माना जाता है, वह समझदारीसे छूटता है। यह क्या हुआ? ज्ञान ही इस बन्धनसे छुड़ानेवाला एकमात्र उपाय है, यह इससे सिद्ध हुआ। अब कहो तो एक और नहलेपर दहला लगा दूँ?

रहस्य क्या है? असलमें नासमझीसे जो भाव होता है, वह

झूठा होता है। जैसे ठूँठको भूत माना तो ठूँठ भूत हो गया। नासमझीसे ठूँठको भूत मान लिया, इसलिए भूत है ही नहीं और ठूँठको जान लेनेपर भूत भाग गया। इसका मतलब है, भूत था ही नहीं, तो भागेगा कहाँसे ? अपने स्वरूपको न जाननेसे बन्धनकी कल्पना है। अपने स्वरूपको जाननेसे बन्धनकी निवृत्ति है। इसका मतलब है, 'अपने स्वरूपमें न बन्धन है, न बन्धनकी निवृत्ति है।'

**अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव**
**ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।**
**तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि-**
**रज्ञानकार्यं प्रदेहत्समूलम् ॥ ४९ ॥**

**परमात्मनतव**—एकने कहा कि 'नहीं, महाराज हम मनुष्य हैं!' अरे, कौन समझे मनुष्य अपनेको ? मनुष्य समझना तो बड़ी चीज है! लोग अपनेको समझते हैं–'ब्राह्मण,' 'मुसलमान!' सब अपना हो जाय! अपना मजहब, गैर मजहब! सब अपना हो जाय और अपनेको जीव समझ ले तो सब प्राणी अपने हो जायँ! जूएँ, मच्छर भी जीवात्मा हैं। जीव-जीव एक!

अपनेको न हिन्दू, न मनुष्य, न जीव समझें! अपनेको समझते हैं—'पति, पुत्र, दुकानवाले।' हम यह कमाई करेंगे, हम ऐसी बेईमानी करेंगे तो हमें यह फायदा होगा! अपनेको हेय समझते हैं! 'हम बेईमान, चोर, झूठे छली, कपटी, खूनी!' अपने बारेमें आपका कोई अच्छा खयाल नहीं है! वही तो रेकार्ड होता रहता है! भगवान्‌ने यह हृदय जो बनाया है, उसमें आपके अन्तःकरणमें दूसरोंका आपके बारेमें जो खयाल है, वह रेकार्ड नहीं होता! अपने बारेमें जो अपना खयाल होता रहता है, वही रेकार्ड होता है! उसीको चित्रगुप्त यमराजको सुनाते हैं। चित्रगुप्त उसे अपने पास नहीं रखते, हर अन्तःकरणमें एक मशीन लगा देते हैं और

आपका अपने बारेमें जो खयाल होता रहता है, वह उसमें रेकार्ड होता रहता है ! 'मैं पापी !' 'मैं पुण्यात्मा !' 'मैं रागी' 'मैं द्वेषी।' 'मैं सुखी,' 'मैं दुःखी !' वही तो है, बस ! मामला उतना ही है ! एक ऐसी युक्ति है कि वह रेकार्ड होना ही बन्द हो जाय !

'मैं' के बारेमें जितना खयाल है, 'मैं पापी', तो तुम खुद ही रेकार्ड कर रहे हो ! हस्ताक्षर हो गया न ? वही जजके सामने पेश होगा जो तुमने हस्ताक्षर कर-करके रसीद दी है ! जो दस्तावेज हैं, वही तो यमराजके सामने जायगा ! तो अज्ञानके कारण अपने आपको पहचानना नहीं।

**परमात्मनस्तव**—अहं माने अहंकार नहीं है, सब अहंकारोंके भीतर जो एक है, वह है। प्रत्येक अहंकार अपना पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अपना सोना-जागना है ! अच्छाजी, आप अपनेको हिन्दू मानते हैं। बिलकुल गाढ़ नींदमें सो जायँ ! तब भी आप अपनेको हिन्दू मानते हैं ? कहाँ गया आपका पापीपना, पुण्यात्मापना, हिन्दूपना, मनुष्यपना, रागीपना, द्वेषीपना, सुखीपना, दुःखीपना ? सुषुप्तिमें कहाँ गया ? 'मैं' का लय हो जाता है।' 'मैं' निद्रित हो जाता है। आप ऐसे हैं कि बिना किसीके हुए, आप तो सबसे निराले हैं और आपके सिवा कोई नहीं है। 'परमात्मनः' का अर्थ होता है, एक मधुर है, एक परम मधुर है। एक आत्मा है, एक परम आत्मा है। आत्मा यदि अलग-अलग है, तो परमात्मा सबमें एक है। आप आत्मा नहीं, परमात्मा हैं। परमात्मनस्तव।

जैसे तुमको अपनी बुद्धि दिखती है, वैसी तुम्हें ईश्वरकी बुद्धि भी दिखती है ! नहीं ? तो तुम ईश्वरकी बुद्धिकी तो कल्पना करते हो। व्यष्टिने समष्टि बुद्धिकी कल्पना की है। असलमें अल्पज्ञता ही कल्पित करती है। आप एक बातपर ध्यान दीजिए। यह

परमार्थ-विद्या, वेदान्त-विद्या कोई साधारण, हँसी-खेलकी विद्या तो नहीं है न ? यह तो बड़ी विद्या है।

परमात्मा अल्प और सर्व दोनोंसे निराला है। वह 'ज्ञ' मात्र है। वह अल्पका ज्ञाता या सर्वका ज्ञाता नहीं है ! उसमें सर्व और अल्प नहीं है। वह तो 'ज्ञ' माने 'ज्ञप्ति-मात्र' है, 'स्व-मात्र' है। परमात्माका स्वरूप बहुत विलक्षण है। आप कभी विचार करके देखिए, आपका स्वरूप क्या है ? जो दीखता है उसे आप अपना स्वरूप मान बैठे हैं, दिखनेके लिए तो मेरे समक्ष यह किताब दीख रही है।

अब आओ, अपने आपको जैसे छोड़कर सामने दिखनेवाली चीजको 'मैं' मानने लगे ! क्यों भाई ? यह व्यष्टि बुद्धि ? किसीकी बुद्धि सर्वज्ञ होती है। एक और बात है। हमको एक चीजकी जरूरत थी तो उसके एक जानकारसे पूछा कि वह कैसे मिलेगी ? उन्होंने एक आदमीको बताया—'इनको लेकर जाओ ! जंगलमें अमुक बूटी होती है। इनको उसकी पहचान करा दो।' वह बूटीको जाननेवाला था। परन्तु, 'वह बूटीको जाननेवाला है' यह किसने बताया ? जो पहलेसे बूटीको जानता था, उसने हमको बताया 'यह बूटी जाननेवाला है।' यदि वह बूटी न जानता होता तो वह यह न पहचान सकता कि यह बूटी जानता है कि नहीं ? माननेमें कल्पना ही करनी पड़ती है।

आजकल जब ब्रह्मडंडीकी और लक्ष्मणाकी जरूरत पड़ती है तो अनजान लोग न जाने किस-किसको बता देते हैं कि 'यह ब्रह्मडंडी है और यह लक्ष्मणा है।' अनजान लोग यह भी नहीं जानते कि यह इसे पहचानता है कि नहीं ! सर्वज्ञको कौन पहचानेगा ? कौन सर्वको जानेगा कि 'सर्व ऐसा होता है या यह सर्वको जानता है।' कैसे जीव ईश्वरको पहचानेगा ? ईश्वरकी कृपासे इसमें माया यह

है कि केवल अज्ञानसे ही अनात्मबन्धन है। और फिर उसीके साथ अनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।

जब गान्धीजीका असहयोग-आन्दोलन होता था–कांग्रेसका, तो हम एक सर्राफकी दुकान बन्द करवानेके लिए स्वयंसेवकोंके साथ जाकर बैठे थे। वह तो हमारे चेलोंका गाँव था! पुलिसने आकर मेरे साथ सबको गिरफ्तार किया कि 'जितने लोग सत्याग्रह करने-वाले हैं, सब गिरफ्तार! चलो थाने!'

जब सब लोग चलने लगे तो मैं भी चलने लगा। उन्होंने पूछा 'आप क्यों चलते हैं? आपको तो हमने गिरफ्तार ही नहीं किया है।' क्यों? हम तो अपनेको गिरफ्तार मानकर पुलिसके थानेपर जा रहे थे और पुलिसने बताया कि 'नहीं' हमने आपको गिरफ्तार नहीं किया है। आप तो अपने शिष्योंसे मिलने आये थे। कोई सत्याग्रह करने थोड़े आये थे?' इसी प्रकार, गिरफ्तार तो आप भी नहीं हैं! जैसे भूलसे हमने अपनेको गिरफ्तार मान लिया था, वैसे ही आपने भी अपनेको गिरफ्तार मान लिया है।

**अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव**
**ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।**

इसीको संसृति बोलते हैं। घसीटे जा रहे हैं।

**तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि-**
**रज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम्।४९।**

आत्मा और अनात्माको अलग-अलग करो। तब ज्ञानकी आग उगेगी और वह अज्ञान एवं अज्ञानके कार्यको समूल दग्ध कर देगी।

## : २१ :

### २३-६-७५

जो लोग किसी कामके लिए थोड़ी तकलीफ उठाना चाहते हैं, उनपर वह काम अपना पक्का असर छोड़ जाता है, और जो लोग तकलीफ थोड़ी-सी भी नहीं उठाना चाहते, आरामसे ही कोई चीज मिल जाती है, उसका पक्का असर दिलपर नहीं बैठता है। आप लोग वर्षामें आते हैं न! इसीसे मालूम पड़ता है, कि कोई मतलब-की बात है, नहीं तो, बिना मतलबके कोई इतनी तकलीफ क्यों उठावे?

जो चीज अपनी असलियत जान लेनेके बाद मिट जाती है, वह झूठी होती है और जो चीज उसकी असलियत जाने बिना मालूम पड़ती है, वह भी झूठी होती है। एक टुकड़ेको हम सोना समझते थे, परन्तु जब कसौटी पर जाँच लिया उसकी असलियत मालूम हुई, तो वह सोना नहीं था। असलियत मालूम होनेपर उसमें जो सोनापनका भ्रम था, वह भ्रम मिट गया। चीज नहीं मरी, वह तो वैसी ही पीली-पीली दिखाई दे रही थी।

वेदान्तियोंका अध्यास दुनिया मारनेके लिए नहीं है, अपना भ्रम मारनेके लिए है। विवेक जिस अधिकरणमें उदय होता है, जिस वर्तनमें विवेक पैदा होता है, रहता है, उस वर्तनमें भ्रम नहीं रह सकता। जैसे एक ही आधारमें आग और पानी दोनों रखें तो या तो आग ही रहेगी या पानी ही रहेगा। दोनों कैसे रहेंगे? इस लिए विवेककी जरूरत है। यह बात तो मैं कई बार सुना चुका हूँ कि ये लोग, जो मजहब-मजहब कर रहे हैं उनकी समझमें सब मजहब बराबर-बराबर हैं। वैदिक भी एक मजहब, हिन्दू भी एक मजहब! उन्हें मालूम नहीं है कि विवेककी एक युक्तिका आदर मजहबी लोग नहीं करते हैं। मजहबी लोग तो अपने पैगम्बरका आदर करते हैं। वह मजहब किताबका है, विवेकका नहीं। इस-लिए वेदान्त मजहब नहीं है।

यदि ईसा आकर हमें ईश्वर-पुत्र होनेपर तर्क-वितर्क करनेकी छुट्टी दे दे, तो हम बता दें कि ईश्वरका पुत्र कैसा होता है। और खास ईश्वरका सन्देश लेकर मुहम्मद साहब आये हैं, इसपर तर्क-वितर्क करनेकी छुट्टी दे दी जाय तो है कोई माईका लाल जो इमलीके खोडरमें-से निकले हुए पत्तोंको ईश्वरके हाथका लिखा हुआ साबित कर दे? मजहबमें विवेकका आदर नहीं होता।

वेदान्त विवेकका, अनुभवका आदर करता है। इसलिए आत्मा और अनात्माके विवेकसे जो ज्ञानकी आग निकलती है, वह अज्ञान-को जला देती है। इसमें यह बात नहीं चलती कि हम फलाने सम्प्रदायके हैं।

परमहंस श्री रामकृष्णकी एक बात याद होगी। वे कहते थे, 'जब हम पेड़ लगाते हैं तब पौधा छोटा होता है। उसके चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगानेकी जरूरत पड़ती है जिससे वह सुरक्षित रहे। जब वह बड़ा पेड़ होकर बढ़ जाता है, तब काँटेकी बाड़को

तोड़कर फेंक देते हैं। तब जरूरत होती है कि दूसरे लोग उसकी छायासे लाभान्वित हो सकें।

यह सम्प्रदाय पेड़ नहीं है, यह तो बाड़ है, जिसे विवेक-वृक्षके बड़ा हो जानेपर तोड़कर फेंक दिया जाता है। सम्प्रदायपर विवेककी आग जला दें।

अब प्रश्नका रहस्य बताते हैं। प्रश्नका निरूपण है—

शिष्य उवाच

**कृपया श्रूयतां स्वामिन्प्रश्नोऽयं क्रियते मया।**
**तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥ ५० ॥**

यह श्लोक तो बहुत मामूली है, रचनाकी दृष्टिसे। पुराने जमानेका प्रथमा-पास विद्यार्थी हो तो ऐसा श्लोक लिख सकता है। नये जमानेका तो आचार्य भी लिख सके कि नहीं, इसमें शंका है। परन्तु जिस प्रकारके लोगोंके लिए बात कही जाती है, उनकी भाषामें बोलना होता है। श्लोक देखिए—

'**कृपया श्रूयतां स्वामिन्।**' ऐसे नहीं कि आप भी अपने गुरुजी-
के पास जाकर यही श्लोक बोलना। यह नमूना है प्रश्नका कि किस
ढंगसे प्रश्न करना चाहिए। यह कोई मन्त्र नहीं है कि आप द्वादशा-
क्षर मन्त्र बोलने लग गये गुरुजीके सामने। इसी ढंगके प्रश्न होने
चाहिए। एक बात तो यह जाहिर होती है इसमें कि गुरुके प्रति
शिष्यकी बड़ी श्रद्धा है। 'कृपया श्रूयतां स्वामिन्।'

यह उलाहना मत दो कि तुम हमारी बात सुनते नहीं। ऐसे
कहो कि 'हे महाराज! आप अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। आपको
दुनियाकी याद नहीं आती। आपकी अनुभूति अनन्त और अगाध
है, परन्तु आप थोड़ी देरके लिए कृपा धारण करेंगे और मैं जो
पूछता हूँ उसे सुनेंगे।' शिष्य कहता है, 'आप तो रहते हैं समा-
धिमें। अपने अनुभवमें डूबे रहते हैं। स्वामी! यदि आप कृपा करके

ध्यान नहीं देंगे तो हमारा प्रश्न भी नहीं सुन सकेंगे। देखो न! गुरुजीकी स्थितिपर शिष्यकी कितनी उत्तम श्रद्धा है कि वह कहता है, 'आप कृपा करके ही सुनेंगे।' यदि आप कृपा नहीं करेंगे तो न आपको सुननेकी आवश्यकता है, न आप सुन सकेंगे।

**'प्रश्नोऽयं क्रियते मया'**—'मैं यह प्रश्न करता हूँ।' अच्छा, मैं अब आपको प्रश्नका ढंग बताता हूँ। प्रश्न करनेवाला चाहे जो उपाय करे, वह छिपा नहीं सकता। प्रश्न माने प्रश्नकर्ताका दिल जाहिर हो जायगा। एकने आकर प्रश्न किया कि 'स्वामी! यह आत्मा और ब्रह्म एक है, तो फिर यह आत्मा दुःखी क्यों है?'

श्रीउड़ियाबाबाजीसे यह प्रश्न हुआ, तो वे बोले, 'बेटा, तुम कहाँसे सुनकर आये हो कि आत्मा और ब्रह्म एक है?' सुनी-सुनाई बातोंपर प्रश्न नहीं किया जाता है। यदि आत्मा और ब्रह्म एक है यह ज्ञान तुमको हो गया है तो 'आत्मा दुःखी है' इस प्रश्नके साथ इसका कोई जोड़ नहीं है। यदि 'आत्मा दुःखी' है यह तुमको ज्ञान है तो 'आत्मा ब्रह्म है' इस ज्ञानके साथ उसका कोई मेल नहीं है। प्रश्नकी संगति तो होनी चाहिए न?

एक बात और है। प्रश्न भी कोई स्वयंभू नहीं होते, न स्वयं-प्रकाश होते है। प्रश्नके कई निमित्त होते हैं। कोई बात सुनी हुई तो कोई बात देखी हुई या जानी हुई होती है। सुने हुए, देखे हुए या जाने हुएके जो संस्कार होते हैं, उसीमें-से प्रश्नका अंकुर निकलता है। प्रश्नके निमित्त होने चाहिए। पहले जो वेद-वेदान्तका हलका-फुलका श्रवण करेगा, उसके मनमें गम्भीर प्रश्नका उदय होगा। प्रश्नोंमें भी एक संगति होती है।

प्रश्नके उदयका निमित्त क्या होता है? एक बात और सुना दें आपको! कुछ लोगोंको मालूम है, कुछ लोगोंको मालूम नहीं

है। वेदान्तमें प्रश्न जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए नहीं होता। जिज्ञासा-को काटनेके लिए होता है। यदि आपने प्रश्न कर दिया कि, 'अरे, हाय-हाय !! आपने तो हमारे प्रश्नको ही काट दिया' तो क्या आप अपने प्रश्नको सच्चा सिद्ध करनेके लिए आये थे ?

किसी भी गणितका उत्तर तबतक ठीक नहीं निकलता, जब तक संख्याएँ कट नहीं जातीं। यदि प्रश्नकी इच्छाका पेट भर गया तो वह पच जायगी और फिर नयी इच्छा उदय होगी। यदि प्रश्न-की इच्छाका पेट फट गया तो फिर कभी प्रश्न नहीं उठेगा। ब्रह्म-ज्ञान-विषयक जिज्ञासाका पेट कभी भरा नहीं जाता। जिज्ञासाका पेट फाड़नेके लिए होता है। यह बात दुनियामें बहुत कम लोग जानते हैं।

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।**

(गीता ७·३)

हमारा प्रश्न कटता गया, कटता गया। यह भी कट गया, यह भी कट गया। रहा क्या ? प्रश्न नहीं रहा, मैं रह गया। यदि प्रश्न ही रह जायगा, उसका उत्तर ही रह जायगा, उसकी पूँछ ही रह जायगी तो वह वेदान्तका उत्तर नहीं हुआ, सत्यका उत्तर नहीं हुआ। जो लोग अपनी बात रखनेकी जिद्द रखकर प्रश्न करते हैं, वे वेदान्तका नहीं धर्मका प्रश्न कर सकते हैं। पूछो कि 'एका-दशी कब है ?' प्रश्नका पेट अभी भर दें। एकादशी होती ही नहीं। ऐसे थोड़े ही कहेंगे ! कहेंगे कि 'एकादशी अमुक दिन है।' आपके प्रश्नका पेट भर गया।

कोई पूछे कि 'इष्टकी प्रसन्नताके लिए किस मन्त्रका जप करें ?' तो, अभी मन्त्र बताते हैं। तुम्हारे प्रश्नका पेट भर देंगे। यह न कहेंगे कि न देवी है, न मन्त्र ! परन्तु तुम जब यह कहोगे

कि 'यह ब्रह्म है', 'वह ब्रह्म है', 'ऐसा ब्रह्म नहीं है,' 'वैसा ब्रह्म नहीं है' तो तुम्हारे प्रश्नको हम काट देंगे। आत्माकी ब्रह्मता बिना प्रश्नोत्तरोंको काटे होती ही नहीं। द्वैतका निषेध किये बिना अद्वैतकी सिद्धि होती ही नहीं। यह अद्वैतसिद्धिका प्रथम पैराग्राफ है! केवल द्वैतका निषेध किया जाता है और अपने आत्माकी अद्वितीयताकी सिद्धि होती है। यह प्रश्नकी रीति है।

प्रश्नकी चर्चा माने यह नहीं कि हमने जाकर लट्ठ मारा और गुरुजीने जाकर लट्ठ खड़ा कर दिया। लट्ठ-लट्ठ जाकर लड़ गये। गुरुजीसे ऐसे प्रश्न नहीं किये जाते हैं। अपने मनमें वृत्तियोंका जो संघर्ष होता है, उनके निवारणके लिए गुरुजीसे प्रश्न किया जाता है! पोथियोंकी टक्कर मिटानेके लिए गुरुजीसे प्रश्न नहीं होता।

हमारा ऐसा खयाल है कि हमारे युगमें हमें जैसा प्रश्नोत्तर देखने-सुननेको मिला है, वैसा शायद ही किसीको मिला हो! जरूर मिलता होगा! 'बाबा, यह सृष्टि ईश्वरने बनायी है?' इसका उत्तर आपको बतावें? 'ईश्वरने नहीं बनायी है तो क्या तुम्हारे चच्चाने बनायी है?' आपके ध्यानमें आवेगी नहीं यह बात यदि हम न बतावें। कुछ ही लोगोंके ध्यानमें आ सकती है। 'यदि सृष्टि बनायी गयी है तो उसको बनानेवाला ईश्वर ही हो सकता है। और कोई नहीं हो सकता। प्रकृति बना नहीं सकती, न बन सकती। जीव सृष्टि बना नहीं सकता, बनी हुई देख सकता है। तो फिर क्या तुम्हारे चच्चाने बनायी है?' यह उस प्रश्नका उत्तर है।

असलमें प्रश्नकर्ता इतना कमजोर है कि वह बिना बिचारे सृष्टिको 'है' मानता है। उसे बनी हुई या बनायी हुई मानता है।

उसे बनानेवाला किसी औरको मानता है। इतनी तो मानता है और पूछता है, 'ईश्वरने बनायी है क्या ?'

हम यह नहीं कहते कि ईश्वरने सृष्टि बनायी है। हम यह कहते हैं कि यदि किसीने सृष्टि बनायी है तो वह बनानेवाला ईश्वर है। सृष्टि बनाना लक्षण है, लक्ष्य नहीं है। वेदान्तको समझना पड़ता है। ईश्वरकी स्थापना करके सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं जानी जाती, सृष्टिकी स्थापना करके ईश्वरको सिद्ध किया जाता है। यह उल्टा विचार—बहुत गड़बड़ है।

एक प्रश्न—'बाबा, वैराग्यपना तो बड़ा कठिन है। उसे जीव कैसे कर सकता है ?'

बाबा बोले—'अच्छा बेटा, अब ईश्वर ही वैराग्य किया करेगा।'

अरे, वैराग्य जीवको करनेका है, ईश्वरको नहीं। जब तुम कहते हो कि 'जीव वैराग्य कर ही नहीं सकता' तो क्या ईश्वर वैराग्य करेगा ?

अब दूसरा नमूना आपको सुनाता हूँ—'महाराज, जीवका स्वरूप क्या है ?' रमण महर्षि बोलते हैं—'बेटा, पूछनेवाला कौन है ?'

तुम पूछते हो, 'जीवका स्वरूप क्या है ?' बदलेमें उत्तरमें यह बताया कि पूछनेवाला कौन है ?

जयदयालजी गोयन्दका बोलते हैं—'एक जिज्ञासु है।'

रमण महर्षि कहते हैं—'जिज्ञासु माने जिसको जाननेकी इच्छा है। यह जाननेकी इच्छा किसको है ? तुमको है कि नहीं ? है, तो तुम जीव हो। यह जीवका स्वरूप है।

'महाराज, ध्यान किसका करें ?' 'प्रश्न कौन करता है ?

जो प्रश्न करता है, उसका ध्यान करो। कोऽहम् ?' यह तो मैंने बड़ी-बड़ी बातें सुना दीं। संस्कृतके पण्डित शास्त्रार्थ करते हैं, तो बड़े मजेदार प्रश्न होते हैं।

'तुम हार गये न ?' 'नहीं।' 'क्यों ?' 'हमारी मति हार गयी।' अर्थात् 'मत नहीं हारा, हमारे सिद्धान्तको बिलकुल आँच नहीं आयी। हमारी बुद्धि हमारे सिद्धान्तका समर्थन नहीं कर पाती है, यह बात हम मान लेते हैं। यदि हमारी बुद्धि कमजोर न होती तो वह सिद्धान्तका समर्थन कर लेती। हमारी बुद्धि हार गयी। हमारा सिद्धान्त नहीं हारा।' हम हस्ताक्षर करेंगे तो यह करेंगे कि 'हमारा सिद्धान्त गलत नहीं है।' यह संस्कृतके पण्डितोंका शास्त्रार्थ है।

एक ने कहा, 'बड़े सर्वज्ञ बनते हो ! बताओ कि हमारे मनमें क्या चलता है ?'

पण्डित क्या बोलता है, आपको बताऊँ ? 'तुम्हारे मनमें 'क्या' पदका अर्थ है। जिस समय तुमने हमसे पूछा 'क्या', उस समय तुम्हारे मनमे 'क्या' पदका अर्थ था।' सही है कि नहीं ? अच्छा, तो हम चालाकीकी बात नहीं सुनाते हैं।

एक आदमी आता है कि 'हमें बेटा कैसे मिले ?' 'हमारा व्याह कब होगा ?' 'हमें पैसा कैसे मिले ?' 'हमें कुर्सी कैसे मिले ?' चुनाव चलता है तो कई लोग मुझसे भी पूछ जाते हैं कि 'मैं खड़ा होऊँ कि नहीं ?' ये प्रश्न हैं न ? 'महाराज, लोगोंको बेहोश-मेस्मराइज्ड-हिप्नोटाइज्ड कैसे कर देते हैं ?'

एक प्रश्न है, 'ऐसा क्यों ?' 'क्यों' माने कारण या प्रयोजन। कारण पूर्ववर्ती होता है, प्रयोजन उत्तरवर्ती। हम पूछते हैं किसीसे 'यह काम क्यों किया ?' तब वह बता देते हैं हमें कि 'इस इच्छासे

प्रेरित हो करके किया। इनके कहनेसे, इनकी आज्ञामे किया। और इससे हमें सुख मिले इसलिए किया।' इस प्रकार 'क्यों' पदके दो अर्थ हुए—(१) पहले किस प्रेरणासे तुमने काम किया और (२) इससे तुम्हारे किस हेतुकी सिद्धि होनेवाली थी? यह प्रश्न वेदान्तमें बहुत ही गौण है। इतना हल्का-फुल्का है कि तीव्र जिज्ञासुके मनमें यह प्रश्न है ही नहीं।

लोग बोलते हैं, 'फिर कैसे क्या करें तो क्या हो? सोनेको कैसे गलावें? सिमेन्ट कैसे बनावें? यह दुनिया कैसे बनी? हम अपना अन्तःकरण कैसे शुद्ध करें? यह न कारणका प्रश्न है न प्रयोजनका। यह उपायका प्रश्न है। इसको भी वेदान्तमें एक नम्बरका नहीं मानते हैं, दो नम्बरका है—गौण है। वेदान्तमें एक नम्बरका प्रश्न क्या है? 'क्या है?' वस्तुके स्वरूपकी जिज्ञासा—वस्तुके कारणसे प्रयोजन बननेकी प्रक्रिया-विक्रियाकी जिज्ञासा नहीं, वस्तुके स्वरूपकी जिज्ञासा।

वेदान्त सीखनेवालोंको हम तुरन्त पहचान जायेंगे। ये पूछते हैं कि आदिकालमें सृष्टि कैसे हुई? किसी पण्डितसे जाकर अभी पढ़ो कि सृष्टि परमाणुसे हुई, प्रकृतिसे, ईश्वरसे या शून्यसे हुई।

हम जिसे 'भूत' माने 'बीता हुआ' बोलते हैं, वह अनादि होता है। कालकी आदिको क्या आप जान सकते हैं? काल कबसे शुरू हुआ, यह क्या आप जान सकते हैं? जब शुरू हुआ तब भी काल ही था, उसके पहले-पहले भी काल ही था। यही बात है न? जब अतीत अनादि है तो यह पूछना कि पहले-पहले सृष्टि कैसे बनी, यह प्रश्न काल्पनिक आधारपर हो गया। इसमें दोष क्या है? वर्तमान-बुद्धि कभी अनादि-भूतका साक्षात्कार नहीं कर

सकती। इसलिए उसका उत्तर हमेशा कल्पनाके आधार पर दिया जायगा। सृष्टि ईश्वरने क्यों बनायी ?

'वह आदमी सड़कपर क्यों जा रहा है ?' बताइये तो !

'वह बच्चा क्यों रो रहा है ?' बताइये तो !

'कुत्ता पूँछ क्यों हिला रहा है ?' अरे, इतना तक तो मालूम नहीं कि चींटी भीतपर क्यों चढ़ रही है ? बड़े अक्लमन्द बने हैं कि 'सृष्टि ईश्वरने क्यों बनायी' इसको समझेंगे ?

आदमीके ध्यानमें नहीं आता है कि वह क्या सोच-बिचार कर रहा है ? मीमांसाके क्षेत्रमें जिसका ज्ञान आता नहीं, जिसका ज्ञान शक्य नहीं, उसके बारेमें मान्यता ही कायम करनी पड़ेगी। 'जिज्ञासा क्या होगी ?' 'क्या' होगी ? हे ईश्वर ! 'यह क्या है ?' इसे पहले समझो।

'कैसे' प्रश्न विज्ञानका है वेदान्तका नहीं। 'क्यों' प्रश्न कल्पनाका है। हमें कल्पना करनी पड़ेगी कि ईश्वरने जीवोंको भोग देनेके लिए सृष्टि बनायी। ईश्वरने अपना ऐश्वर्य प्रकट करनेके लिए सृष्टि बनायी। प्रकृति पुरुषको भोग देनेके लिए परिणामको प्राप्त हुई। 'सृष्टि' का एक भाव हो है 'परिणामको प्राप्त होना'। सब फालतू ! सबका सब कल्पनाके क्षेत्रमें आता है। पहले समझो, सृष्टि है क्या ?'

एक बात समझो—कर्णने श्रीकृष्णको कहा—अर्जुन हमें धर्मके विरुद्ध मारने जा रहा है। हमारे रथका पहिया जमीनमें धँस गया है और यह हमपर बाण मार रहा है ! अधर्म है।

कृष्णने कहा—हे कर्ण ! यह समग्र युद्ध धर्मकी रक्षाके लिए हुआ है। यदि तुम्हें मार देनेसे धर्मकी रक्षा होती है, तो चाहे तुम्हें अधर्मसे—बेईमानीसे मारे ! द्रौपदीको तुम नंगा कर रहे थे तब धर्म

कहाँ चला गया था ? भीमसेनको जहर दिया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? समग्र दृष्टिसे विचार करो ! तुम्हारे मरनेसे धर्मकी रक्षा होगी या जिन्दा रहनेसे ? अरे, अब कायदा कहाँ गया ? रथीको विपत्तिमें फँस जानेपर बाण नहीं मारना चाहिए, यह धर्मयुद्धका कायदा कहाँ गया ! समग्र युद्धका उद्देश्य है, 'धर्मकी रक्षा'।

श्रीकृष्ण ! तुमने यह क्या किया ! युधिष्ठिरसे झूठ बुलवा दिया 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' समग्र धर्मकी रक्षा हुई ! यह तो इसका बड़ा विवेक है। मनुष्य विवेकको खोकर तो वेदको भी नहीं समझ सकता। मनुस्मृतिमें यह बात लिखी है—

**न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते (६.८२)**

जो अपने अनुभवको ठीक-ठीक नहीं समझ सकता, अपने हृदयमें उदय-विलय होते हुए वेदको ठीक-ठीक नहीं समझ सकता, वह अनादि वेदको कैसे समझेगा ? प्रश्न क्या है ? जो भावुक प्राणी है, उसे पूछिये कि ईश्वरने सृष्टि क्यों बनायी ? और 'क्यों बनी' यह आपको समझना हो तो किसी निरीश्वर, सेश्वर, सांख्ययोगीसे पूछिये। यदि आपको ही समझना है कि 'आत्मा क्या है', 'सृष्टि क्या है', 'परमात्मा क्या है' तो—यह नहीं कि 'ईश्वर परमात्मा क्यों बना'—ऐसे आप पूछेंगे, या कि 'क्यों बनाया गया, किस-किस मसालेसे, कैसे-कैसे ?'

प्रश्न होता है, 'ईश्वर क्या है ? जगत् क्या है ? जीव क्या है ?

**कृपया श्रूयतां स्वामिन्प्रश्नोऽयं क्रियते मया।**
**तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥५०॥**

यह हमारा प्रश्न उधार लिया हुआ नहीं है, यह हमारी तड़प-वेदनाका प्रश्न है। जबतक इसका समाधान नहीं होता, तबतक हमको नींद नहीं आयेगी। हम भोग-विलास नहीं कर सकते। वैराग्य बनावटी थोड़े होता है? आपके मनमें आत्मा-परमात्माका प्रश्न उठ जाता है, हमें रुपया-पैसा, खाना-पीना, सोना-पहनना अच्छा नहीं लगता। पहले हमारे हृदयकी यह वेदना दूर हो, कि 'परमात्मा क्या है?' भले हम दूसरेकी तरफ ध्यान देंगे, पहला प्रश्न हमारा यह है।

वैराग्य, त्याग, सहिष्णुता, अपमान सहनेकी शक्ति इस प्रश्नमें है। सौ-सौ धक्के खायें! गुरुजी महाराज कहेंगे, 'निकालो इसको अंटसंट पूछता है!' इज्जत लेकर गुरुजीके पास नहीं जाया जाता। अब अपने मान-बड़प्पनको लेकर जाना है न, तब गुरुजी बता देते हैं कि 'तू जिसे लेकर आया है जरा इसे देख! लखनऊमें हमारे एक खत्री मित्र थे। उन्हें जब घरसे वैराग्य हुआ तो वे घरसे निकलकर वृन्दावन आये। हमने देखा, चार कहाँर और बग्गीपर सामान लेकर उन्होंने आश्रममें प्रवेश किया और वे बोले—'स्वामीजी, अब तो मैं विरक्त होकर आश्रममें आ गया।' इस प्रकार त्याग—वैराग्यका भी कभी-कभी भ्रम होता है। एक बार हमारे मनमें कोई प्रश्न उठा। घड़ी तो थी ही नहीं, सोचा कि 'चलो चलकर स्वामीजीसे पूछें।' पाँच मिल चलकर वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि साढ़े-तीन, चार बज रहे हैं। अब किसने जागकर पांच मील पैदल चला दिया? प्रश्नकी एक बेचैनी होती है।

तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥५०॥

उसका उत्तर सुनकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। कृतार्थ माने हमें

जो पाना था, वह मिल गया। हमको और कुछ नहीं चाहिए। इस प्रश्नका समाधान चाहिए। बस, इतनी ही बात है।

किसी शिष्यका प्रश्न सुनकर गुरुजी बोले—'क्या बकवाद करते हो ?'

### स्वयंप्रकाशे सुखमात्मब्रह्मणि

हम तो स्वयंप्रकाश आत्मब्रह्ममें रह रहे हैं, काहेको पत्थर फेंकने आये हो ? जाओ जाओ, पण्डितजीके पास जाओ !

शिष्य कहता है, 'नहीं महाराज, हमें तो आपके मुखसे ही समाधान पाना है। 'भवन् मुखात्।' इसमें एक और इशारा है। आप इशारा कर दो कि अमुक किताबमें-से तो नहीं; आपका बोला हुआ होना चाहिए।' गुरुजी कहें कि, अच्छा, तुम्हारे सिरपर हाथ रख देते हैं। तो ?, नहीं, तब तो अपनी ही वासनाएँ उत्तरका रूप धारण करके आ जाती है। उसमें गुरुजीका उत्तर नहीं आता। शक्तिपातसे तत्त्वज्ञान नहीं आता। आत्मा तो अपने भीतर है। वह निकल आता है ? वह निकाले तो निकल आये। वह बुलाये तो आजाय। यह तो अच्छा आत्मा हुआ !

जैन लोग जैसा आत्माका स्वरूप मानते हैं, वह शक्तिपातसे देखना सम्भव है। हमारे तान्त्रिक और शाक्त लोग जैसा आत्मा मानते हैं, वह शक्तिपातसे ही सम्भव है। उसका भी साक्षात्कार होना शक्य है। देखो, हम ईमानदारीकी बातें सुनाते हैं। वेदान्ती लोग किसे आत्मा मानते हैं, उसका साक्षात्कार शक्तिपातसे होना संभव नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है, स्वयं अप्रभावित है। प्रभावित होकर तो वह तुम्हारी बुद्धिमें नहीं आयेगा।

शब्दके द्वारा तुम्हारे अन्तःकरणमें एक कल्पित ब्रह्माकार वृत्ति उदय होगी। वह कल्पित जीवाकार वृत्तिको, कल्पित ईश्वराकार

वृत्तिको ध्वस्त करेगी। और उसके बाद अबाधित सत्यका साक्षात्कार होगा। इसलिए 'भवन्मुखात्' माने ज्ञान मुखसे आना चाहिए। आँख, हाथ या मानसिक शक्तिसे भी ज्ञान नहीं आना चाहिए।

प्रसंगवश एक बात आपको सुना देते हैं। ये लोग आकर कहते हैं कि हमें स्वप्नमें मन्त्र मिल गया, अमुक देवता आकर दर्शन दे गये! आज सपनेमें एक मन्त्र मिल गया और आप उसका जप करने लग गये! छह महीने बाद दूसरा मन्त्र मिला तो क्या करोगे पहला सपना ठीक कि दूसरा? घपलेमें पड़ जाओगे। ऐसी भावुकताके चक्करमें बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए। यदि जाग्रत् अवस्थाका गुरु उसे पुष्ट कर दे कि 'यह मन्त्र ठीक है,' तो ठीक मान लो। उसकी सम्पुष्टिके बिना वह मन्त्र काल्पनिक है, वह देवता भी काल्पनिक है।

**'भवन्मुखात्'**—तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा जो एक अपूर्ण वृत्ति अन्तःकरणमे उदय होती है, वह अविद्याको दूर करती है।

●

## : २२ :

२५-६-७५

यह बन्धन कहाँ है ? आप लोगोंने स्वामी प्रेमपुरीजी महा-राजकी बात सुनी होगी जरूर ! यहाँ जो पुराने सत्संगी हैं, उन्हें मालूम होगा नयोंको नहीं, जिन्हें मालूम है, वे सुनेगें तो उन्हें याद आजायगी, नहीं सुनी है वे सुनेगें तो उन्हें दिशा-निर्देश मिल जायगा, रास्ता मिलेगा।

स्वामी प्रेमपुरीजी साधना करते-करते व्याकुल हो गये। वे वृद्ध बदरीनाथमें रहते थे और वहाँ साधन भजन करते थे। आत्म-चिन्तन करते थे। एक दिन उन्होंने कहा—'जब इतना सब छोड़ा-छाड़ा, अपना अत्यन्त समृद्धि-सम्पन्न राजकोटका परिवार छोड़ा, विद्या, प्रतिष्ठा, समृद्धि थी। यहाँ आकर इतने दिन साधन-भजन करते-करते हो गये, आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ, मुक्ति नहीं मिली तब शरीर धारण करके क्या करेंगे ? आओ, इसे गंगाजी में डाल दें ! वृद्ध वदरीमें जब यह संकल्प किया, तब एक माता उनके पास आयी कि 'क्यों स्वामीजी ! इतने व्याकुल क्यों हो रहे हैं ? ऐसी क्या बात है ?'

स्वामीजी बोले—'हम मुक्ति चाहते हैं। अबतक मुक्ति नहीं मिली।'

उसने पूछा, 'स्वामीजी, बन्धन ? आपने देखा है बन्धन ! क्या बन्धन है तुमको ? स्त्री, परिवार, बेटा-बेटी, रुपया-पैसा,

ज्यादा दिनतक जीकर विषय-भोग भोगते रहेंगे, इसका बन्धन, है। नहीं, नहीं, बन्धन तो मानसिक है न ?' 'स्वामीजी सोचने लगे।' 'तुम शरीरसे बँधे हुए हो ? तो वह छूट जायगा; बन्धन तो छूटता रहता है ! सांस तो आती-जाती रहती है। क्या बन्धन है भाई ?' अब तो स्वामीजी सोचने लगे कि 'बन्धन क्या है ?'

वे माता बोलीं—'मैं दो-तीन घण्टे बाद फिर तुम्हारे पास आऊँगी। तुम बिलकुल सोच-विचारके पक्का रखना कि तुम्हारे बन्धन क्या हैं ? यदि मिल गया तो मैं तुरन्त उसे काट दूँगी। नहीं है तो तुम अपनेको झूठमूठ क्यों मानते हो कि मैं वद्ध हूँ ? तुम तो मुक्त ही हो।

वे तो चली गयीं। स्वामीजी बताते थे कि 'मैंने इस बातपर बहुत विचार किया तो मालूम हुआ कि हमारी आत्माके स्वरूपमें बन्धन नामकी तो कोई वस्तु ही नहीं है। तो किसे मैं बन्धन मानता हूँ ? वे देवी फिर लौटकर नहीं आयीं, परन्तु स्वामीजीको बन्धन भी नहीं मिला।

बन्धन अविचारित है तो इसपर विचार करो। '**को नाम बन्धः ?**' आप अपने मनके दो हिस्से कर लो। एक हिस्सा हाथ जोड़े नीचे आपके पांवके पास बैठा है और दूसरा ऊपर अभयमुद्रामें बैठा है। देखो, बन्धन क्या है ? '**को नाम बन्धः ?**' बन्धन जैसा तो कहीं कुछ भी नहीं है। तो '**कथमेष आगतः ?**' यह बन्धन कहाँसे आगया ? जो चीज बिना हुई आजाय तो उसे क्या समझेंगे ? भ्रम, नासमझी, बेवकूफी, अविद्यासे आयी ? ऐसा ही मानना पड़ेगा न ? अच्छा भाई, गड़बड़ाध्यायमें अपने आप आ भी गया तो यह टिका कैसे ? अत्माका स्वरूप तो ऐसा चिकना-चिकना है कि तुमपर एक बूँद पानी भी टिकनेवाला नहीं है।

बन्धन कहांसे टिक गया ? यह आत्मा तो चमाचम चमकने-

वाला स्वयंप्रकाश है। आनन्दमयी मांसे हमारे स्वामी सनातन-देवजीने पूछा, 'हमें ब्रह्मज्ञान तो हो गया है, लेकिन सन्तोष नहीं है।' माताजी बोलीं-'पिताजी स्वयंप्रकाशमें असन्तोष कहाँ है।' हमारे गुरु लोग तो उत्तर ऐसे देते थे ? यह नहीं कि घण्टेभर समझाया। दाँत कटाकट ! अरे योग्य अधिकारी होता है तो थोड़े-में समझ जाता है। घोड़ेके रिकाबमें पाँव और ब्रह्मज्ञान ! अष्टा-वक्रजी महाराजके पास जनकजी आये थे। वे उनका दर्शन करके जाने लगे तो घोड़ेपर चढ़नेके लिए रिकाबमें एक ओर पाँव रखा और प्रश्न उनके मनमें उठा, 'अरे, यह आत्मा है क्या ?' दूसरा पाँव घोड़ेकी पीठपरसे जाकर दूसरी तरफ रिकाबमें पड़ा नहीं और ज्ञान हो गया। यह तो मात्र समझका फेर है।

एक आदमी सन्ध्या-वन्दन कर रहा था, सबेरेके समय बैठकर। पहले तो उसे यह संशय हो गया कि मैं जिस मुँहसे बैठा हूँ वह पूर्व है कि नहीं ? फिर उसे भ्रम हो गया कि मैं उल्टी दिशामें मुँह करके बैठा हूँ। इतनेमें सूर्योदय हुआ। सूर्यको देखते ही उसका सारा संशय-भ्रम मिट गया। इसी प्रकार अपनी बुद्धिमें आतमसूर्य-का उदय होते ही सारा संशय, भ्रम, विपर्यय मिट जाता है।

**कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः।**

आपको ध्यान दिलाते हैं कि गीतामें भी ये सब बातें हैं—

**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**
**नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।**
**अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्**
**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ १५.३**

अज्ञानकालमें दुनियाका जैसा रूप दीखता है, वैसे ज्ञानकालमें नहीं दीखता—यथा व्यवहारकाले दृश्यते तथा विचारकाले न रूपं लभ्यते।

**नान्तो न चादिः** मिथ्या वस्तुकी न आदि होती है न अन्त होता है। कालान्तरमें न आदि है न अन्त। यावद् प्रीतोति ही उसका काल है। न प्रतीतिके पूर्व काल है, **नान्तो न चादिः न च प्रतिष्ठा'**—उसकी कोई स्थिति नहीं है। **'कथं प्रतिष्ठाऽस्य** '**कथं विमोक्षः'**। कैसे छूटेगा और कैसे रह रहा है ? अद्वितीय वस्तुमें जब जहाँ नहीं रहना चाहिए, वहाँ रह रहा है तो उसका मोक्ष कैसे होगा ? बन्धनकी गाँठ खुलेगी कैसे ? जब जान जाओगे कि बन्धन है ही नहीं।

**'श्रुति पुराण कहँ बहुत उपाई। छूट न अधिक अधिक उरझाई ॥**
तब ? विवेक ही एकमात्र उपाय है।

**कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा**
**तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥५१॥**

यह अनात्मा क्या है और यह आत्मा क्या है ? इसका विवेक कैसे हो, यह आप बताइये। गुरुजीने कहा कि, 'बस बेटा !' यह श्रुति है—

**श्रीगुरुरुवाच**

**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया।**
**यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥५२॥**

वेदमें कहा गया है—

**'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'**

( बृहदारण्यक ४.४.२२ )

**'यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'**—यज्ञ, दान, तप, उपवास, वेदानुवचनसे ब्राह्मण लोग इसे जाननेकी इच्छा करते हैं। इस इच्छाको 'विविदिषा' कहते हैं। यज्ञादि इन सबका फल यह है कि हमारे हृदयमें परमात्माको जाननेकी इच्छाका उदय हो। पर-

मात्माको बनानेकी इच्छा नहीं कि 'आओ, परमात्माको बना लें। यह रहा परमात्माका मुँह, ये रहे हाथ, ये रहे पाँव ! जोड़-तोड़कर हमने परमात्माको बना लिया। परमात्माको बनानेकी इच्छा कभी नहीं करना।

परमात्माके पास जानेके लिए यह सोचते हो कि 'वह सातवें आसमानमें रहता है, वहाँ जायेंगे ? थोड़ी इन्तजार करो भाई।' ऐसा नहीं ! 'विविदिषन्ति' माने शुद्ध अन्तःकरणमें हो जाननेकी इच्छा होती है। और मात्र परमात्माको ही जाननेकी इच्छा होती है ! जिसका अन्तःकरण अशुद्ध है, वह पैसा चाहेगा, भोगकी वस्तु पाने-जानने-करने-भोगनेकी इच्छा अलग-अलग होती है, परमात्माको पानेकी इच्छा अलग-अलग होती है, परमात्माको पानेकी इच्छामें ये विभाग नहीं होते।

कोई-कोई योगी तो कहते हैं, 'आओ, हम ईश्वरको बना दें।' योगी लोग ईश्वरको बनाते हैं। नारायण स्वरूपमें तो है नहीं, इसलिए ध्यानके लिए बनाते हैं !

भक्त लोग कहते हैं, 'हम ईश्वरको भोगेंगे। वह मिलेगा तो उसे चूमेंगे, चाटेंगे, छातीसे लगायेंगे। भगत लोग भगवान्‌को भोग डालना चाहते हैं, योगी लोग ईश्वरको बना डालना चाहते हैं और जिनका ईश्वर दूर है, वे विमानपर चढ़कर उसे पाना चाहते हैं।

वेदान्तीका ईश्वर बनाने, भोगने या पानेका विषय नहीं है। वह तो वही है जो स्वयं है, परन्तु जानता नहीं है।

**बन्दा से बन्दा, खुदा से खुदा**
**खूब जाना है ये अनजाने बने बैठे हैं,**
**आपमें आप छिपे पर्दा ढँके बैठे हैं।**

वह कौन ? यह कौन ? तुम कौन ? वस्तु तो एक ही है।

हमको किसीने बताया कि एक भारतीय श्रीमती विदेशमें गयीं। उन्हें कोई एक वस्तु खरीदनी थी। दूकानदारने उस एक वस्तुके अलग-अलग दो टुकड़े पैक कर दिये। एकको पैकिंग बहुत अच्छी थी, एककी मामूली थी। माल दोनोंमें एक था। लेकिन उन्होंने बढ़िया पैकिंगवाला देखकर खरीदा, मामूलीवाला छोड़ दिया।

आप रंग-रोगन, शक्ल-सूरत, डिजाइन देखकर खरीदते हैं, उसके भीतर माल कैसा है; इसकी ठीक-ठीक जाँच नहीं कर पाते हैं। तत्त्वकी जिज्ञासा माने अनारोपिताकार वस्तुकी जिज्ञासा। जिसमें आकृतिका आरोप नहीं हुआ है, शक्ल नहीं गढ़ी गयी है, कंगन-हार नहीं बना है! असली सोना क्या है उसकी जांच। तत्त्व माने आकारके आरोपके पूर्व जो असली स्थिति थी, वर्तमानमें क्या है?

मनुष्यका यह शरीर बननेके पहले मनुष्य क्या था? बोले, कि बापके पेटमें एक बूंद पानी था। वह बूंद बननेके पहले उसमें एक बीज होता है। बीजवाला पानी बननेके पहले वह क्या था? वह चेतना क्या थी? चेतना परिच्छिन्न होनेके पहले क्या था? अखण्ड चैतन्य था। मनुष्य रंग-रोगनपर विचार ज्यादा करता है।

'लड़के-लड़कीकी शादी करनी हो तो पहले पूछते हैं कि 'उसका बैंक-बैलेन्स कितना है? वह लड़का क्या काम करता है? उसका संग-साथ कैसा है? और मन फँस गया तो? कुछ नहीं पूछेंगे न बैंक-बैलेन्स, न संग-साथ, न काम-धन्धा। 'चाहे कुछ भी हो, हमारा मन तो हाथसे गया।' यह दुनियाकी हालत है।

तत्त्वकी जिज्ञासा ही बड़े पुण्यसे उदय होती है। बल्कि,

वेदान्तका तो यह कहना है कि सब पुण्योंका एकमात्र फल यह है कि मनुष्यके मनमें तत्त्वकी जिज्ञासाका उदय हो। नहीं तो बस, कमाई, भोग, ब्याह, बेटा, कुर्सी—ये सब कैसे मिले-कैसे मिले ?

यदि किसीके मनमें जिज्ञासाका उदय हो जाय,—ईश्वरकी जिज्ञासा तत्त्वकी जिज्ञासा नहीं है। ईश्वरने सृष्टि क्यों बनायी, कैसे, किस मटरसे बनायी ? इसे तत्त्व-जिज्ञासा नहीं कहते हैं। 'मैं' क्या है, 'तुम' क्या है ? 'वह' क्या है ? दूसरी वस्तुसे और दूसरे कामसे, आने-जानेवाले गुणोंसे, उत्पन्न स्थितियोंसे प्राप्त बड़प्पन—इनका खयाल छोड़कर, सच्चाई क्या है, यह देखनेकी इच्छा तत्त्व जिज्ञासा है।

**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः**

(केन उप० २.२.५)

यदि इसी जीवनमें जान लिया तब तो तुम्हारा जीवन सच्चा और यदि इसी जीवनमें न जान लिया, तो तूम्हारा जीवन खिलौनोंमें-गुड़ियोंमें बीत गया! मनके लालन-पालनमें बीत गया। बस; जो-जो मनको भला लगता है, अपने मनके अनुसार चलते हैं। वे मनोमुखी हैं, सत्यमुखी नहीं हैं। आपको मनपसन्द चीज चाहिए या सच्ची चीज चाहिए ?

यदि आपको मनपसन्द चीज चाहिए तो वह सच्ची-झूठी कैसी भी हो, चाहिए।

**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया।**

आपके मनमें अनारोपिताकार सत्यकी, तत्त्वकी, जिसमें अभी आकारका आरोप नहीं हुआ है, आकार दीख रहा है तब भी उससे मुक्त वस्तु। आकारमें त्रिकोण चतुष्कोण बनता है, रंग-रोगनसे रूप बनता है। रूप अलग, आकार अलग! विन्दुओंसे-

रेखाएँ और रेखाओंसे आकार बनता है। विन्दु मानसिक कल्पना-से बनते हैं। शब्दादि पाँचों विषयोंके भी विन्दु होते हैं। विन्दुओंसे रेखाएँ बनती हैं, उनमें सुन्दरताका आरोप होता है। ईश्वरकी कृपासे आपके मनमें यदि सत्यकी जिज्ञासा हो गयी, तो जो आकार टूटने-फूटनेपर भी बना रहता है—

**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया।**

'धन्य हो, धन्य हो!' धन्यका मतलब है, 'सब साधनोंका धन तुम हो, साधनोंके आखिरमें दो अक्षर हैं—'धन' उसीसे धन्य शब्द बनता है। साधनोंने आपपर कृपा कर दी। 'धन्योऽसि'। यह नहीं कि जिसके पास धन बहुत हो, उसका एक हिस्सा अनुत्पन्न ही रहता है। संस्कृत भाषामें धन माने जिसका समझदारीसे कोई सम्बन्ध नहीं है। नासमझ भी धनी होता है। समझदार भी धनी होता है। धनी माने बहुत समझदार नहीं।

**'धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि'**—अभी आपके काम पूरे हो गये कि बाकी हैं? यदि जिज्ञासा पैदा हो गयी तो अब कर्तव्य नहीं रहा। आप जिज्ञासु हैं तो आप ज्ञान प्राप्त कीजिए, पर आपको कर्तव्य नहीं रहा। **पावितं ते कुलं त्वया**—तुमने अपने कुलको पवित्र कर दिया। तुम्हारी माँका 'बच्चा पैदा करना' सफल हो गया।

**वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।**

पृथिवी धन्य हो गयी। हम लोग पहले श्लोक बोलते थे। श्लोक बोलनेका भी एक रस होता है। ये लोग जो बड़े प्रेमसे बोलते थे न, वे उसका अर्थ समझकर मजा नहीं लेते, उसकी गतिमें मजा लेते हैं। कहते हैं सारी दुनिया हो गयी नन्दनवन, सारे वृक्ष हो गये कल्पवृक्ष, सारा जल हो गया गंगाजल, सारे कर्म हो गये पवित्र।

चाहे भाषामें बोलें, चाहे संस्कृतमें। वह हो गया उपनिषद्। सारी धरती हो गयी वाराणसी। कब? जब परब्रह्म परमात्मासे एक हो गये। एक श्लोकमें यह भी कहा जाता है—उसने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया, सारी पृथिवीका दान कर दिया, सब देवताओंकी पूजा और सब पितरोंका श्राद्ध कर लिया, जिसका मन एक क्षण ब्रह्मविचारमें स्थिर हो गया। बिना माहात्म्य-ज्ञानके इसमें प्रवृत्ति नहीं होती। जिस चीजको पहले समझते हैं, उसमें प्रवृत्ति होती है। न तीर्थ जानेकी, न देवपूजाकी जरूरत है, न दानकी। यदि सच्चे हृदयसे आप ब्रह्मविचार करें! सारा-का-सारा दान-पुण्य आपको मिल गया, क्योंकि आपका मन सारी दुनिया छोड़ परमात्मामें लग गया। मनसे ही तो पाप-पुण्य होता है! सब पुण्योंमें पुण्य यह है कि मनुष्यका मन परमात्मामें लगे।

जो लोग समझते हैं कि अभ्याससे मनुष्यका मन परमात्मामें लगता है, वे तो मजदूरीकी बात करते हैं। प्यारसे मनुष्यका मन परमात्मामें लगे तो यह आसक्तिकी बात हुई। विचार करके मन परमात्मामें लगे तो पर्दे-के-पर्दे फटने लगते हैं, अपने स्वरूपका आविर्भाव होता है। यह समाधिसे छोटा नहीं है, बड़ा है। बुद्धिको मारकर समाधि लगी तो क्या लगी? बुद्धि रहते समाधि लगनी चाहिए।

**यद् अविद्यावन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुम् (५२)।**

अच्छा, अबतक तो आप अपनेको अब्रह्म, जीव मानते रहे हैं। अब ब्रह्म होना चाहते हैं! बहुत बढ़िया! लेकिन एक बात है। देखिए, ब्रह्म होना तो बहुत लोग चाह सकते हैं। कौन नहीं चाहेगा? परन्तु कोई अभ्याससे, ब्रह्माभ्याससे होना चाहेगा, कोई भक्तिसे तो कोई कृपासे। ऐसे ब्रह्म होनेवालोंकी हम चर्चा नहीं करते हैं।

यद् अविद्या-बन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ।। ( ५२ )

तुम यह समझ गये हो कि केवल अविद्याके कारण बन्ध है। यह वेदान्तकी भूमिकामें केवल अविद्याके कारण बन्ध है। आसक्ति या दुश्चरित्रताके कारण बन्ध नहीं है। सीधी बात बोलते हैं। बन्धनको जानते हो जरूर! बहुत लोग हैं जो कुत्तेके गलेमें रस्सी बाँधकर उसे सड़कपर घुमाते हैं। आपके भी गलेमें रस्सी डालकर कोई घुमानेवाले होंगे। भले रस्सी न दीखे, कोई-न-कोई है, जो आपको बाँधे हुए हैं। ऐसा बन्धन जिसकी शकल-सूरत नहीं देखनेमें आती है। लौट-लौटकर बारबार वही! बस!

एक चिड़ियाको रस्सीसे बाँध दिया। वह अब उड़ती है तो मात्र पंख फड़फड़ाती है, फिर वहीं-की-वहीं। यह कोई बन्धन है? नहीं, ऐसा कोई बन्धन नहीं है। सब अपनी नासमझीसे बन्धनमें हैं। 'यही बन्धन है', ऐसा क्यों मानते हैं? नासमझीसे। आदत है सो नहीं आदत तो कितनी बनती-बिगड़ती-छूटती हैं। सौ-सौ आदत डालकर छोड़ चुके हैं। डाली और छोड़ी! कैसे धोती-कुर्ता और जूता पहनना है, कैसा खाना है, कैसे लोगोंमें रहना है, इनके बारेमें वैसा ही करनेकी आदत पड़ती है तो वही आदत छूट भी जाती है। कमजोर-बुजदिल लोग बोलते हैं—'हमारी आदत पड़ गयी, नहीं छूटती!' इस दुनियामें ऐसी कोई चीज न है, न हुई, न होगी जिसे यह जीवात्मा न छोड़ सकता हो!

संस्कृत भाषामें संसारका अर्थ है, छूटनेवाला। संसरण माने सरक रहा है। हम देखें कि न देखें, करें कि न करें, छोड़ें कि न छोड़ें, यह तो छूटनेवाला ही है। यह छूट रहा है, जा रहा है। पाँव दबाकर जा रहा है, जैसे चोर! पता ही नहीं चलता। आपके काले बाल किस दिन सफेद हुए, आपको मालूम है? आपने डायरी

बहुत लिखी हो तो यह बता सकते हैं कि अमुक दिनको हुआ था, पर आप यह नहीं बता सकते कि किस क्षण काला सरक गया और किस क्षण सफेद आ गया ?

कभी अदालतमें वकील जिरह करे कि कब आपका बाल सफेद हुआ था तो आप बता देना कि सन् १९०० में, मार्च महीनेमें, शनिवारको १० बजकर १० मिनटपर कालेसे सफेद हुआ था। अरे, कुछ मालूम नहीं है। दुनिया सरक रही है।

जो कभी नहीं सरकता, उसका नाम है आत्मा। लो बदल जाय, सो संसार। जो न बदले सो आत्मा। असलमें अपनेको ठीक-ठीक न समझकर अविद्यासे कहीं बँधा हुआ मानते हैं। वेदान्तके शब्दोंके बारे में ऐसा है—एक समय था जब मैं समझता था कि जिस शब्दका मैं जो अर्थ समझता हूँ वही अर्थ उस शब्दका हमारा श्रोता भी समझता है। परन्तु वह हमारी नासमझी थी कि नहीं ? ठीक-ठीक बातको समझो। 'कहीं किसी वस्तु, धन-दौलत, चल-सम्पत्तिके साथ और किसी मकान-पहाड़, अचल सम्पत्तिके साथ, किसी सम्बन्धी, शरीर, क्रिया, भोग, स्थितिके साथ हमारा कोई बन्धन है—यही भ्रम है। और यह बन्धन है, हमारे स्वरूपको न पहचाननेके कारण।

पहले जब यह समझमें आजाय कि यह हमारी नासमझी है कि हम अपनेको बँधा हुआ समझते हैं। केवल समझ बदलती है।

आप लोग उपासना बोलते हैं। उपासना माने अपने इष्टके सान्निध्यके अनुभवके ज्ञानको पैदा करनेकी प्रक्रिया। यह नहीं कि इष्टको पैदा करनेकी—उसके पास होनेकी प्रक्रिया भी नहीं। 'हम इष्टदेवके पास हैं, यह ज्ञान पैदा करनेकी प्रक्रिया।' पैदा होगा ज्ञान हो। 'हम बैकुण्ठमें हैं' यह ज्ञान पैदा करनेकी प्रक्रिया। ज्ञान

हीपैदा होता है; वस्तु, क्रिया, देश, काल नहीं। केवल ज्ञान वृत्तिकी ही उत्पत्ति होती है।

पहले यह समझमें आगया कि 'हम नासमझीसे ही अपनेको बद्ध समझ रहे हैं', यह नासमझीको दूर करनेकी प्रक्रिया है। 'तिलकी ओटमें पहाड़' छिपा है। दुःख तो है ही नहीं। आप पकड़कर रखें कि हम दुःखी हैं, तो आप दुःखी हैं। आप देखकर सोचिए कि आप अपनेको जिस चीजके बिना दुःखी मानते हैं, उस चीजके बिना कितने लोग सुखी हैं? इसपर विचार कीजिए।

**ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।**
**बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ।।५३।।**

यदि पितापर ऋण हो तो बेटा ऋणसे मुक्त कर सकता है। परन्तु बन्धनसे वह मुक्त नहीं कर सकता। असलमें, यदि आप जेल-खानेमें होते तो बेटा मुकद्दमा लड़कर छुड़ा देता। किसीने रस्सी-में बाँधा होता तो तलवार मारकर छुड़ा देता। लोग समझते हैं न कि हमारा बेटा होता तो? हम एक बेटेको जानते हैं। उसका बाप मरा तो लाखों रुपया देकर मरा कि 'बेटा यह दान कर देना। जब बाप मरा तो बेटेने कहा, 'दान करनेकी क्या जरूरत है?' उनका तो दिमाग खराब हो गया था। बेटा ऐसा ही बोलता है।

यदि आप अपने हाथसे कोई काम नहीं करोगे तो दूसरेकी उम्मीद करना बेवकूफी है। कर्ज हो और बेटा अच्छा हो तो चुका सकता है। परन्तु बन्धन है और अपनी ही बेवकूफीसे माना हुआ है, तो अपनी ही अक्कलसे दूर होगा कि दूसरा कोई दूर करेगा? पिण्डदान करेगा तुम्हारा बेटा—'पितृभ्यः स्वधा, पितृभ्यः स्वधा' और तुम्हारा बन्धन कट जायगा, तुम मुक्त हो जाओगे—यह नहीं होता।

**मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ।**
**क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ।।५०।।**

मस्तकपर बोझ होगा तो दूसरा कहेगा, 'हमको दे दीजिए।' तब वह ले लेगा और आप बोझसे मुक्त हो जायेंगे। लेकिन आपको भूख लगी हो और आप कहेंगे कि हम मुँह नहीं खोलेंगे, दाँतसे नहीं चबायेंगे, गलेके नीचे नहीं उतारेंगे, तो भूखका दुःख दूर होगा ? भूखका दुःख दूर करनेके लिए खुदको खाना पड़ता है।

त्याग—दुकानपर तो आप अपनी एवजीमें बेटेको भेज सकते हैं, यह हम समझ सकते हैं। अपना काम करनेके लिए अपने भाईको या प्रतिनिधिको भेज सकते हैं, किसीको आममुख्तार बना सकते हैं, वकालतनामा लिखकर किसीको भेज सकते हैं। परन्तु यदि आपको शौच लगे, बाथरूम जानेकी जरूरत हो तो है दुनियामें ऐसा कोई वकील, आममुख्तार, प्रतिनिधि जो आपके बदलेमें त्याग कर सके, मिलेगा ? वह तो आपको करना पड़ेगा। आप जिसे मनसे पकड़कर बैठे हैं, वही आपको तकलीफ दे रहा है। तुम्हें अपने मनसे उसे छोड़ना पड़ेगा। कह दो कि हमने तुम्हें छोड़ दिया। तुम हमें छोड़ सकते हो तो क्या हम तुम्हें नहीं छोड़ सकते ? भागवतमें गोपियोंने कहा—

**अस्माकं विना कालो तथैव नः ।**

हमारे बिना उसका समय बीत जाता है तो क्या वही समय बितानेवाला है ? हम भी अपना समय बिता सकती हैं।

दूसरेका दिल पकड़कर प्रेम नहीं करवाया जा सकता। कुछ काम ऐसे होते हैं जो हमको ही करना पड़ता है।

**पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।**
**आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ।।५५।।**

जैसे भूख मिटानेके लिए स्वयंको खाना पड़ता है, त्याग स्वयं-को करना पड़ता है।

ग्रहण—ईश्वरकृपासे यहाँ 'वेदान्त-सत्संग-मण्डल'की कोई चीज हो और हम उठाकर ले जाना चाहें तो वे हमें रोक देंगे कि यह हमारी चीज है, मत ले जाओ! लेकिन, यदि हम अपनी चीज छोड़कर जाना चाहें या फेंक देना चाहें तो हमें कौन रोकेगा? त्यागमें स्वतन्त्रता होती है, और ग्रहणमें परतन्त्रता होती है। जो त्यागात्मक साधन होता है, उसमें हमें स्वतन्त्रता होती है। ग्रहण-में तो किसीने उसपर अपना कब्जा कर लिया है, वह उसे अपना समझता है, हमारी योग्यता हो या न हो, अधिकार हो कि न हो, परन्तु त्यागमें? बस, बैठ गये! त्यागमें स्वतन्त्रता होती है।

जैसे रोगी पथ्य स्वयं करता है ओषधिका सेवन करता है, और उसे आरोग्यकी सिद्धि होती है। अब मान लो कि रोग किसी-को होवे और उसके लिए पथ्य-परहेज कोई करे तो रोगी अच्छा होगा? हमारे बदले तुम दवा खा लो तो रोग अच्छा नहीं होगा।

**वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा**
**स्वेनैव वेद्यं ननु पण्डितेन।**
**चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव**
**ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥५६॥**

जो बात प्रत्यक्ष हो, उसके बारेमें 'अनुमान' प्रमाण नहीं माना जाता हम आँखसे प्रत्यक्ष कमल देख रहे हैं तो उसके लिए 'अनु-मान प्रमाण'की आवश्यकता नहीं माननी चाहिए क्योंकि पंखुड़ी सुकुमार और लाल हैं, गद्दी है, इन सब हेतुओंसे मालूम पड़ता है कि यहाँ कमल है। प्रत्यक्ष जो वस्तु है, उसके लिए अनुमान-प्रमाण-की प्रवृत्ति नहीं होती। सम्भावना नहीं होती।

एक बात यह भी है। आत्मा तो अपना स्वरूप है। अपरोक्ष आत्माके लिए प्रत्यक्षकी भी प्रवृत्ति नहीं है कि हम आँखसे आत्मा को देखेंगे, जीभसे चाटेंगे, नाकसे सूँघेंगे। प्रत्यक्षमें भी अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं है, चूंकि 'हाथ हिलाता हूँ, इसलिए मैं हूँ या इसलिए मैं नही हूँ; 'दूसरे हैं इसलिए मैं हूँ' यह उपमान भी नहीं। मैं न होता तो वह सब कुछ न होता, इसलिए अर्थापत्ति प्रमाण है। नहीं, यह सब कुछ नहीं। अमुक सन्‌में हमारा जन्म हुआ था, इसलिए अब मैं जिन्दा हूँ, यह ऐतिह्य भी नहीं चलता है, क्योंकि आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है, अपना आपा है तो इसे स्पष्ट ज्ञानकी दृष्टिसे देखना पड़ता है। ज्ञानमें स्पष्टता क्या है, यह भी आपको बता दें।

एक-एक बातको समझना पड़ता है। ज्ञानमें विकार नहीं होता। अविकृत ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञान दो विकार पैदा करता है—(१) जाननेवालेमें विकार पैदा कर देता है कि 'मैं जाननेवाला हूँ। विकारी बना दिया कि मैं ज्ञाता, मैं ज्ञानी। यह ज्ञाताका विकार है। (२) 'यह ज्ञेय है'—यह भी ज्ञानका विकार है।

असलमें ज्ञान तबतक परिवर्तनशील है, विकारी है, जबतक ज्ञान अपने पीछे 'मैं' को और आगे 'विषय'को बैठा देता है। शुद्ध ज्ञान वह है जिसमें न पीछे 'अहम्' है न सामने 'इदम्' है। यह अपरिणामी, अपरिवर्तनशील ज्ञान है। 'ये मालूम पड़ते हैं'—यह ज्ञानने नहीं बनाया, प्रतीतिमात्र है।

**'स्फुटबोधचक्षुषा**,—चाहिए ज्ञानकी आँख और उस आँखमें चाहिए ज्ञानकी स्पष्टता। मोतियाविन्द, फुल्ली, रतौंजी, धुन्ध न हो! ज्ञानकी आँखमें अज्ञानका लेश भी न हो! उसमें वस्तुके स्व-रूपको देखो।

**'येनैव वेद्यं खलु पण्डितेन'**-स्वयंको देखना चाहिए। आसमान-में चन्द्रमा है कि नहीं, यह स्वयंने नहीं देखा, दूसरेने बता दिया और मान लिया कि 'हाँ, है'। ऐसा नहीं **'निज-चक्षुषा'**—अपनी आँखसे देखो कि है कि नहीं।

**अन्यैरवगम्यते किम्**—दूसरेके बतानेमें विश्वास होगा, अनुभव नहीं होगा। विश्वासका मार्ग दूसरा है, ज्ञानका मार्ग दूसरा है।

**अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम्।**
**कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥५७॥**

बन्धन क्या है ? देखो, यह है न कि हमको अमुक-अमुक काम करना है, एक बाबाजीने एक मन्त्र बताया था—'हाथ खींचो।' जहाँ आप पकड़े जाते हैं, वहाँ हाथ ही मत डालिये। उसको हाथ मत पकड़वाइये जो बाँध ले, जो खींचकर ले जाय।

आदमी 'इदम् भाव' में उतना नहीं बँधता जितना 'अहम्-भाव'में। हमने सोचकर देखा है, 'असलमें आदमी अपने 'मैं' से हिप्नोटाइज्ड हो जाता है।' 'मैं ऐसा' 'ऐसा' हूँ। यह मैं बहुत तक-लीफ देता है। 'मैं यह था, 'मैं यह हूँ।' उसके साथ मैं, इसके साथ मैं। धन तकलीफदेह नहीं है, विद्या भी तकलीफदेह नहीं है। धनीपना तकलीफदेह है, वैदुष्यका अभिमान तकलीफदेह है। कुर्सी नहीं छूटती। वह थोड़ी तकलीफदेह है ! वह तो सामान्य गणिका है। कुर्सी माने वेश्या। परन्तु यह कब होता है कि इसपर तो मैं ही बैठूँगा ! दूसरा कोई नहीं ! कितने लोग इसपर बैठ चुके हैं, कितने लोग आगे बैठेंगे ! 'कु-रसिका' है। वह तो वेश्या है, परन्तु अभिमान होता है : ठीक है ?

हमने सुना है, मेरा जन्म जिस इलाकेमें हुआ है, वहाँ राज-पूत लोग रहते थे। बड़े-बड़े जमींदार-जागीरदार थे वे। एक राज-

पूतकी पत्नी एक मकानमें रहती थी और दूसरे एक मकानमें उनकी रखैल—वेश्या रहती थी। वे सज्जन कहते थे—'हमारेवाली जो है—वह बहुत सुन्दरी है। बनारसमें ऐसी दूसरी कोई वेश्या नहीं है। अब उसका अभिमान!' 'हमारे जैसा कौन है?' मूँछ ऐंठते थे। बगलमें तलवार लेकर निकलते थे। बोलते थे, 'हमारी वेश्या उत्तम है।'

शास्त्रमें इसका उल्लेख है। 'शारदातनय' का ग्रन्थ है—भावप्रकाश उसमें 'उत्तमांगनाके नशाजन्य मद'पर लिखा है। यह तो नशा ही है—जो चीज अपने 'मैं' के साथ जुड़ जाती है कि 'इस-वाला' मैं। वह चीज हमें अपने स्वरूपसे च्युत करती है, हमें अन्धा बना देती है अन्धा! मैं-के साथ चोज जुड़ी और अन्धे हुए।

हमारे एक चेले थे। बहुत ऊँची गद्दोपर पहुँच गये। अकेले-में तो उठकर मिल भी लेते थे। परन्तु वे गद्दीपर हों और हम उनके पास पहुँच जायँ, तो वे मुँह फुलाये बैठे रहते हैं। गद्दीकी मर्यादा लिपट गयी पट्ठेको! ऐसा है! 'मैं'के साथ जो चीज जुड़ जाती है, वह बहुत तकलीफदेह है। 'हमें यह करना है, यह भोगना है' तो मैंके साथ यह चीज जुड़ गयी। यह श्रम है।

'हमको 'यह' 'यह' चाहिए'—यह कामना है। हमको 'यह' 'यह' करना है, यह कर्म है। यह सब नासमझीसे पैदा होता है। कामनासे कर्म और कर्मसे कामना? इन दोनोंमें कौन बाहर है, कौन भीतर है? यह नहीं।

कल इतिहासकी बात चली। 'पहले कौन? उसके पहले कौन? उसके भी पहले कौन? पीछे कौन? उसके भी पीछे कौन?' तब मैंने कहा, 'देखो, इसका भी एक गुर है।' इतिहासमें

सबसे पहले है आत्मा। उसके बाद है प्रकृति-बुद्धि-संकल्प-पदार्थ! उसमें फिर टुकड़े-टुकड़े।'

इतिहास माने 'तदेवमग्रे आसीत्' से लेकर 'इदं जगत् सत्' में प्रतीतिका जो क्रम है—अध्यारोपित, इसीका नाम इतिहास है। इससे तुम्हारा खोजा हुआ इतिहास मिल गया तो मिल गया! नहीं तो नहीं। तुम्हारा तीर्थ इसके अन्तर्गत मिल गया। अन्तर्वेदी वाराणसी-काशी-वृन्दावन-व्रजमण्डल तो ठीक है, नहीं तो गलत है।' इतिहासका भी एक गुर होता है।

भाई मेरे! बाहर कर्म करते हैं! कर्म करते-करते कामना पैदा हो जाती है। पहलेसे कर्मके संस्कार बैठे हुए हैं। वे ही उदय होकर कर्म करा देते हैं। कामनासे कर्म और कर्मसे कामना! यह हुआ संसार! इस संसारके मूलमें क्या है? अविद्या। इस अविद्यासे हमने अपने आपको मिला दिया और भ्रममें पड़ गये कि यह काम हम और यह कर्म हमारा। यह भ्रम कहाँसे आया? अपनेको न समझनेसे आया। अज्ञान है मूल। यह पाना है, यह करना है, यही संसारका रूप है।

जब अपने आपको ठीक-ठीक समझते हैं, द्वैतको छोड़कर द्वैत ज्ञान नहीं है, ज्ञानका विषय है, ज्ञानसे मालूम पड़ता है। अद्वैत ज्ञानका विषय नहीं है, ज्ञान है। यदि अद्वैत ज्ञानका विषय हो तो अद्वैत न होगा, द्वैत होगा। यदि द्वैत ज्ञानका विषय न हो तो अद्वैत होगा, द्वैत न होगा।

इस प्रकार द्वैत जितना होता है उतना ज्ञानका विषय होता है। अद्वैत ज्ञानका स्वरूप है। इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा अद्वैत है। तो काम और कर्म, कर्म और काम। यही बन्धन है, बड़ा भारी फन्दा है। 'कोटिशतैरपि'—शत-शत कल्प। हमको गिनती तो

ठीक-ठीक नहीं मालूम है, परन्तु यह अरबोंसे ज्यादा होता है। सौ करोड़का एक अरब। उसको कर दो तीन-शतैरेते—तीन अरब जन्म लेकर भी यदि आप चाहो कि 'हमें कोई दूसरा छुड़ा दे बन्धन से', तो छूट सकते हैं ? अपने आप पकड़ी हुई चीज !

हमने बचपनमें हाथ-पाँव पटककर देखा है। जब कोई गाँवमें आते तो बोलते, 'छेरियाय गये।' जब हम हाथ-पाँव पीटते, धरतीपर लोटते और कहते, 'अब हम नहीं उठेंगे !' माँ-बाप या और कोई भी उठाते तो हम धरतीपर छटपटाते किसीके उठाये न उठते। हाथ-पाँव पीटते। तो 'तुम्हीं छेरियाय गये बन्धनसे।' हम तो इसको नहीं छोड़ेंगे। दूसरा कोई क्या छुड़ावेगा ? बड़ी भगवत्कृपासे, बड़े पुण्यसे—देवतालोग तो वैसी कृपा भी नहीं कर सकते। वे लोग तो सोचते हैं, कि यदि हम इसे बन्धनसे छूटनेकी बुद्धि देकर छुड़ावेंगे तो यह हमारे सिरपर पाँव रखकर हमसे भी बड़ा हो जायगा। वे तो रोक देते हैं। ईर्ष्या करते हैं। ईश्वर कहता है—'हमारे राज्यकी एक प्रजाको हम अपने अधिकारसे मुक्त क्यों करें ? हमारे राज्यकी प्रजा बनी रहे। हमेशा भेंट-पूजा सेवा करे। ईश्वर भी राजा है।

जब तुम स्वयं चाहोगे कि 'हम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपनेको अनुभव करें', तब तुम छूट सकते हो।



## : २३ :

२६-६-७५

**अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।**
**कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ।।५७।।**

बात यह कही गयी कि यदि हम स्वयं बन्धनसे मुक्त होना चाहेंगे, तब तो हो सकेंगे और कोई दूसरा हमें बन्धनसे मुक्त कर दे ऐसी पराधीनता मनमें रखेंगे, तो कभी मुक्त नहीं हो सकेंगे। सीधी-सी बात है। आपके ध्यानमें न आवे! आप चाहते हैं बन्धन-से मुक्त होना और दूसरेके अधीन अपनी मुक्तिको डालते हैं कि 'वह हमें मुक्त कर दे।' दूसरेके अधीन होना भी बन्धन है न? पराधीनता भी बन्धन ही है! योगवासिष्ठमें एक प्रसंग आया है—

'गुरुजी हमको बन्धनसे मुक्त कर देंगे! तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। बहुत बढ़िया बात कह रहे हो! गुरुजी ऊँटको और गधेको बन्धनसे मुक्त कर सकते हैं कि नहीं? गुरुजी ऊँट-गधेको भी मुक्त नहीं कर सकते हैं। जो योग्य अधिकारी है, उसीको गुरुजी मुक्त कर सकते हैं। बन्धनसे मुक्त होनेमें तुम्हारी योग्यता तुम्हारा अधिकार भी जरूरी है। वे तो तुम्हारी मदद कर देंगे। बन्धन काटना तो तुम्हींको पड़ेगा।

एक कोई कमजोर आदमी था। वह गंगाजीमें नहाने गया। गंगाजीकी धारा बड़ी तेज थी। अब बहे—तब बहे! कबीर जीने देखा कि 'यह विचारा परेशान है। उन्होंने अपना लोटा था, उसे माज लिया, धो लिया! फिर लेकर पण्डितजीके पास गये और बोले 'आपको नहानेमें बड़ी असुविधा हो रही है! हमारा लोटा लीजिये और गंगाजल उठा-उठाकर नहाइये।'

पण्डितजी बोले—राम राम! तुम जुलाहा, हम ब्राह्मण! तुम्हारे लोटेसे नहाकर हम पवित्र हो जायेंगे कि अपवित्र?

कबीर हँसने लगे और बोले—'पण्डितजी तुम्हारा यह गंगा-जल हमारे लोटेको ही पवित्र नहीं कर सकता तो तुम्हें कहाँसे पवित्र करेगा?'

भाई, जो ईश्वरकृपासे स्वयं चाहता है कि हम बन्धनसे मुक्त हों, वही बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यदि पति-पत्नी दोनों-में-से एक यदि तलाक लेना न चाहे तो दुनियाके सब वकील और सब जज मिलकर भी उन्हें तलाक नहीं दिला सकते। तब 'मियाँ-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी?' आपको बँधे रहना ही पसन्द है तो दूसरा कोई मुक्ति कहाँसे देगा?

**कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि॥५७॥**

चाहे करोड़-करोड़ कल्प बीत जायँ, परन्तु जब तुम स्वयं चाहोगे, तब तुम्हें मुक्ति मिलेगी, क्योंकि बन्धनका जो रूप है, वह लोहेकी या सोनेकी जंजीरका नहीं है, रस्सीका भी नहीं है। अपने मनका ही बन्धन है। मन ही माया है। उसीमें बाँध रखा है। आप क्या नहीं छोड़ सकते ?

आचार्य कहते हैं, 'आओ, छूटनेका उपाय करें। यहाँ चार बातका नाम लिया है। चार साधनोंसे छूटना नहीं हो सकता। उसके लिए पाँचवाँ चाहिए।

**न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।**
**ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिध्यति नान्यथा ।।५८।।**

अमृतत्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? जो मृत है, जो मृत्युसे ग्रस्त है, उसको छोड़नेकी इच्छा होनी चाहिए। जो मरनेवाला है, उससे अपनेको अलग कर दो। बस ! अद्‌भुत है माया। अभी हम आपको सुनायेंगे कि जड़से चेतनको, कार्यसे कारणको मुक्त करना दूसरी चीज है। दृश्यसे द्रष्टाको मुक्त करना दूसरी चीज है। दृश्य तो दृष्टिका विलास है। वहाँ बन्धनमात्र इतना ही है कि आप दृश्यको सत्य समझ रहे हैं। अपनी ही दृष्टिके विलास माने अपनी रचनाको सत्य समझ रहे हैं। यही वहाँ बन्धन है।

कार्य-कारणमें बन्ध वास्तविक हो जाता है। जड़-चेतनमें भी बन्धनका उतना अस्तित्व हो जाता है, जितना जड़का होता है। तो यह देखो, इनका व्यावर्त्य माने किससे क्या कटता है। योगसे विक्षेप माने मनकी चंचलता कटती है। विविध पदार्थोंमें मनका जो क्षेप है, फेंकना है—खेप भरना है, वही विक्षेप है। एक बार घड़ेको सिरपर लिया, एक बार कपड़ेको, एक बार अनाजको। ऐसे बारम्बार बोझ उठाना और उनको फेंकना, लादना और उतारना, मकानपर ढोकर लाना और फेंकना विक्षेप है।

जब हम योगाभ्यास करेंगे तो मनकी चंचलता समाप्त हो जायगी। ठीक है, उतनी देरके लिए मन शान्त और प्रसन्न हो जायगा। यदि नौकरको आप एक दिन कामसे छुट्टी–मुक्ति दे दें तो वह बहुत खुश होगा। नौकरको विश्राम दो, सिरमें लगानेको तेल दो। महीने-आध महीनेमें एक बार उसे सिनेमा देखनेको न मिले तो वह विक्षिप्त होकर कुछ-न-कुछ नुकसान कर देगा।

यह मन भी हमारा वैसा ही है। जैसे नौकरको कह दिया जाय कि बेटा, तुम छः घण्टे खूब सो लो, तब काम करना। नौकरको सोनेकी छुट्टी मिलेगी और जागकर वह तुम्हारा काम बहुत बढ़िया करेगा।

योगका व्यावर्त्य विक्षेप है। जहाँ उठे और विक्षेप शुरू। लोगोंको मालूम है यह बात कि—

**यज् जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति** ( यजुर्वेद ३४.१ )

जब हम सोते हैं तब तो हमारा मन आकर हमारे पास सो जाता है और जागते हैं तो दूर चला जाता है। वह डरता है कि यह हमें तकलीफ देगा, यदि हम इसके पास रहेंगे।

**न योगेन**—योगमें यावद् योग है तावद् विक्षेपकी निवृत्ति है। जहाँ योग छूटा कि विक्षेप आया। अज्ञान-निवृत्तिकी सामग्री नहीं है। मन निरुद्ध हो जायगा तो अज्ञानको हटानेकी जो सामग्री चाहिए, वह उसमें नहीं है। निरुद्ध मन–अविद्याका निवारण–शान्त मन–असम्प्रज्ञात मन अज्ञानको दूर नहीं कर सकता। समाधिकालमें अज्ञानके निवारणकी सामर्थ्य नहीं है।

**न सांख्येन**—सांख्यसे विवेक करो। गिनती कर लिया, एक, दो, तीन, चार! कितने तत्त्व हैं? पञ्चभूत, पाँच प्राण, पाँच इन्द्रियाँ, पञ्च-तन्मात्राएँ हैं। चार अन्तःकरण हैं। सब गिनती

कर ली। परन्तु यह भी मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं हैं। क्यों ? इसमें द्वैतके निवारणकी सामर्थ्य नहीं है।

विवेक होता है, वह अपनेको दोमें-से एक दिखाता है। दो चीज दीख रही है—'यह मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' सांख्य द्वैत-ज्ञान है। जो लोग विवेकको—सांख्यविचारको अद्वैत-ज्ञान समझते हैं, वे जानते नहीं हैं। इसके बारेमें ऐसी अनेक बातें सुनायी जा सकती हैं। एक संस्था है, वह पहले प्रतिपादन किया करती थी—'यह जो प्रकृति-पुरुषका विवेक है, उसमें ईश्वर भी है। 'सांख्य-कारिका—सांख्यदर्शनमें भी ईश्वर है'—ऐसा प्रतिपादन करती थी।

'सांख्य-कारिका'में भी ईश्वर है पर, वे कारिकाएँ भी लुप्त हो गयी हैं। एक महात्मासे बात हुई। हमने कहा, 'तुम सब पोथीमें-से तो सिद्ध कर रहे हो, कि सांख्यमें यह सब कुछ है। परन्तु तुम अनुभवमें तो बताओ कि एक दृश्य है, एक उसका द्रष्टा है।' अब ईश्वर दृश्य-कोटिमें आगया, तब तो जड़ है और द्रष्टा-कोटिमें आया तो अपना आपा है। तीसरी कोटि सांख्यमें कहाँ है कि दृश्य-द्रष्टासे अलग होकर वह ईश्वर रहेगा ? जब सांख्यके अनुभवमें तीसरी कोटि-वस्तु—तृतीय पदार्थ सिद्ध है ही नहीं, तो उसकी मान्यता कैसी ? असलमें सांख्य होता है, जड़में चेतनता मिश्रित हो गयी है, वहाँसे अलग करके उसे पृथक् कर लेना। सांख्य द्वैतवाद होनेसे आपको सांख्यसे मुक्ति नहीं मिलेगी।

आपको एक बात सुना दें। यदि ईश्वर मुक्त है तो वह योग-अवस्थामें ही मुक्त है और व्यवहार-अवस्थामें बद्ध है तो वह ईश्वर हो नहीं होगा। यदि ईश्वर विवेकी है और समझता है कि 'मैं जड़से जुदा हूँ तो ठीक है, हम उसके विवेकका आदर करते हैं, परन्तु वह पूर्ण है कि नहीं, यह बताइये। जो अपनेको किसीसे जुदा समझेगा, वह पूर्ण कहांसे होगा ?

अच्छा, तो आओ, कर्मसे मुक्ति बनावें ? ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे कि मुक्ति बन जायगी। स्वर्ग होगा वैकुण्ठ होगा तो मुक्ति बनेगी। ठीक है गुरु! परन्तु आप यह तो बताइये कि कर्मसे मुक्ति गढ़ी जायगी पकायी जायगी, पीटी जायगी। ठीक है चाहे हथौड़ेसे पीटकर या गलाकर मुक्ति बनाओ! निर्माणकी प्रक्रियामें मुक्ति आजायगी। नित्य कैसे होगी ? जो मुक्ति योगसे प्राप्त होगी वह विक्षेप-दशामें भंग हो जायगी और जो मुक्ति सांख्यसे प्राप्त होगी उसमें ईश्वर पूर्ण नहीं होगा। जो मुक्ति कर्मसे बनेगी वह कालमें मिट जायगी।

सांख्यमें मुक्ति अधूरी है, कर्मसे बनी मुक्ति कालमें बिगड़ जायगी और योगसे बनी मुक्ति भी विक्षेपके कारण बीच-बीचमें बिगड़ती रहेगी। अच्छा जी, तब विद्यासे मुक्ति मिले! विद्ययैव लोकः'। उपनिषद्में 'विद्या' शब्दका प्रयोग है—'क्षत्रविद्या', 'नक्षत्रविद्या'।

**विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह** । ( ईश० ११ )

ईशोपनिषद्में विद्या लो। विद्या माने अपने इष्टदेव परमेश्वर-को जान लिया और जानकर अपनी वृत्तिको तदाकार कर लिया। योगमें अपनी वृत्तिका निरोध है, विद्या माने उपासना-में वृत्तिकी तदाकारता है। कर्ममें वस्तुकी उत्पाद्यता है, और सांख्यमें विविक्तता है।

जब तदाकार वृत्ति करके बैठे कि अब मुक्त हो गये! हमारे द्वारा की हुई तदाकार वृत्ति मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं है। असलमें मुक्ति माने छुटकारा। यदि यह छुटकारा शर्तसे हुआ कि इतने समयके लिए तुम छूट गये तो असली छुटकारा कहाँ हुआ ? पैरोल-पर छोड़ देते हैं तो क्या जेलखानेसे मुक्ति हो गयी ? योगकी मुक्ति ऐसी है जैसे कोई पैरोलपर छूट गया।

सांख्यमें कैसी मुक्ति है ? 'चोर यह है, मैं नहीं हूँ!' दूसरेको

तुम 'चोर' देखते हो तो वह भी एक दिन तुम्हें 'चोर' सिद्ध करके रहेगा। जहाँ बहुत उम्मीदवार होते हैं वहाँ हरेक यही खयाल करता है कि 'मैं राजा बनूँगा', । शान्ति है ? दो हो तो भी न होगी। फिर बाँटना पड़ेगा, एक दिन तुम राजा, एक दिन वह राजा, ऐसे राजा क्या राजा होंगे ?

कोई कोई कहते हैं, 'हम कर्मसे मुक्ति बनायेंगे ' नहीं, बनायेंगे तो बिगड़ जायगी। तदाकार तब मुक्ति ? नहीं ! मुक्तिका उपाय एक है—'मानि मानि बन्धनमें आयो।' तुमने बहुत सी चीजें बिना देखे, बिना समझे, अपनेको बन्धनमें मान लिया है। उसकी गिनती कहाँतक गिनाई जाय ? इसीलिए महात्मा लोग जंगलमें पेड़के नीचे पहले एकान्तमें रहकर इसका वर्णन करते थे।

आपका जो नाम है, वह अपने साथ लेकर पैदा हुए थे कि पीछे रखा गया था ? पीछे रखा गया था। यह नाम आपका माना हुआ है ! यह कुल, यह जाति, माँ-बाप, भाई, सब अपने मनके माने हुए हैं। सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण—गृहस्थोंके बीचमें कहनेमें थोड़ा संकोच हो रहा है। एक लड़की कहाँ पैदा हुई ? एक लड़का कहाँ पैदा हुआ मालूम नहीं ! दोनों इकट्ठे हुए—चाहे रजिस्ट्री हो गयी ! सरकारके रजिस्टरमें लिखा गया कि 'यह पति' और 'यह पत्नी', इसीका नाम अध्यारोप है। तलाक हुआ तो अपवाद हो गया। पतित्व-पत्नीत्वका अध्यारोप। गाँवके लोग इकट्ठे हुए, मौजसे मिठाई खायी गयी, पण्डितोंने आपसमें विवाहके मन्त्र पढ़ लिये। वह तो ऐसा ही है। 'अहं पतिः त्वं पत्नी'—मैं पति हूँ, तुम पत्नी हो ! ब्राह्मण लोग आपसमें बोलते है। लेकिन मन कैसा फँसता है, यह आप देखिए। इस अध्यारोपमें बिलकुल होश-हवाशमें हमारे देखते-देखते दोके बीचमें गाँठ जोड़ी गयी।

परन्तु गाँठ जोड़ी गयी कपड़ेमें और जुड़ गयी दिलमें। इसीको अध्यारोप-सिद्धान्त बोलते हैं। इसीसे संन्यास भी हो सकता है इसमें। यदि यह ब्याह किया हुआ न होता तो संन्यासकी सिद्धि ही न होती।

यदि जन्मसे ही पति-पत्नी जुड़वाँ पैदा होते तो शरीर रहते संन्यास धर्म नहीं हो सकता था। चूँकि अलग-अलग पैदा होते हैं, इसलिए वे अलग-अलगसे जुड़ते हैं, वे अलग-अलगसे जोड़े जाते हैं। धर्मकी रीतिसे संन्यास भी होता है। इसमें गाली देनेकी कोई बात भी नहीं है। कहाँ तक गिनायें? अच्छा, आप देखिए, आपमें-से किसीने पापको देखा है? कहाँ रहता है? कितना लम्बा पाप? कितना लम्बा पुण्य? एक बित्ता, दो बित्ता? एक हाथ, दो हाथ? एक गज, दो गज! एक फुट, दो फुट। लम्बाई-चौड़ाई बताइये पाप-पुण्यकी? अच्छा, कितनी देरतक रहते हैं? कहीं पाप-पुण्य हो जाता है, कहीं पुण्य पाप हो जाता है। यह आपको मालूम है कि नहीं? हजार प्रसंग ऐसे बता सकते हैं। ये तो उलट जाते हैं। बताइये, नरक-स्वर्ग देखा है किसीने? इसको अध्यारोप सिद्धान्त बोलते हैं। नरक-स्वर्ग, धर्म-अधर्म, जन्म-मरणका अध्या-रोप। अच्छा बताइए, किसीने अपनी मौत देखी है? अरे, 'मानि-मानि बन्धनमें आयो!' दूसरेके शरीरको चेतनाहीन देखते हैं और बोलते हैं, मर गया? कौन मर गया? बिजली कि बल्ब? फ्यूज ही तो उड़ा न?

हमें याद है, भोले बाबाजी मर गये! अनूपशहरमें वे बड़े विद्वान् थे। 'परमहंस-विवेक-मणिमाला', ब्रह्मसूत्र, शंकरानन्दी टीका, वेदान्त-छन्दावली, और श्रुति, बड़े-बड़े ग्रन्थोंका उन्होंने प्रणयन और अनुवाद किया था, बड़े महात्मा थे। मर गये तब मैंने उड़िया बाबाजीसे पूछा—'ये मुक्त हो गये?' वे बहुत हँसे और बोले-

'जो बद्ध है वह मुक्त नहीं होता और जो मुक्त है वह कभी बद्ध नहीं होता। आत्मा नित्य मुक्त है। वह न कभी बद्ध था न है, न होगा। सारी पराधीनता मोल ली हुई है।'

क्या आपने कभी अपनेको देखा भी है? लोग कहते हैं, 'हाँ महाराज, यह हमारे हाथ-पैर, घुटने-टखने!' नारायण नारायण! यदि आपने अपनेको नहीं देखा, और अपनेको परिछिन्न नहीं माना—किसने अपने आत्माको देखकर उसे एक कतरेके रूपमें एक टुकड़ेके रूपमें – कटे-पिटे रूपमें देखा है? कौन है जिसने अपने आत्माका फोटो लिया है? टी.भी. पर अपने आत्माको देखा है? सिनेमामें देखा है? अरे महाराज! ऐसा मूरख बनाते हैं लोग। हम जब सोलह-सत्रह वर्षके थे, तब एक पत्रिका इलाहाबादसे निकलती थी। 'परलोक' उसका नाम था। उसमें प्रेतात्माके फोटो छपा करते थे कि अमुक आदमी शीशेमें बन्द कर दिया गया। वह मरा तब उसे सन्दूकसे निकाला तो वह प्रेतात्मा निकला। उसका फीटो अखबारमें छपा।

आत्मा आपके सामने भी नहीं आता। साक्षीभास्य भी नहीं होता। तब? तब आपने कैसे माना कि मैं परिच्छिन्न हूँ? बिना समझे जाने? आपने कैसे जाना कि मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ? जाने-आनेवाला हूँ? आपने अपनेको कैसे सुखी-दुःखी, धर्मी-अधर्मी माना? सुख-दुःख तो देखे नहीं। ये सब तो ज्ञाति-जाति, देश-देश, समय-समय और मजहब-मजहबके कानून हैं! यह अध्यारोप है।

जब अपनी ब्रह्मताका बोध होता है तब अपवाद होता है। यह कोई हें-हें, में-मेंकी बात नहीं है। मजहबी होकर ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। आपके व्यवहारमें भले मजहबी ज्ञान रहे, आप

दाढ़ी रखिए चाहे चोटी ! उसमें आप स्वतन्त्र हैं। आप जनेऊ रखिये चाहे मत रखिये। आप मन्दिरमें पूजा कीजिये चाहे मत कीजिये। जैसी आपकी रिवाज हो, वैसा कीजिये। यह कोई बात नहीं है। जो सनातनी हो, वह मन्दिरमें पूजा करने जाय ! आर्य-समाजी हो तो मन्दिरमें पूजा करने न जाय। मुसलमान हो तो बुतपरस्त न हो, हिन्दू हो तो हो ! इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं हैं। उसकी बात हमें नहीं करनी है। हमें तो ब्रह्मात्मैक्यकी बात करनी है।

**ब्रह्मोत्मैक्यबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥५८॥**

जब आप अपने आत्माको अद्वितीय जानेंगे तब मोक्षकी सिद्धि होगी। उसके पहले दूसरा कोई साक्षात् साधन दे नहीं सकता है। मोक्षके परम्परा साधन तो सब हैं।

एक सज्जन हमारे बचपनके मित्र थे। वे डुमराँवके राजा-साहबके पास रहते थे। बहुत बुद्धिमान् और पढ़े-लिखे थे। जब मैं साधुओंके पास आने-जाने लगा तो उन्होंने कहा, 'पण्डितजी, पुनर्जन्म तो होता ही नहीं ! कौन-सी चीज है जिसका पुनर्जन्म होता है?' मैं बताऊँ और वे काटते जायँ ! हम परस्पर एक दूसरेको काटते जायँ ! वर्षोंतक हमारी बातचीत उसी ढंगकी चलती रही। मैं तो पुनर्जन्म माननेवाला, वे काटनेवाले ! बादमें गीताप्रेसमें गया। उसके बाद फिर गया तो दर्शनको आये !

मैंने उन्हें कहा, 'आप काटो पुनर्जन्मको !'

वे बोले—'बाबाजी ! आपकी बुद्धि बढ़ानेके लिए मैं काटता था।' वैसे तो वे मेरे शिष्य थे, परन्तु उमरमें मुझसे बड़े थे। वे बोले—'मैं उपदेश दे नहीं सकता था, तो काटता गया। अब तो महाराज, आप भी जानते हैं कि अध्यारोप-अपवाद कैसे होता

है और मैं भी जानता हूँ, इसलिए अब न काटनेकी जरूरत है न समर्थनकी।'

जो पुनर्जन्मको मानते हैं, उनकी बड़ी-बड़ी उन्नति उस मान्यताके द्वारा की जा सकती है। शरीरसे अलग है आत्मा। अतः आत्माको पाप-पुण्यका फल नहीं मिलता है। मोक्ष नामकी चीज दूसरी है। वह जन्म-मरण, लोक-लोकोत्तर, स्वर्ग-नरकसे जुदा है। वह समाधि-विक्षेप, इष्टदेवकी प्राप्तिसे न्यारी वस्तु है। ब्रह्मकी एकताका बोध माने अबोधसे बन्धन और बोधसे मोक्ष। परन्तु किस अबोध या किस अज्ञानसे बन्धन, किस बोधसे मोक्ष? यह मत सुनके आना गाँवसे कि बन्धन ब्रह्म और आत्माकी एकताके अज्ञानसे होता है। अज्ञान माने खास तरहका अज्ञान। ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे मोक्ष होनेमें क्या मोक्ष ज्ञानमें पैदा होता है? नहीं। अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसका जो स्वयंप्रकाश अधिष्ठान आत्मा है, वह मोक्षस्वरूप है।

**अन्यथा न सिद्ध्यति**—तुम जो यह सोचते हो कि 'आत्मज्ञान'-से मोक्ष हो जायगा, यह 'आत्मज्ञान' दूसरी चीज है। ईश्वरको जाना यह 'ईश्वरज्ञान' हुआ। दोनोंकी ब्रह्मरूपसे एकता यह दूसरी चीज है। 'आत्मज्ञान'से आप आत्माके साक्षी हो जाओगे। लिख लो इस बातको। आत्मज्ञान आपको असंग साक्षी बनाके छोड़ देगा। ईश्वरज्ञान आपको भक्त बनावेगा। आपको सायुज्यकी प्राप्ति हो जायगी। आत्मा और ईश्वरमें जो अखण्ड चेतन स्वरूप ब्रह्म है, उसके ज्ञानसे असंगका भी संग नहीं करना। असंगका भी अंग होता है। तो **अन्यथा न सिद्ध्यति**। उत्तरार्द्धकी श्रुति है—( श्वेताश्व० ६.१५ ]

**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

तैत्तिरीय आरण्यक ( १०.१० ) का वचन है—
न कर्मणा न धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥
ब्रह्मात्मैक्यबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥५८॥
वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥५९॥

अब दृष्टान्त देकर चुटकुला-कहानी सुनाते हैं। हम एक कहानी-को सौ तरहसे गढ़के सुना सकते हैं। उससे तत्त्वका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो मनोरञ्जन है। जिन लोगोंकी बुद्धि गम्भीर दार्शनिक तत्त्वमें प्रवेश नहीं पाती, उनके लिए अनुकूल दृष्टान्त गढ़ लिये जाते हैं। दृष्टान्त प्रमाण नहीं होते। डाक्टर, वकील, वैद्य अपने जीवनमें जैसे अनुभव होते हैं, उनका संग्रह कर लेते हैं। उनकी होती है स्मृति। स्मृति-प्रमाण कि—'अमुक रोगी ऐसा ही था। अमुक दवा उसे दी थी। उससे वह अच्छा हो गया था।'

दृष्टान्त-प्रमाण सबसे कमजोर है। उससे प्रबल है अनुभव-जन्य, स्मृतिजन्य प्रमाण, वह भी लौकिक। परन्तु ऋषियोंकी स्मृति एक जन्मकी नहीं होती, जन्म-जन्मके अनुभवकी होती है, लोक-परलोककी होती है।

अर्थ, भोग और कर्मकी स्मृति लौकिक होती है। धर्मकी स्मृति लोक-परलोक दोनोंका समन्वय करनेवाली होती हैं। इसलिए जब बलाबलका विचार करते हैं, तब सब प्रमाणोंमें निर्बल—समझाने-की प्रक्रियामें चुटकुले—होते हैं। कहानियाँ कथाएँ चाहे पौराणिक हों चाहे आधुनिक ! अपने मनसे उन्हें ढाल लिया जाता है।

स्मृति अनुभवसे पैदा होती है। इसलिए अन्य प्रमाणोंसे वह प्रबल होती है। स्मृति-प्रमाण लौकिक-पारलौकिक अनुभवमें काम देती है। परन्तु जहाँ परमात्माका वर्णन करना होता है, वहाँ

पौरुषेय अनुभवजन्य स्मृति काम नहीं देती। वह तो पुरुषकी अपनी स्थिति, परिस्थिति और वासनाके अनुसार होगी या अनुमानसे होगी। उसने एक अनुभूति एक संस्कार प्राप्त किया है, इससे उसे स्मृति हो रही है।

स्मृति और संस्कारसे विनिर्मुक्त जो अपौरुषेय है, वह स्मृति-प्रमाण है। तो चुटकुलेकी अपेक्षा वैद्य, डाक्टर, वकील, प्रोफेसर और बड़े-बूढ़ोंका अनुभव ज्यादा प्रमाण है। उनके अनुभवकी अपेक्षा ऋषियोंका—परन्तु ऋषियोंके अनुभवमें भी भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव हो सकता है, क्योंकि सम्भव है, उनकी बुद्धिने ठीक-ठीक ग्रहण न किया हो, ग्रहण करनेमें कोइ भूल हो गयी हो। शायद कोई ऋषिके रूपमें ठगना ही चाहता हो! वह सच्चा ऋषि न हो और उसके अन्तःकरणने विषयको ठीक-ठीक ग्रहण न किया हो। इसलिए पौरुषेय अनुभवजन्य जो स्मृति है, उसकी अपेक्षा अपौरुषेय ज्ञानस्वरूप जो श्रुति है, वह परम प्रमाण है।

श्रुति-ज्ञानका स्वरूप क्या है? वह यह है कि ज्ञान दो चीज नहीं गढ़ता। सच्चा ज्ञान लौकिक ज्ञान, स्मृति-ज्ञान, चुटकुलेका ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान—सबमें एकको बनाता है ज्ञाता और एकको बनाता है ज्ञेय। जो परमार्थ—सच्चा ज्ञान है, वह ज्ञातापनेका अभिमान पैदा नहीं करता। वह जाननेवालेको ज्ञानी नहीं बनाता और विषयको ज्ञेय नहीं बनता। तब सच्चा ज्ञान होता है। 'इस-इस' को जाना है। यदि जाना हुआ पदार्थ अलग-अलग हो गया तब भी सच्चा ज्ञान नहीं हुआ। तो सच्चा ज्ञान पूर्ण है, इसलिए बात यह है कि ये दुनियादारीकी चीजें हैं न!

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम्।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥५१॥

हजार रुपयोंकी, लाखों रुपयोंकी वीणा बनती है। उसपर हीरा-मोती-रत्नोंके बेलबूटे लगवाये जाते हैं। उसका रूप-सौन्दर्य विचित्र है। बजानेवाले ऐसा बढ़िया अभ्यास कर लेते हैं! हमने तो वीणा और सितार भी सुनी है। वह हाथकी कला है! उंगली कैसे छूकर चलती है! छूना पता ही नहीं चलता है। आवाजमें वह सौन्दर्य वह सौष्ठव आजाता है! कहते हैं कि ये सम्राट् हो जायेंगे। क्यों? इनके पास इतनी बढ़िया वीणा है! इतना अच्छा संगीत है। परन्तु, नहीं होंगे सम्राट्। 'प्रजारञ्जनमात्रः' माने दूसरोंको खुश कर सकते हैं।

वीणापर कौन-सी राग-रागिनी बजायी जाय? यह भैरवी, घनाक्षरी, केदारा है, यह आशावरी है। बजाओ! सुननेवाला झूम उठे। समाधिस्थ हो जाय। बड़ा आनन्द आया। परन्तु न बजानेवाला सम्राट् होगा न सुननेवाला—

**वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।**
**वैदुष्यं विदुषां तद्भुक्तये न नु मुक्तये ॥६०॥**

ऐसे *tone* में व्याख्यान देते हैं। 'टोन' के लिए 'स्वन्' शब्द है। ऐसी तबलेकी थाप पड़ती है न! एक एक अलग-अलग मालूम पड़ती है—तान् धिना धिन् धिन्। वाग्वैखरी माने जीभमें-से एक-एक शब्द बिलकुल खुला, नपा-तुला! किस रफ्तारसे बोला जाय, किस ढंगसे बोला जाय। कई व्याख्यानदाता सुननेवालेको सोचनेका मौका नहीं देते। बोलते जायँ बोलते जायँ। उसको मूर्च्छित कर देते हैं। हम लोग सब विद्या जानते हैं। हम विषयको न जानते हों और सभा में कोई फरमाइश कर दे तो ऐसी भाषामें बोलें कि सुननेवालेकी समझमें कुछ नहीं आयेगा और खब तारीफ करेगा कि बहुत बढ़िया! वाह वाह वाह!!

वाग्वैखरी शब्दझरी—शब्दोंकी झड़ी लग गयी। मानों फूलों-की झड़ी लग गयी। फूलझड़ी आपने देखी होगी। वही है 'शब्द-झरी।'

'शास्त्रव्याख्यानकौशलम्'—एक शब्दका ऐसा-ऐसा व्याख्यान करें। मैं काशीमें गया था पिछली बार तो मैंने पण्डितोंका शास्त्रार्थ करवाया। वहाँ ऐसी रिवाज है। सब विद्यार्थी आये। पण्डित आये। उनको दक्षिणा देते हैं। मैंने विषय रखा था—'वाक्यार्थ-निरूपण-कौशलम्।' किसी भी वाक्यका अर्थ-निरूपण करनेमें कैसी कुशलता होनी चाहिए? उदाहरणके साथ उसे सामने रखा जाय और उसका निरूपण किया जाय।

'वाक्यार्थनिरूपण-कौशलम्'—संस्कृतमें परचा छपा था उसमें यही शब्द छपा था। ऐसा-ऐसा निरूपण करते हैं! पहले तो पद क्या होता है, वाक्य क्या होता है, उसीपर शास्त्रार्थ हुआ। फिर उसका वाक्यार्थ कैसा होता है। अक्षरसे पद, पदसे वाक्य बनते हैं। वाक्यमें कोई एक अर्थ होना चाहिए। वाक्यमें दो अर्थ हो जाय तो वाक्य बिगड़ जाय। किस कुशलतासे उसका निरूपण करना चाहिए। एक ग्रन्थ, 'पद-वाक्य-रत्नाकर' है, दूसरा 'वाक्य-पदीय' है। वाक्यके सम्बन्धमें कई बड़े-बड़े शास्त्र हैं। पण्डित तो बड़े भारी हैं। एक वाक्यके बीस अर्थ बता दें, सौ अर्थ बता दें! आपको नमूनेके लिए बता देता हूँ!

**सब कर मत खग नायक एहा।**
**करीअ राम पद पंकज नेहा॥**

एक आदमीने इसपर सवा लाख अर्थ लिखा है। वह छपा भी था। जबलपुरमें हमारे एक मित्र हैं! व्योहार राजेन्द्र सिंह! उनके पास वह लेख है। आपको अर्थ बतावें?

खगनायक माने गरुड़। 'हे गरुड़! सबका मत यही है।' यह तो उसका सीधा अर्थ हुआ। अब उलटा अर्थ देखो—

**'सबक रमत खगनायक एहा।'**

बगुलेसे लेकर गरुड़तक सब इसीमें रमते हैं।

'करीअ राम पद नेहा'

'सब कर मत ख।' माने सबका मत शून्य है।

'गना इक एहा'—यही एक गिनने लायक है।

'सब कर मत खग।' माने चिड़िया। सब ना एक एहा—सब मत ताली बजायी और उड़ गये। यही एक ऐसा मत है जो उड़ता नहीं है।

'सब कर मत।' माने सब काम मत कर। 'खगना एक एहा।' यही एक कर। क्या? 'करीअ रामपद पंकज नेहा।' रामके चरणोंमें प्रेम करना। इसका नाम हैं मनोरंजन! गाना, नाचना, बजाना आनन्ददायक है। आप ठुमरी सुन लीजिए, दादरा सुन लीजिए।

**वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।**
**वैदुष्यं विदुषां तद्भुक्तये न तु मुक्तये॥**

बड़े-बड़े पण्डित! दो-दो रुपयोंमें व्यवस्था बदल देनेवाले! अब दस-बीस रुपयेमें बदलते होंगे। बड़े पण्डित, परन्तु, दोनों 'एकादशी'—आज है कि कल है? इधरसे रुपया मिला तो आज कर दिया, उधरसे रुपया मिला तो कल कर दिया! पण्डिताईसे काम नहीं चलता! इससे भोगकी सिद्धि होती है, मोक्षकी नहीं।

जिसके हृदयमें सच्ची लगन नहीं है, जिज्ञासा नहीं है, जो ईमानदारीसे इस रास्तेपर चलना नहीं चाहता है, उसके लिए तो कुछ नहीं है। ●

## : २४ :

२७-६-७५

आत्मज्ञानके महत्त्वके प्रसंगमें यह बात कही गयी कि जो बात ज्ञानसे मिलती है, होती है या जानी जाती है, वही बात यदि योगसे, कर्मसे, सांख्यविद्यासे जानी जाती हो तो ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं रहा। किसी भी वस्तुका महत्त्व होता है तो वह तब जब वह अनन्य-साधारण हो ! दूसरे किसी साधनसे वह सिद्ध ही न होती हो ! गुरुका महत्त्व भी तभी होता है जब शिष्य यह समझता है कि यह ज्ञान दूसरे किसीसे इनके सिवाय नहीं मिल सकता। जबतक उसके खयालमें यह रहता है कि यह ज्ञान हम कहींसे भी, किसीसे भी प्राप्त कर सकते हैं, तबतक गुरुका अनन्य-साधारण महत्त्व नहीं होता। जैसे साधनमें भी यह मालूम पड़ता है कि यह योगसे भी, सांख्यसे भी मिल जायगा, तबतक ज्ञानकी महिमा ठीक-ठीक समझमें नहीं आती। योगसे समाधि मिलती है, यह ठीक है, परन्तु समाधि तो प्रपंचकी एक अभान अवस्था है और वह व्यवहारमें नहीं रह सकती। योगसे समाधि-कालमें आप ब्रह्म हो भी जायेंगे, तो विक्षेपकालमें आपकी ब्रह्मता बाधित हो जायगी।

यदि सांख्यके द्वारा आप विवेक कर भी लेंगे, कि प्रकृतिसे प्रकृति, विकृतिसे विकृति, कारणसे कार्य और कार्यसे कारण, कार्य-कारणसे और कार्यसे मैं पृथक् असंग हूँ, तब भी आप पूर्ण नहीं होंगे, क्योंकि आधा तो प्राकृत है और आधा आप हैं, प्रकृति

बहिर्देशमें है। देशका विभाग बना रहेगा। यदि आपमें सांख्यका विवेक होगा तो वह विवेक तो होगा स्वरूपका, परन्तु पूर्णता नहीं होगी। योगसे समाधि तो लगेगी, परन्तु विक्षेप-कालमें भी ब्रह्म ही है, यह बोध नहीं होगा।

कर्मसे स्वर्गके समान देशमें, कालमें, वस्तु-विशेषके रूपमें आपके कर्मका फल मिल सकता है, परन्तु वह अविनश्वर नहीं हो सकता। विद्याके द्वारा आप किसीको जानकर उसकी उपासना कर सकते हैं, तन्मय हो सकते हैं, परन्तु वह विद्या वही है जिसकी उपनिषद्में देवप्रापक-विद्या कहा गया है—**कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः** (बृहदारण्यक उपनिषद् १.५.१६)। ब्रह्मात्मैक्यत्व-बोधसे जो वस्तु मिलती है वह और किसी भी उपायसे नहीं मिलती है। यहाँ तक कि अनन्य-महत्त्वका ज्ञान नहीं होगा क्योंकि यह बात इसके सिवा दूसरी किसी वस्तुसे मिलती ही नहीं है। 'पंचायत-चतुराई' दूसरी चीज है, समन्वय-समुच्चय दूसरी चीज है, संवेदन दूसरी चीज है। वे सब सामाजिक व्यवहार हैं।

केवल आत्मज्ञान होगा तो आप द्रष्टा हैं और केवल ईश्वर-ज्ञान होगा तो आप भक्त हैं। ईश्वरमें-से नियन्तृत्व आदिका निषेध करके और असंग साक्षीमें-से परिच्छिन्नता आदिका निषेध करके जब केवल चिन्मात्र-दृक्मात्रमें एकताका अनुभव होगा तब मालूम पड़ेगा कि मोक्ष तो अपना स्वरूप है, स्वतःसिद्ध है। न बन्धन होता है न मोक्ष! बन्धन है ही नहीं और मोक्ष है ही है। ज्ञान-अज्ञान, विक्षेप, अविवेक-कालमें भी है।

'न योगेन' माने विक्षेपमें भी, न सांख्येन माने अविवेककालमें भी; न कर्मणा माने कर्मकाल, कर्मफलकाल और न कर्मकाल, न कर्मफलकालमें भी—सब समय मोक्ष है। न विद्या है, न देवता है,

न उपासना, वह भी मोक्ष है। **मोक्षः सिद्धयति नान्यथा**—अन्यथा मोक्षकी सिद्धि नहीं होती।

किसीके पास सुन्दर वीणा है। ऐसी सुन्दर जो लाखों रुपयामें बनी है। खूब बढ़िया बजाना भी आता है। उससे दूसरे लोग खूब प्रसन्न होंगे आप जनरंजन कर सकेंगे; मनोरंजन कर सकेंगे। दुःखभंजन भी कर सकेंगे। लेकिन वीणा बढ़िया होने—बजानेसे कोई साम्राज्य नहीं मिल सकता, वह व्यक्ति सम्राट् नहीं हो सकता। साम्राज्य-प्राप्तिका साधन वीणावादन नहीं हो सकता।

कोई बड़े भारी विद्वान् हैं, अच्छा व्याख्यान देते हैं, ठीक है। वीणा तो बाहरी चीज है। उससे बाहरी साम्राज्य भी नहीं मिल सकता, परन्तु जो—शास्त्र हैं, शास्त्रनैपुण्य है, उससे तो मिल सकता है? ना।

वाग्वैखरी—ऊँची आवाजमें स्पष्टं स्पष्टं बोलते हैं। देहाती लोग मुँहफट होते ही हैं। ऐसा देखनेमें आता है कि जिनके पास कुछ होता है, किसी पदकी मर्यादा या ओहदेपर होते हैं, किसीके पास पैसा ज्यादा होता है तो चाहे जिस किसीको, चाहे जो कुछ कड़वा बोल दें। वे कड़वा बोलना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। हम हर बातकी चापलूसी थोड़े ही करते हैं कि आप बड़े हैं तो कड़वा बोलिये! कोई सत्य बोले और यथार्थके अनुरूप बोले, फिर भी यदि उसके बोलनेमें रस न हो,—सत् चित् तो है परन्तु आनन्द नहीं है। वाणीमें, चलनेमें, करनेमें भी सत्-चित्-आनन्द होना चाहिए। बड़ी अद्भुत बात है। हमको महात्माओंने सिखाया है।

बर्तन रखते समय यदि 'खट्' से आवाज हो गयी तो महात्माओंने हमसे कहा, 'अरे, इसे चोट लग गयी!' बर्तन माँजनेमें

यदि खरोंच पड़ गयी तो डाँट भी पड़ी है। हमने बर्तन भी माँजा है। स्वामी योगानन्दजीके पास जाकर बर्तन भी माँजते थे। बर्तन पूजाका हो या उनका खाया हुआ हो, परन्तु खरोंच पड़ गयी तो जरूर डाँटते थे कि तुम्हारा शरीर छिल जाय—चोट लग जाय तो कैसा लगेगा ?

सिर्फ ऊँचे स्वरमें बोलना, बढ़िया भाषामें शब्दोंकी झड़ी लगा देना, तरह-तरहसे शास्त्रके व्याख्यानका कौशल दिखाना, यह जादूगरी है। **'वैदुष्यं विदुषां चापि'**—पण्डिताई तो बड़े काम आयेगी। जैसे मिर्जापुरी पहलवान अपनी मूँछ ऐंठते हैं न, ऐसे पण्डित लोग भी मूँछ ऐंठते हैं जब शास्त्रार्थ करने लगते हैं। हमने वर्षोंतक देखा है। वे मसलते जाते हैं, और बहस करते जाते हैं। घुटनेके बल खड़े हो जाते हैं और तब लगता है कि मारपीट होगी। हैं बड़े विद्वान्—**'वैदुष्यं विदुषां चापि।'**

एक बात सच्ची है या झूठी, यह तो नहीं जानते, क्योंकि हमारी बुद्धि हजार-बारह सौ वर्ष पहलेकी बात सोच नहीं सकती। सुनी-सुनायी बात है। सुनते हैं, कर्णवास गंगाजीके पास है। वह तो हमारा देखा हुआ है। अब भी है। बताते हैं कि एक दिन दत्तात्रेय और शंकराचार्य दोनों मिल गये कर्णवास-क्षेत्रमें, गंगाजीके किनारे। भोजनके समय दोनों भिक्षा करने गये गाँवमें। दत्ता-त्रेयजीको तो बाजरे-बेझरकी रोटी मिली—रूखी-सूखी और शंकरा-चार्यको मिला लड्डू-हलुआ, पूरी ! जब दोनों गंगा-किनारे इकट्ठे हुए भोजन करनेके लिए, तो दत्तात्रेयजी बोले, 'क्यों भाई शंकर ! दत्तात्रेय तो बड़े हैं न, सिद्ध आचार्य ! 'क्यों शंकर !'

'हाँ महाराज !'

'क्या गुण दिखाया है गाँवमें कि तुम्हें लड्डू-पूरी मिले हैं ?'

'ना भाई, हमने तो कोई गुण नहीं दिखाया है !'

'कुछ तो जरूर दिखाया होगा ! अच्छा, क्या करते थे तुम ?'

'मैं सौन्दर्य-लहरीके श्लोकोंकी रचना करते हुए, गुनगुनाते हुए"······बहुत उत्तम रचना है सौन्दर्य-लहरी !

'बस बस ! किसी पण्डितने सुन लिया होगा कि बड़े भारी पण्डित हैं ! तब लड्डू-पूरी-हलुआ मिला है । यह भिक्षा फक्कड़ीकी नहीं, पण्डिताईकी है ।'

**मुक्तये न तु भुक्तये**—यह बड़ा भारी जो वैदुष्य है, 'वैदुष्यं विदुषां चापि'—यह तुम्हारा वैदुष्य तुम्हें बहुत अच्छा भोग दे सकता है, बहुत बढ़िया मकान दे सकता है ! परन्तु यह पण्डिताई मुक्ति नहीं दे सकती । क्योंकि यह अहंकारके आश्रित रहती है और अहंकारको बढ़ाती है ।

**विद्या ददाति विनयम्**—विद्याका फल विनय है, अभिमान नहीं है । 'सा विद्या या विमुक्तये'—सच्ची विद्या वह है जो तुम्हें मुक्ति दे । वह नहीं जो तुम्हें रेशमके कीड़ेकी भाँति बांध दे ।' अहम् विद्वान्, अहं विद्वान् । पाण्डित्य—वैदुष्यसे भोग मिल सकता है, मुक्ति नहीं ।

शास्त्रज्ञानसे तत्त्वज्ञानकी तो खूब बनती है, यह दूसरी बात है ! अब भाई खूब शास्त्र पढ़ लेनेसे एक बात तो तुमने मान ली ! क्या ? यदि शास्त्रका खूब पण्डित हो और तत्त्वज्ञान न हो तो वह शास्त्रज्ञान व्यर्थ गया । यह तो मान ली बात ?

**अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।**
**विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥६१॥**
**विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।**

विद्या मिली तो धन पाने लगे ! शक्ति मिली तो दूसरोंको

पीड़ा पहुँचाने लगे। भर्तृहरिने तो कहा—माताका यौवनरूप जो वन था, उसको हमने कुल्हाड़ी बनकर काट दिया। बच्चा जवान हुआ, माता बुढ़िया हुई। इसके सिवा जन्मनेका और कोई फल नहीं मिला। माँको मैंने बुढ़िया बना दिया।

( वैराग्यशतक ११ )

**अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।**

यदि परम तत्त्वका विज्ञान नहीं हुआ,—विज्ञान माने अनुभवात्मक ज्ञान तो जिस एकसे अनेककी सिद्धि होती है, और अनेकसे एक विलक्षण है, उसका नाम ज्ञान और जिस एक आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, इसका जो ज्ञान है, उसका नाम विज्ञान है। तत्त्वका विज्ञान हुआ ? नहीं हुआ। तो इतना बोझ लेकर 'दर्वी पाकरसं यथा'-कलछी होती है—जिससे दाल-चावल को चलाते, घुमाते-फिराते हैं, सब भोजनमें वह घूमती है, परन्तु क्या खट्टा है, क्या मीठा है, उसका स्वाद तो उसे मालूम ही नहीं है। आपकी बुद्धि तो कलछीकी तरह है।

**अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।**

यदि आपको परम तत्त्वका—परिपूर्ण तत्त्वका, सर्वावभासक, स्वप्रकाश तत्त्वका—पर तत्त्वका माने प्रत्यग्-अभिन्न तत्त्वका—

**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः**
**( कठोप १.३.११ )**

सबसे परे क्या है ? अपना आत्मा। इसीके सामने आती है माया ! इसके सामने आता है मायोपाधिक ईश्वर, कार्य-कारण और दुनिया। यह आतमा ही परम तत्त्व है। इसको यदि नहीं जाना तो 'सर्वंशास्त्राधीति निष्फला।' सब शास्त्रोंका अध्ययन निष्फल गया, निष्फल ! बचपनमें हम 'ज्ञानवैराग्य-प्रकाश' नामकी

पोथी पढ़ा करते थे। अब आप लोग तो बड़ी-बड़ी पोथी पढ़ते हैं। अब 'ज्ञानवैराग्य-प्रकाश' छपता है कि नहीं, यह भी हमें मालूम नहीं है'। वह पीछे पड़ गया।

एक सज्जन बहुत पढ़े-लिखे-शिक्षित थे। कई विषयके 'डाक्टर' थे। वे नावपर नदीके पार जा रहे थे। मल्लाहसे बातचीत शुरू की। बोले विना तो उनसे रहा न जाय। उन्होंने मल्लाहसे पूछना शुरू किया 'चाँदनी रातके बारेमें तुम कुछ जानते हो?' विज्ञानशास्त्रके बारेमें तुम जानते हो? आजकल लोग चन्द्रलोकपर जाने लगे हैं। कैसे-कैसे राकेट बने हैं यह जानते हो? मल्लाहने जवाब दिया, 'नहीं।'

फिर उन्होंने पूछा—'अच्छा, वेदान्तशास्त्रके बारेमें तुम्हें कछ मालूम है?'

मल्लाहने कहा, 'नहीं।'

उन्होंने कहा, 'तुम्हें दर्शन, साइंस, साहित्यका ज्ञान नहीं है। तुम्हारी तीन हिस्सा जिन्दगी बेकार गयी। बस, नाव चलानेमें लगे रहे!'

इतनेमें नाव नदीमें गड़बड़ा गयी। मल्लाहने कहा, 'बाबूजी तुम्हें तैरना आता है?'

वे बोले—'नहीं'

मल्लाह—हमारी तो तीन हिस्से जिन्दगी खराब गयी, एक हिस्सा बची है, बचा लेंगे। लेकिन तुम्हारा तो चारों हिस्सा जिन्दगीका खराब गया। डूबो पानीमें।

इस संसार-सागरमें जिसको उतराना-तैरना, डुबकी लगाना आता है—सब विद्या चाहिए। समाधि माने डुबकी। असंग साक्षीके रूपमें बैठ गये तो तैर गये। कभी देख लिया, 'यह क्या?

परम तत्त्वका विज्ञान हुए बिना सारा शास्त्रज्ञान निष्फल जाता है।

**विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।**

जब तत्त्व-विज्ञान हो गया, यह समझ गये कि कि प्रत्यक् तत्त्वके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं तो फिर शब्दजाल शास्त्राध्ययनकी क्या जरूरत ? जब शास्त्र पढ़ा तब तो शास्त्र पढ़नेका सच्चा फल नहीं मिला। फल मिल गया तो फिर पढ़नेकी क्या जरूरत ? नदी-पार नहीं गये तो नावपर बैठना बेकार गया। जब पार हो गये तो नावकी कोई जरूरत नहीं। अगला श्लोक श्री उड़ियाबाबाजी महाराज बड़े प्रेमसे बोला करते थे—

**विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥ ६१ ॥**
**शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।**
**अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः ॥**

जो बहुत जानते हैं, यह जाना, यह जाना, यह जाना तो कुछ नहीं जाना !

वैशेषिकने कहा—'इस एक-एक वस्तुमें जो विशेषता है उसे गिनके देखेंगे।' सांख्यने कहा, 'हम गिनती करेंगे। बौद्धोंने कहा, हम सबका अभाव अनुभव करते हैं।' ऐसा नहीं होता है।

**शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।**
**अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः ॥ ६२ ॥**

बाबा यह श्लोक ही ज्यादा बोलते थे। वे बोलते थे—'भटक जाओगे, मत पड़ो रे मन शास्त्रजंगले।' हम यह नहीं जानते कि यह किस भाषामें है—असमिया, उड़िया. बंगला। ये तीनों बोलियाँ प्रायः एक सरीखी हैं। वे तो उड़िया थे, परन्तु यह पंक्ति बोलते थे। 'हे मेरे मन ! शास्त्रके जंगलमें मत भटको, उसमें इतने मार्ग,

इतने रास्ते, इतनी चीजें, इतनी गतिविधियाँ और इतने साधन हैं, कि तुम उस जंगलमें भटक जाओगे। जंगलमें मत जाना, हो ! हमें याद है, एक बार हम 'शाकंभरी देवी' गये। सरहानपुरके पास ४०-५० मीलपर वह मन्दिर है। हम नहीं जा सके। जब वहाँके एक जानकार आदमीको साथ लिया, तब वहाँ गये। वैसे तो उस जंगलमें इधर-से-उधर रास्ते तो बहुत हैं ! शास्त्रमें कहीं भूत-भैरव तो कहीं देवताओं-पितरोंकी उपासना है, जादूगरी है, सिद्धियाँ हैं। ये झूठी नहीं हैं, ये भी होती हैं ! फँसते वे लोग हैं जो वासनावाले हैं। उनको महत्त्वपूर्ण वे लोग समझते हैं जो संसारको महत्त्वपूर्ण समझते हैं। उनको झूठी वे कहते हैं, जिन्होंने कभी कुछ किया नहीं, देखा नहीं, यह भी संसारका एक रूप है।

एकने कहा—'महाराज ! एक सज्जन हैं, वे मदारीकी तरह हिप्नोटाइज करते हैं। सिद्धियाँ दिखाते हैं।' आजकल तो वे लोग उन्हींके पास जाते हैं। हमने कहा, 'बाबा, सिनेमा देखनेके लिए लोग जाते हैं, तो उनकी हम टीका-टिप्पणी नहीं करते। अरे जो लोग तमाशा देखना चाहते हैं, वे सिनेमामें जायेंगे। जो लोग जादू-का खेल देखना चाहते हैं वे जादूमें जायेंगे। जो भगवान्की भक्ति करना चाहते हैं वे भगवान्में जायेंगे। जिन्हें आत्मा-परमात्माका ज्ञान चाहिए, वे ज्ञानकी बातें सुनेंगे। ये तो सब अलग-अलग विभाग हैं। अपनी योग्यताके अनुरूप वे अपनी जगहपर जाते हैं।'

**शब्दजालं महारण्यम्**—यह शब्दोंका जो जो जाल है, वह महा अरण्य है, जंगल है। उसमें आदमी नहीं भटकता, चित्त भटकता है।

**चित्तभ्रमणकारणम्**—द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, अनेकान्त, शून्य, जडवाद—शास्त्रमें ये सब निकल आवें। किधर जाओगे ? 'हम अपने शास्त्रको मानते हैं।' तो ठीक है बाबा !

पहले ही जानकारीसे मानकारीमें आगये न ? जब अपने शास्त्र, पन्थ, सम्प्रदाय, फिरकाको मानते ही हो, तो उससे अच्छा यह होगा कि अपने गुरुको मानो। क्योंकि मजहबमें भी तरह-तरहकी बातें होती हैं : भटक जाओगे।

**चित्तभ्रमणकारणम्**—शरीरको भटका देना बहुत बड़ी बात नहीं है, परन्तु चित्तको भटका देना बहुत बड़ी बात है। हमारे एक मित्र थे। उन्होंने 'खण्डनखण्ड-खाद्यकी बहुत तारीफ सुनी तो उनके मनमें इच्छा हुई कि हम भी पढ़ें। हमने उन्हें पुस्तक दे दी। चार-पाँच दिन उसे पढ़कर आये और बोले—'पण्डितजो, इसमें उन प्रश्नोंका समाधान है जो हमारे मनमें कभी नहीं उठते। और ऐसे प्रश्नोंका समाधान यदि हम ढूँढेंगे तो कभी प्रश्न और समाधानकी इतिश्री मिलेगी ?

दुनियामें अबतक कितने प्रश्न उठे हैं और उनके कितने समाधान दिये जा चुके हैं ? क्या हम एक-एक प्रश्नकी बालकी खाल निकाल करके, उनका समाधान सीखने लगेंगे तो हमें कभी समाधान मिलेगा ? क्या यह जिन्दगी भटकानेके लिए मिली है ? यहाँ नहीं, वहाँ ? ठीक रास्तेसे चलते नहीं, ठीक वस्तुको पाना नहीं चाहते ! कोई लक्ष्य नहीं, कोई लक्षण नहीं। तो 'महाचित्तभ्रमण-कारणम्।'

**तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः**—इसलिए भाई, 'आत्मनस्तत्त्वं प्रयत्नात् ज्ञातव्यम्।' इसलिए दूसरेका तत्त्व नहीं, अपना तत्त्व। दूसरेका तत्त्व जरा दूर पड़ेगा। दूसरेके मनमें क्या बात है इसका पता लगाते हैं। कैसे ? कोई ज्योतिषसे कि इससे हमारी नाड़ी, ग्रहमैत्री, राशि, लग्न सब मिलता है कि नहीं ? आप लोग शायद जानते नहीं होंगे, हमारा तो पुश्तैनी—पीढ़ी-दरपीढ़ीका व्यवसाय रहा। इतनी मामूली-मामूली बातें इसमें होती हैं कि आपके लिए

तो वह गंभीर हो जायेंगी, आप पूछेंगे ! जो जानते हैं वे तो इसको हँसी-खेलमें लेते हैं।

हम आपसे पूछना चाहते हैं, 'लालाजी भाई और प्रवीणभाई दोनोंमें मित्रता होगी कि शत्रुता ? इसका उत्तर कैसे देंगे, बतावें आपको ? 'अच्छा, उसका नाम क्या है ? प्रवीणजी भाई—छः अक्षर, लालजी भाई पाँच अक्षर। पूछनेवालेका नाम नूतन—तीन अक्षर। चौदह अक्षर हुए, इसे तीन भागोंमें बाँटो ! एक बचे तो मित्रता, शून्य बचे तो शत्रुता। और बचे तो ? तीन तो बचेगा नहीं ! दो बचे तो न मित्रता न शत्रुता।'

अब देखो इसी गणितके आधारपर यदि आप किसीको अपना शत्रु और मित्र मानने लगोगे तो आपकी जिन्दगी मिट्टीमें मिल जायगी। यह तो हमारे पासवाले लोग जानते हैं। मैं जानता हूँ। ऐसी कमजोर नींवपर यदि आप अपने जीवनका संचालन करोगे तो कैसे वह ठीक राहपर चलेगा, जब पीपलवाला भूत आपके जीवनका संचालन करेगा ? हमारे एक मित्र थे। उनको ऐसी लत पड़ गयी कि कहीं बाहरगाँव जाना हो तो पहले 'प्लेन-चट' पर पूछें कि 'जायँ कि नहीं ? व्यापार करना हो तो पूछें। तिपाई उसपर चलती है। कागजके टुकड़ोंपर कुछ अक्षर लिखे रहते हैं। अब ऐसा हुआ कि उस घरके लोग बहुत परेशान हुए। वे हमारे पास आये तो हमने बहुत ढंगसे समझाया कि यह कितना व्यर्थ है।' मैं तो वी. वी. सी. से भी मिला हूँ। और हम जानते हैं कि जीवित मनुष्यकी आत्मा भी बुलायी जा सकती है। परन्तु वह आत्मा नहीं आती है। हमारा मन ही उस आत्माका रूप धारण करके आता है।

अरे भाई ! तो आप यदि अपना मन ऐसे रखेंगे तो परमात्माके मार्गपर कैसे चलेंगे ? यदि आप भाँग पीकर सोचते हैं कि

हमारा ध्यान बहुत बढ़िया लगता है तो हम हाथ जोड़ते हैं। आप भाँग पीजिए, ध्यानका नाम मत लीजिए। नशेमें कहीं ध्यान लगता है? भाँग पीकर ध्यान लगाओगे तो ध्यानका जो अभ्यास-संस्कार बनता है, उससे जो गाढ़ता आती है और अपूर्व उत्पन्न होता है, वह आपके हृदयमें बनेगा ही नहीं। नशा पीके ध्यान करनेपर उसका अपूर्व उत्पन्न नहीं होगा। छोटी-छोटी बातोंमें मत फँसिये।

**अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः ॥**

अब इसका एक रहस्य आपको सुनाता हूँ। 'योगदर्शन'में कहा गया है कि यदि आप दूसरेके मनकी बात समझना चाहते हैं तो पहले आप अपने मनकी बातको समझिए। यह सिद्धि है।

**प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्**—(३.१९) अपने चित्तमें कैसी-कैसी वृत्तियाँ उठती हैं, क्या देखके क्या उठता-बैठता है—अपने मनकी बातको पहले समझिये। 'यदि आप अपने मनको ठीक-ठीक समझ जायेंगे तो दूसरेके मनको भी ठीक-ठीक समझ जायेंगे,'—यह मैंने दृष्टान्त दिया योगदर्शनका। अब दार्ष्टान्त सुनिये।

दार्ष्टान्तिक क्या है? यदि आप अपनेको जानेंगे तब तो दूसरेको जान सकेंगे! यदि आप इस चाम-हड्डी-मांसके भीतर, पीब-चरबी, कलेजेके पिण्डके भीतर जो अपना 'मैं-मैं' फुर रहा है, यह जो दाल चुर रही है, धड़कन चल रही है, यदि आप अपने 'मैं'-को नहीं समझेंगे तो दूसरेके मैंको समझनेका दावा बिलकुल झूठा है।

श्रीउड़िया बाबाजीसे किसीने पूछा—'महाराज ईश्वरका क्या स्वरूप है?'

बाबा—'तुम अपने स्वरूपको जानते हो?'

वह—'नहीं महाराज!'

बाबा—'तो साढ़े-तीन हाथके शरीरके भीतर रहनेवाले अपने 'मैं' को तुम नहीं जानते, तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवालेको जाननेकी बात करना यह हिमाकत है।' हिमाकत माने दुस्साहस।

**अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः।**

**आत्मनस्तत्त्वज्ञातव्यम्**—मेरा तत्त्व क्या है, मैं स्वयं क्या हूँ यह जानना उचित है। कहाँसे मालूम करें? एक तो चाहिये प्रयत्न। अर्थी हो तत्त्वज्ञानका। आप खरीददार हैं कि नहीं तत्त्वज्ञानके? वाणिया लोग समझ जाते हैं, एक ग्राहक आया है दुकानमें। पचीस थान अबतक उलट चुका है, पचीस साड़ी देख चुका। खरीदनेवाला है कि नहीं? देखते ही भाँप लेते हैं। बनारसी गाली सुनाता हूँ। जब कोई जूता खरीदनेके लिए दुकानमें जाता है; एक दिखाया, दूसरा दिखाया; तीन-चार-पाँच दिखा चुके तब दुकानदार हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है और बोलता है, 'गुरु! आपके मुँहके लायक हमारी दुकानमें नहीं हे। यह दुकानदारीके विरुद्ध है। ऐसा बोलना तो नहीं चाहिए।

आप तत्त्वज्ञानके अर्थी—खरीददार हैं कि नहीं? आपका प्रश्न या वाणी सुनकर दो मिनटमें निर्णय दे सकते हैं। आप हमारे पास जिज्ञासु होकर आये हैं कि नहीं? यह हम शकल देखकर पहचान लेते हैं। आपका मन तो अभी उनके पास जानेका है, इनसे ज्ञान पानेका है, उनसे सीखनेका है।

**ज्ञातव्यं तत्त्वमात्मनः**—दीयेकी लौसे लौ जलती है। आप अपने कलेजेके भीतर ज्ञानका दीपक जलाना चाहते हैं? तो किसी ज्ञानीके हृदयसे, जिसमें ज्ञानकी लौ जलती हो, उसके दिलसे अपना दिल मिला दीजिए। उससे मतभेद मत कीजिए। उसकी रायको

समझिए। अनुकूल दिशामें सोचिए। जब दीयेकी बत्ती दूसरी जलती हुई ज्योतिमे मिलती है, तो वह भी जल उठती है। दीया जलानेका यही उपाय है। लौसे लौ जलती है, ज्योतिसे ज्योति जलती है। कहाँसे मिले यह ज्ञान? एक तो सच्चा खरीददार चाहिए। दूसरे सच्ची दुकान मिल जाय। सच्ची दुकानमें सच्चा माल होता है।

**अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना।**
**किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६१॥**

हमारे एक मित्र कहते हैं कि 'स्वामीजी! अन्तःकरणशुद्धिके लिए कोई जप-तप, अभ्यासकी जरूरत नहीं है। अब लेबोरेटरीमें ऐसा इन्जेक्शन तैयार हो रहा है कि एक लगावें तो न काम आवेगा न क्रोध। मौजसे बैठकर जम्हाई लेते रहो।'

**अज्ञानसर्पदष्टस्य**--अरे भाई! यह तो अज्ञानका साँप डँस गया! इसकी एक दवा है और एक ही दवा है, दूसरी नहीं। बहुत वेद पढ़नेसे, वेदपाठीको भी साँप काट जाता है। बहुत शास्त्र पढ़नेसे, बहुत मन्त्र बोलनेसे, बहुत औषधके सेवनसे भी साँप काट जाता है।

मन्त्रकी बात सुनावें? हमारे गाँवके आसपास गोंड़ जातिके आदिवासी लोग हैं। वे मन्त्र खूब जानते हैं। हमको एक मन्त्र बताया था। बहुत बचपनमें बारह-तेरह वर्षकी वय थी। वे बाँसकी एक शाखाको बीचमें-से चीर देते थे। एक आदमी इधर और एक आदमी उधर खड़ा रहता था बाँस लेकर और हम चूहेकी खोदी हुई मिट्टी फेंकते थे। बाँसकी चीरी हुई शाखा मुड़ती थी और मुड़कर आपसमें मिल जाती थी। उसमें कोई बेईमानी नहीं थी, परन्तु यह बात आयी कहाँसे? यह आपको सुनाता हूँ।

बारहसे सोलह वर्षकी वयतक उस मन्त्रका प्रभाव हमारे अन्दर रहा। सोलह-सत्रह वर्षका होते ही उस मन्त्रका प्रभाव चला गया। फिर हमसे नहीं होता था! लेकिन हमने जिन बच्चोंको सिखा दिया उनसे होता था। क्या कारण हुआ, आप सोचिये! जब तक बच्चा था तबतक मेरा विश्वास बहुत सरल, भोला था। और उस विश्वासका जो बल था, वह उस बाँसकी शाखाको आपसमें मिला देता था। जब मैं बड़ा हुआ और मेरे मनमें तर्कवितर्कका उदय होने लगा, अविश्वास आते ही मन्त्रकी शक्तिका लोप हो जाता है। अब हम सुना सकते हैं आपको कि वह क्या मन्त्र था। कैसे आप दुनियादारीवाले मन्त्रोंके बलपर अपना काम चलावेंगे? मन्त्र था—

**बांसके चोंगा, चोर समाई, दोहाई पार्वती-महादेवकी।**
**दोहाई नयना जोगिनीकी, दोहाई नोना चमारिनकी ।।**

अब आप बताइये! आप कहते हैं, औषधसे ब्रह्मज्ञान हो जायगा, अन्तःकरण-शुद्धि हो जायगी, मन्त्र पढ़नेसे ब्रह्मज्ञान हो जायगा। मन्त्र पढ़नेसे अन्तःकरण-शुद्धि हो जायगी। इस समय यहाँ कोई काशीका विद्वान् बैठा हो तो माफ करे! हमारे समयमें नौ आचार्य शास्त्रके ऐसे थे जिनका नाम था, 'नवरत्न।' वे नव 'रत्न' नहीं थे, नव 'गुंडे' थे। जहाँ कहीं डंडा लेकर खड़े हो जायँ! क्या पाठशाला और क्या कालेज! सब पण्डित उनसे डरते थे। भलामानुष उन्हें देखकर भाग जाता था। उनका नाम था 'नवरत्न।' दो-तीनसे हमारी जान-पहचान थी. सबसे नहीं। क्या करेगा शास्त्र?

**किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥**
**नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।**

(बृहदा० ४.४.२१)

आप उतने ही शब्द सीखिए जिनसे आपके अज्ञानपर चोट लगे और वह टूट-फूट जाय, चूर-चूर हो जाय। ब्रह्मज्ञानके औषध-के बिना ? अब इसकी जरूरत क्या है ?

**अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः ॥६२॥**

**आत्मनस्तत्त्वं ज्ञातव्यम्**—अपना जो तत्त्वस्वरूप है; उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि इसीके आधारपर दुनियाकी सब वस्तुएँ टिकी हुई हैं। जैसे, यदि 'मैं' न हो तो 'गुरु' किसे बनावें ? 'मैं' न हो तो 'ईश्वर'को कौन माने ? 'मैं' न हो तो मुक्ति किसको मिले ? 'मैं' न हो तो 'दुनिया' मालूम किसको पड़े ? इसलिए जो कुछ है, जो कुछ होगा, वह प्रकाशित होता है ज्ञानसे। ज्ञान माने 'मैं' स्वयंमें होता है, दूसरेमें नहीं होता। आत्माकी पहचान 'न्यायदर्शन' में यही बतायी है। आत्मा किसको कहते हैं ? जिसको ज्ञान होता है, उसका नाम आत्मा है। **'ज्ञाना-धिकरणम् आत्मा।'**

चाहे ज्ञान जीवका हो, जगत् या ईश्वरका हो, ज्ञान होता है तो वह अपने आपको ही होता है। इसलिए आत्माकी पहचान है 'ज्ञान।'

यह बात दूसरी है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है कि ज्ञानका आधार है। लेकिन ज्ञान आत्माको छोड़कर घड़ीको नहीं होता है, किताबको नहीं होता है। हम मानते हैं कि ईश्वरको ज्ञान होता है, परन्तु 'ईश्वरको ज्ञान होता है', यह ज्ञान किसको होता है ? बोले 'गुरुको होता है!' बहुत बढ़िया! परन्तु यह भी किसको मालूम पड़ता है ? आत्माको! ज्ञान हमेशा आत्मनिष्ठ होता है। अपने आपको होता है। जिसको ज्ञान होता है वह कौन है ? ज्ञान या अज्ञान ? यह भी एक विवेक है।

'यह गुरु बनाने लायक है कि नहीं यह निर्णय कौन करता है ? ईश्वर है कि नहीं, यह निर्णय कौन करता है ? जो ईश्वरके होनेका-न-होनेका, और गुरुकी लियाकतका निर्णय कर लेता है, तौल लेता है, वह सबसे बड़ा हुआ न ? वही जानने लायक है। उसे जाने बिना मूल रोशनीको ही नहीं पहचाना कि क्या है ? रोशनीमें लिखनेवाले पदार्थ तो पहचाने ही क्या जायेंगे ? सब अज्ञानका विलास है । **अतः आत्मनस्तत्त्वं ज्ञातव्यम् ।**

अच्छा, आत्माका ज्ञान किससे हो ? तत्त्वज्ञानसे । तो तत्त्वज्ञ आवेगा, ज्ञान करावेगा ? यह बात नहीं है। तत्त्वज्ञको ज्ञान करानेकी वासना नहीं होती । जो लोग ज्ञान करानेके लिए वासनावान् होकर फिरते रहते हैं, वे तत्त्वज्ञ नहीं हैं । इनमें देहवासना लोकवासना या शास्त्रवासना रहती है, परन्तु तत्त्वज्ञमें ये तीनों नहीं होतीं । हमारी पोथी ! ठीक है दूसरेकी पोथी गलत है। यह तो मजहबी लोगोंका खयाल है ।

हम किसी-किसीको व्यवहार करते देखते हैं तो वह अपनेको संसारके व्यवहारका केन्द्र मानकर व्यवहार करता है। वह सबको हुकुम देता है, झिड़क देता है, उपदेश देता है, जैसे सब उसके नौकर हैं ! हे नारायण ! यह जो छोटा मैं है, वह तो देहके बराबर है। तो फिर देहकी वासना ! फिर ? लोककी वासना। हमें लोकमें-परलोकमें यह चीज मिले ! यह सुख मिले, यह इज्जत मिले, यह कुर्सी मिले। इस प्रकार देहवासना, लोकवासना और शास्त्रवासना तीनों ज्ञानमें रुकावट डालती हैं। ये अड़चनें हैं, प्रतिबन्धक हैं ।

**देहवासनया जन्तोः लोकवासनयादि च ।**
**शास्त्रवासनया ज्ञानं यथार्थं नैव जायते ॥**

अपनी ओरसे प्रयत्न करना चाहिए कि कहीं हम अपनी मान्यतामें फँस न जायँ। अपनी बुद्धिसे हिप्नोटाइज न हो जायँ। अपनी ओरसे तो हो प्रयत्न ज्ञानप्राप्तिका और गुरुजी अनुग्रह करें। जो तत्त्वज्ञानी गुरु हो, वह अनुग्रह करे। अनजान गुरु अनुग्रह करके भी क्या करेगा ? गुरु भी तत्त्वज्ञ हो ! केवल तत्त्वज्ञ न हो—तत्त्वज्ञ तो बहुत होते हैं। अपने ऊपर अनुग्रह करे। गुरु अपने हों और अपनी ओरसे प्रयत्न हो !

**अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना।**
**किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥**

डंक मार गया बिच्छू और दवा हो रही है साँपकी। डँस गया है साँप और दवा हो रही है काँटा गड़नेकी। जैसी तकलीफ हो, उसकी दवा होनी चाहिए न ? ठीक है, किसीको जरूरत थी आमके पेड़की। किसीको कलम लेनी थी उसकी। तो उसने पूछा, 'पण्डितजी ! यहाँ कहीं आमका पेड़ है ?' पण्डितजी बोले—'वह नीमका पेड़ है।' **आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे।**

रोग है दूसरा, दवा हो रही है दूसरी। संसारमें जितना दुःख है, वह केवल अज्ञानका दुःख है। वह मृत्युका, वियोगका, जन्म-मरणका भवन-दहनका दुःख है। ये सब दुःख अज्ञानके कारण ही हैं। वल्कि, यह है—व्याप्ति।

**यत्र यत्र दुःखं तत्र तत्राज्ञानम्।**

जहाँ-जहाँ दुःख है, वहाँ-वहाँ अज्ञान व्यापक है। अज्ञानव्याप्य दुःख है। कोई दुःखी हो और अपनेको समझदार मानता हो, कि 'हम कोई बड़ी समझदारीसे दुःखी हैं,' वह तो ढोंगी होगा। वह तो दुःखका ढोंग करेगा। नासमझी और दुःख ये दोनों एक साथ होते हैं।

**प्रज्ञाप्रराध एव एष दुःखमिति तद् ।**

दुनियामें जिसको दुःख कहते हैं वह समयका कसूर है। प्रज्ञा-पराध। ईश्वर बिछुड़ा क्यों ? जीव संसारी हुआ क्यों ? अज्ञानसे ! जीव-ईश्वर अलग-अलग हुए क्यों ? अज्ञानसे। कभी-कभी हमारे मनमें आता है, 'हम सबसे एक हो जाँय।' कभी आता है, 'सबसे हम अलग हो जायँ !' क्योंकि आत्मा सबसे निराला, असंग, निरपेक्ष है, तो सबसे अलग होनेका भी मनमें आता है। कभी-कभी ऐसा भी आता है कि 'सबके सुख-दुःख, रहनी-सहनीके साथ हम मिल जायँ ! ये दोनों आत्माके स्वरूप हैं। जैसे कोई आपसे कहे कि—क्या आप नींद ले रहे हैं ?' तो आप झट बैठे-बैठे ही फटकार देंगे, ना ना नींद नहीं है। क्यों ? नींद आपका स्वरूप नहीं है। कोई तुम्हें कहे कि 'तुम पापी हो, तुम बेवकूफ हो। तो तुम कहोगे, ना ना ! क्यों ? असलमें तुम ज्ञानस्वरूप हो ! तुम तो निर्मल हो ! दूसरा कोई तुमपर अज्ञान और मलको आरोपित कर रहा है। तुममें वह नहीं है। 'तुम नासमझ हो।' नहीं। कोई अपनेमें अज्ञानको, नींदको स्वीकार नहीं करता। यह अपने स्वरूपके विपरीत है। पूछेंगे कि 'यह गलती तुमने की ?' तो कहेंगे 'नहीं, नहीं ! उसकी वजहसे की ! हमने तो उसे बता दिया था।'

हमारे मित्र लोग हैं, वे कहते हैं, 'हमने तो उसके कहनेसे यह काम किया।' तो परप्रत्ययबुद्धि हुए न ! नासमझ हुए। तुमने समझकर गलती की होती तो एक बात थी कि तुम समझदार हो ! अपनेमें कोई गलती नहीं मानता, गलती दूसरेपर डालता है। क्योंकि गलती अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप नहीं है, उसको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण हम दुःखी होते हैं। उसको अपना स्वरूप क्यों माना ?

हड्डी-चाम-नाखून-बालको अपना स्वरूप माना। यह सब क्यों

है ? अपना जो सच्चा स्वरूप है, उसको न जानकर अपनेको कुछ झूठी चीज मान लिया तो अज्ञानके साँपने तुम्हें डँस लिया है। अपने आत्माकी पूर्णताको तुम नहीं जानते। यदि आत्माको समाधिमें ले जाओगे तो शान्तपनेका अभिमान होगा। मनका विवेक कर लोगे तो परिच्छिन्नताका अभिमान हो जायगा कि 'मैं अमुक हूँ।' यदि कर्म करनेको—अपनेको बनाने लगोगे तो बिगड़ भी जाओगे। यदि उपासना करके तन्मय हो जाओगे, तो पराधीन हो जाओगे। बात सीधी है अपने आपको जानो। अपनेको एक टुकड़ा जानकर बूँद सूखता जाता है। अपनेको पूर्ण जानकर समुद्र भरा रहता है।

**अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना।**
**किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥ ६३ ॥**

हम एक पण्डितको जानते हैं। उन्होंने आयुर्वेदके सब ग्रन्थ पढ़े। चरक, सुश्रुत, वाग्भट, भावप्रकाश, माधवनिदान, शार्ङ्गधर, कश्यपसंहिता—सब प्राचीन ग्रन्थ! और आयुर्वेद पढ़ानेमें इतने निपुण कि क्या पूछना ? लेकिन, उनको कोई पूछे कि 'नागरमोथा' क्या होता है तो नहीं पहचानते थे। वे 'गिलोय' तक नहीं पहचानते थे। तो वह आयुर्वेदका ज्ञान किस कामका ?

**'किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च'**—वेद सहजका बोध देता है। शास्त्र 'क्या करें, क्या न करें'—यह समझाता है। ज्ञानशास्त्र 'यह ऐसा है' समझाता है।

ज्ञानशास्त्रमें शासन नहीं है, शंसन ही है। क्या करोगे वेद, शास्त्र और मन्त्र पढ़कर ? क्या करोगे ओषधियोंके बारेमें जानकर, जब अपने आपको ही ठीक-ठीक नहीं जाना।

**न गच्छति बिना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।**
**विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥**

शरीरमें कोई व्याधि है, यह दृष्टान्त है। व्याधि माने आपके मनमें चिन्ता हुई। वह चिन्ता स्थूल हुई तो व्याधि हो गयी। पहले होती है आधि और फिर होती है व्याधि। पहले हम आपको यह बात सुना दें कि जैसे कोई कहता है कि योगसे शरीरमें यह रोग नहीं होता, तो वह भी होता है। सूर्यनमस्कार करो, योग करो तो वह रोग न होगा। आँखें हिलानेका भी एक व्यायाम होता है जिससे रोग न हो! हाथ-पाँवके संचालनका भी एक व्यायाम होता है जिससे रोग न हो। कैसे-कैसे उठना-बैठना मोरकी तरह मयूरासन, ऊँटकी तरह उष्ट्रासन कर लो; प्राणायाम और सूर्यनमस्कार करनेसे रोग निवृत्त होते हैं, यह बात मैं मानता हूँ, जानता हूँ और अनुभव करता हूँ। परन्तु जो प्राचीन शास्त्र हैं, उनका अभिप्राय यह नहीं था कि हम करें योग और उसका फल लें बाहर-स्थूल।

उनका अभिप्राय है कि हम बाहर करें योग और भीतर उसका फल उत्पन्न हो। फल हमेशा वृत्त्यात्मक होता है। जबसे साइंस-युग आया,—यह तो भौतिक होता है। यह कहता है कि 'हम जो कुछ करें, उसका फल हमारे शरीरमें उत्पन्न होगा।' हमारे महात्मा लोग कहते थे, 'हम जो कुछ करेंगे, उसका फल मनमें उत्पन्न होकर बाहर शरीरमें आयेगा। धारा ही बदल गयी। मनको ठीक करो तो तन ठीक हो जायगा। तुम्हारे मनमें ऐसी-ऐसी असंगतियाँ भरी हुई हैं, जो किसी धातुको शरीरमें परिपुष्ट होने नहीं देतीं। तुम बाहरकी दवाओं और क्रियाओंपर तो बड़ी भारी आस्था रखते हो, परन्तु वह शरीरमें जाकर किस धातुमें, किस कफ-वात-पित्तमें, किस प्रक्रियासे क्या परिवर्तन करती है, यह तो तुम्हें मालूम ही नहीं है।

शरीरमें कफ-वात-पित्त विषम हो जाते हैं और दूसरे; हम जो

नहीं चाहते हैं, वह हो जाता है। बीमार पड़ गये! हम नहीं चाहते हैं कि ऐसा हो और ऐसा हो गया। जो चाहते हैं वह नहीं होता। दोनोंसे रोग होता है। शरीरमें जितनी शक्ति है उससे अधिक श्रम करनेसे रोग हो जाता है।

### व्याधि अनिष्टसंस्पर्शात्

आधि होती है मनमें, व्याधि होती है शरीरमें और समाधि होती है दोनोंके कारणमें और ये तीनों होती हैं शरीर माने उपाधिमें। उपाधिमें ही आधि-व्याधि, समाधि हैं। एक बच्चा शीशेसे अपनी तस्वीर देख रहा था। किसीने उस तस्वीरके सामने चाकू धर दिया और मानो गलेपर काटने लगा तो वह बच्चा बड़े जोरसे चिल्लाया। उसने सोचा कि यह चाकू शीशेकी तस्वीर-में नहीं लग रहा है, वह मुझे लग रहा है।

इस संसारमें सब-का-सब उपाधिका खेल है। उदय और विलय, दुःख, संयोग-वियोग, उन्नति-अवनति, राज्योंका उत्थान-पतन—सब-का-सब। हम तो अपने अन्तःकरणके शीशेमें जो तस्वीर दिखती हैं, कभी सात्त्विक, कभी मूढ़, उसको अपना मैं' समझते हैं। तो भला, ऐसी चीजको तस्वीर या छायाको अपना मैं क्यों समझने लग गये? क्योंकि अपना स्वरूप नहीं जानते। तो वहाँ है। कहाँ है? जहाँ भूलका मूल है। भूल है कि 'मैं जीव हूँ' और मूल अज्ञान है। तो अज्ञानको मिटा देंगे तो भूल मिट जायगी और भूल मिट जायगी तो उपाधिके सारे दुःखोंके साथ सम्बन्ध ही टूट जायगा!

औषध माने दवा। नाम-जप कर रहे हैं। किसका? दवाका! जब दवा पीओगे, तब रोग मिटेगा। केवल 'दवा' 'दवा'का नाम जपोगे? आपने सुना होगा, एक बालक रातको जगा। वह हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'हे प्रभो! जापानकी राजधानी

मास्को बना दे।' माँने पूछा—'बेटा, क्या कर रहे हो?' बेटा बोला—'प्रार्थना कर रहा हूँ।' प्रेयरमें तो बड़ी ताकत है। माँने पूछा, 'भला जापानकी राजधानी मास्को कैसे हो सकती है?' बेटेने बताया—'मैं तो परीक्षा देकर आया हूँ। प्रश्न था, 'जापानकी राजधानी कहाँ है?' उसके जवाबमें मैंने 'मास्को' लिखा है। जबतक ईश्वर जापानकी राजधानी 'मास्को' न बना दे, तबतक मैं पास कैसे होऊँगा?'

भला, आप क्या सोच रहे हैं, यह देखो! आप सोच रहे हैं कि जन्मनेवाला न मरे, मिलनेवाला न बिछुड़े। हमको 'लव' करनेका तो अधिकार है, परन्तु 'तलाक' देनेका अधिकार नहीं है! अरे भाई! जब 'लव' करनेका अधिकार है, तो छोड़नेका भी है। वह तो अपने आप आया।

रामजीके बेटे 'लव' हैं। वह भी 'काम' ही हैं। कृष्णके बेटे 'प्रद्युम्न' हैं, वह भी काम ही हैं। यदि तुम्हें प्रेम करनेका अधिकार है तो त्याग करनेका अधिकार भी है। ये संसारके सम्बन्ध तो होते हैं और छूटते हैं। औषध माने जो शरीरके दोषोंको छुड़ा दे। हमारे एक मित्रको हुआ डायाबीटी, डाक्टरोंने बताया कि 'तुम घीकी चीज खाया करो, कोई नुकसान नहीं। हमको मिले तो हमने भी बताया कि 'दूध घीकी चीज खाया करो।' घीमें बड़ा बल है वे तो बहुत दुबले थे, उन्हें डायाविटीजमें घी नुकसान नहीं करता था। मैं था मोटा। मुझे डायाविटीजमें घी नुकसान करता है। घीमें गुण है, यह ठीक परन्तु वह किसके लिए है? किसके लिए क्या है यह देखना पड़ता है।

एक हमारे मित्र थे। उनके डाक्टर प्राकृत चिकित्सक थे। जो उनके पास जाय उनको वे तुरन्त प्राकृत चिकित्सा बता देते थे। 'इतना टबमें बैठो, पेट मलो, इतना आसन करो। पालककी पत्ती-

का रस निचोड़कर पीओ। घासकी तरह पालकके पत्ते खाओ।' वे तो बेचारे पहलेसे ही दुबले-पतले और कमजोर थे। इक्कीस दिनकी चिकित्सासे तो वे बिलकुल कमजोर हो गये, खाटपर पड़ गये। उठनेकी ताकत ही न रही। शरीरमें ताकत हो और मांस भी हो तो मांसको घटानेके लिए प्राकृतिक चिकित्सा चलेगी। शरीरमें ताकत कम न हो इसका ध्यान रखते हुए उपवास कराये जायेंगे। यदि रोगीके अधिकारकी परीक्षा नहीं होगी तो औषध-की परीक्षा बिलकुल भौतिक हो जायगी। इसलिए पेटेन्ट दवाएँ खानेमें सावधान रहना चाहिए। डॉक्टरकी सलाह लेकर पेटेन्ट दवा खानी चाहिए। बाजारमें-से खरीदके नहीं। जप कर रहे हैं, 'दवा-दवा-दवा'। दवाका जप करनेसे नहीं चलेगा। रोगकी निवृत्तिके लिए दवाका सेवन करना पड़ता है।

**विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥ ( ६४ )**

एक सज्जन 'ब्रह्म' बोलते रहते हैं। यदि 'ब्रह्म' जाने-बूझे बिना बोला जाय तो क्या होता है, मालूम है? ब और ह के बीच-में र्—रेफ है। बिना जाने बोलोगे तो र् हके बाद आ जानेपर क्या होगा? ब + ह = भ + र् = भ्र। म तो पहलेसे ही है। ब्रह्म 'भ्रम' हो जायगा, यदि आप उसके बारेमें सोचे-विचारे बिना कोई काम करेंगे।

**बिनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते।**

यह ब्रह्म स्वर्गमें नहीं रहता है कि आप उसपर श्रद्धा करें। यह ब्रह्म पातालमें भी नहीं रहता है कि शेषके रूपमें उसके सिरपर सहस्र फण होते हैं। न वह इन्द्रके समान स्वर्गका राजा है कि अमृतपान करता है। ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जिससे अलग अगर तुम होओगे तो वह ब्रह्म नहीं रहेगा। वह तुम्हारा खिलौना हो जायगा। तुमसे अलग होकर ब्रह्म जड़ हो जायगा; बेहोश हो

जायगा। तुम अलग हो जाओगे तो टुकड़े हो जाओगे, परिच्छिन्न हो जाओगे, कटपिट जाओगे। ब्रह्मज्ञानका जो औषध है, वह न नरक-स्वर्गके समान श्रद्धा करनेका है न बैकुण्ठमें ऊपर सातवें आसमानमें जानेका है। मरनेके बाद ब्रह्मका अनुभव नहीं होता, इसी जीवनमें अनुभव होता है। वह परोक्षपर विश्वास नहीं है, अपरोक्ष-अनुभव है।

यह दृष्ट! हमने सुना है शास्त्रार्थ इस विषयपर, बड़े-बड़े विद्वानोंका। जैसे यज्ञ करनेसे एक अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, वह अन्तःकरणमें रहता है और वह समयपर स्वर्गाकार परिणामको प्राप्त होता है और हम सुखी होते हैं, यह ब्रह्म ऐसी चीज नहीं है। हाथ-कंगनको आरसी क्या ?

एक होता है प्रत्यक्ष जैसे यह घड़ी है। एक होता है परोक्ष जैसे स्वर्ग है। और एक होता अपरोक्ष। वह क्या ? जैसी अपनी आँख। ज्ञानमें जब विश्वासकी छौंक लगाओगे तब उसमें स्वर्गकी सुगन्धका अनुमान होगा। मालूम पड़ेगा। जब ज्ञानमें आँखकी पुतली लगाओगे, तब 'घड़ी' मालूम होगी। हमारे आँख है कि नहीं ? इसके लिए न विश्वास जोड़नेकी जरूरत है न चाम जोड़नेकी। हम तुमको देख रहे हैं। आँख है अपरोक्ष, स्वर्ग है परोक्ष, घड़ी है प्रत्यक्ष।

हमारे मनमें काम-क्रोध-लोभ है कि नहीं ? रजिस्टरमें देखकर यह निश्चय करोगे ? उसमें लिखा है कि तुम्हारे हृदयमें काम-क्रोध है तो वह आ जायगा। अपने आपका अनुभव करनेके लिए दस्तावेजकी जरूरत नहीं पड़ती कि यह लिखन्त प्रमाणसे सिद्ध है। न दूसरेकी गवाहीसे सिद्ध होता है। अदालतमें गवाह होता है न ? वह आकर कहता है कि 'हम चश्मदीद गवाह हैं।' हमने देखा है कि हमारे सामने यह हुआ, 'या तो दस्तावेज दिखावें कि इसमें

यह लिखा है। कोई गवाही देगा तब मानेंगे कि हमारे मनमें काम-क्रोध-लोभ है ? इसमें दूसरे गवाही या दस्तावेजकी जरूरत नहीं है। हम जानते हैं कि हमारे मनमें काम-क्रोध-लोभ हैं। इसको बोलते हैं अपरोक्ष। लेकिन यह भी जब मन रहता है तब मालूम पड़े और मन सो जाता है तब मालूम न पड़े।

नींदमें जब मन चला जाता है तब कभी काम-क्रोध-लोभ मालूम पड़ते हैं, कभी नहीं मालूम पड़ते। नींद भी न घड़ीको तरह प्रत्यक्ष है न स्वर्गकी तरह परोक्ष। मैं जानता हूँ कि इतने काल-तक नींद हमारे साथ सो रही थी। नींद सोती है कहाँ ? हमारी गोदमें। और फिर उठकर चली जाती है और हम क्या हैं भाई ? हमें देखनेके लिए न आँखकी जरूरत है न चामकी। यह नींदकी तरह न आता-जाता है। वह साक्षात् अपरोक्ष अनुभव स्वरूप है। एक अपरोक्ष होता है और वह वृत्तिकाल-पर्यन्त रहता है। और निद्रा भी वृत्ति है काम-क्रोध भी वृत्ति है। अनुभवस्वरूप है आत्मा। उसका कभी लोप नहीं होता। जबतक अपने ब्रह्मत्वका अपरोक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म'—यह ब्रह्म जप, स्मरण, कल्पना-घड़ीके समान देखनेकी, स्वर्ग-नरकके समान विश्वास करनेकी, दूसरेके मनके समान कल्पनाकी, पहले देखेके समान स्मरण करनेकी वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष घड़ी आदि पदार्थोंसे विलक्षण है, यह परोक्ष अनुभवसे आनेवाले स्मरणसे भी विलक्षण है। इसलिए यह अनुभव जप करनेके लिए, स्मरण करनेके लिए नहीं है। 'भवः' 'भवः' इति अनुभवम् जो कुछ होता है। आप लोग उपनिषद् पढ़ते हैं, उसमें यह श्लोक आता है—

**प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते** ( केन उप० २.२.१२ )

यह 'घड़ी' है, यह 'किताब' है, यह 'लाउड-स्पीकर' है, यह

'स्त्री' है, यह 'पुरुष' है, उनका ज्ञान हुआ। चीजें अलग-अलग हुइं, उनमें ज्ञान नामकी वस्तु एक है। सौ, दो सौ, तीन सौ आदमी दीख रहे हैं, आँख एक है, आँखें दो दीख रही हैं, परन्तु मन एक है। मन बदलता रहता है, 'मैं' बदलनेवाला नहीं है। यह है 'अपरोक्षानुभव।'

केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' करनेसे यह नहीं कि बड़े वेदान्ती हो गये। कोई शून्यपर व्याख्यान दे गया तो भी वेदान्ती, अनेकान्तपर व्याख्यान दे गया तब भी वेदान्ती! किसीने थोड़ी युक्तिपूर्वक कोई बात कह दी तब भी वेदान्ती।

**अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।**
**बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम्॥ ६५॥**

एक पुरानी बात है तैंतीस वर्ष पहलेकी। स्वर्गाश्रममें एक बालक था पन्द्रह-सोलह वर्षका। वह कहता था, 'मैं ब्रह्म हूँ।' 'मेरी जो मरजी हो सो करूँगा।' वह गंगाजीमें घुस जाय। गंगा-जीकी धारा तो वहाँ ऐसी कि वहाँके लोग डरें कि यह कहीं बह न जाय। वह घुसे, तैरे और बोले, 'मैं ब्रह्म हूँ।' उसके चाचाजी थे तगड़े। वे घुस गये गंगामें और अपने बाँये हाथसे पकड़ा और दाहिने हाथसे गालपर थप्पड़-पर-थप्पड़ पाँच-सात थप्पड़ जड़ दिये। फिर वह 'हाहा' करने लगा। 'क्यों मारते हो?' उसने पूछा। उसके चाचाजी बोले—'थप्पड़ ब्रह्म है ब्रह्म।' फिर तो वह निकल आया गंगाजीसे, तब उन्होंने कहा, 'देखो, अब कभी गंगा ब्रह्ममें यह 'भगानिया-ब्रह्म' ( नाम था भगवान )—मारवाड़ी लोग 'भगानिया' बोलते हैं। वे अपने बच्चोंको भी पुकारते हैं 'भगानिया' गया तो 'थप्पड़-ब्रह्म' पीट-पीटकर ठीक कर देगा।

उन दिनोंमें एक सोलह-सत्रह वर्षका और बालक था। वह कहता था—'मैं ब्रह्म हूँ। कोई कितनी भी जिरह करे, बोले कि 'तुम

ब्रह्म हो तो क्यों रोते हो ? तो बोला, 'शरीर रोता है। मैं थोड़े रोता हूँ ?' किसीको पीठपर हाथ न रखने दे। एक दिन मिश्राजी उससे बात करने लगे। वे बोले--'देखो; तुम तो हँस रहे हो ? और वह तो रो रहा है ! तो तुम हो वही, वह है यह, कैसे होगा ?'

उसने जवाब दिया—'नहीं, शरीर उसका रो रहा है, मन हँस रहा है। उसमें आत्माकी क्या बात है ?'

मिश्राजी—'वह मानता है, 'मैं दुःखी हूँ' और तुम मानते हो, 'मै' सुखी हूँ ! तो दोनों एक कैसे हुए ?' जिरह करते-करते मिश्राजीने उसको पकड़ ही लिया और वह मान गया कि 'हाँ, वह अलग है, मैं अलग हूँ।'

यह बच्चोंका खेल नहीं है कि 'ब्रह्म-ब्रह्म'—'बरम-बरम' करते रहे।

**अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।**
**बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम्।। ६५।।**

दृश्यका विलय करना पड़ता है और अपने आत्माको जानना पड़ता है। यह दृश्यका विलय क्या है ? यह बड़ी मजेदार बात है। जिन्होंने सन्त-सम्प्रदायसे वेदान्तका अध्ययन नहीं किया है, उन्हें दृश्यविलयका अर्थ समझमें नहीं आयेगा।

हमारे यहाँ साधुओंका आश्रम है। वहाँ सत्संगी लोग वेदान्त-पर बहस करने लगे। आज-कल घर-घरमें राजनीतिक नेता पैदा हो गये हैं न ? ऐसी-ऐसी राजनीतिकी बातें वे लोग करते हैं, जो राजनीतिका क-ख भी नहीं जानते।

ऐसे ब्रह्मज्ञानमें जो लोग ब्रह्मकी परछाईं भी नहीं जानते हैं, वे लोग ब्रह्मकी आलोचना करते हैं। कोई बोलते हैं—'यह घड़ा जो है, वह माटी है।' यह बात कैसे मालूम पड़े ? वह कहता

है—'आओ, घड़ेको फोड़ दें! माटी-की-माटी!' परन्तु घड़ा फोड़नेपर वह माटी होगी न? 'घड़ा है' और 'घड़ा फूट जाय तब माटी होगी।' दो पक्ष हो गये—(१) घड़ा न फूटने पर भी वह माटी ही है।' (२) 'घड़ा फोड़े बिना तो वह माटी ही नहीं।' दोनोंमें झगड़ेकी नौबत आगयी। भौंहें चढ़ गयीं, आँख लाल हो गयी। बहस-मुबाहिसामें झगड़ा हो गया। आप सोचिये कि क्या ब्रह्म और दृश्य ठीक वैसे ही हैं जैसे माटी और घड़ा? घड़ा फूटे तो भी माटी, न फूटे तब भी माटी। यदि तत्त्वकी परीक्षा हो गयी तो कंगन टूटे तब भी सोना है, न टूटे तब भी सोना है। वह तो उसकी आकृतिसे निरपेक्ष तत्त्व सोना सोना ही है। सिल्ली है तब भी, गला है तब भी। वह कण-कण है तब भी, जेवर है तब भी सोना तो सोना ही है।

परन्तु 'दृश्यविलय' क्या है? असलमें जिसकी समझमें सोना और जेवर अलग-अलग हो गये हैं, उसकी समझसे सोना और जेवरका जो अलगाव है, उसको मिटा देना। समझमें मिटाना पड़ेगा। इसी प्रकार जहाँ 'कार्यका कारणमें विलय हुए बिना'—ऐसा नहीं कहते हैं। 'दृश्यका दृष्टिमें विलय हुए बिना' माने 'जो कुछ दृश्य है, वह ज्ञानात्मक ही है'—यह समझे बिना। यदि दृश्य दृष्टिसे अलग नहीं है, तो हम समझते हैं कि हमारी आँख न्यारी होती है और आकाशकी नीलिमा न्यारी होती है।

आप जानते हैं इस बातको कि हमारी आँख अमुक सीमासे दूर नहीं देख सकती। जहाँ नहीं देख सकती, वहां नीला मालूम पड़ता है। नीलापन जो है, वह हमारी दृष्टिका ही विलास है, आकाशका परिणाम नहीं है। आकाश नीला नहीं बना है, हमारी आँख आकाशके विस्तारको नहीं जान सकती, इसलिए नीला मालूम ही पड़ता है। यह सोपाधिक ब्रह्म है। जबतक आंख रहेगी

तबतक नीलिमा जरूर रहेगी। अब नोलिमाका विलय करना है। कहाँ करें? आकाशमें कि आँखमें? आओ, नीलिमाको रगड़-रगड़-कर आकाशसे एक कर दें! अथवा नीलिमाको तोड़-फोड़कर अपनी आँखसे एक कर दें? कहाँ होगी यह नीलिमा?

आप यह विचार कीजिए। यह दृश्य जो नीलिमा है, वह कहाँ एक होगी? अरे भाई! आकाशमें तलवार मत चलाओ! आकाश तलवार चलानेके लिए नहीं है। यह समझनेके लिए है कि आकाशके विस्तारमें न नीलिमा है, न विकार है न परिणाम है, न आरम्भ है। नीलिमा परमाणुओंके योगसे नहीं बनी है। नीलिमा आकाशका विकार नहीं है, अविकृत परिणाम भी नहीं है। अवि-कृत माने सोना सोना रहकर भी जेवर बनता है। यह तो अग्रहणके कारण अन्यथाग्रहण है। इसलिए दृश्यका माने नीलिमाका विलय कहाँ होगा? कैसे होगा? जब यह समझेंगे कि आकाशमें नीलिमा–जैसी कोई चीज बनी ही नहीं है तब जानोगे कि आकाशमें नीलिमा हमारी आँखका विलास है, हमारी आँख ही नीलिमा बनी है।

यह दृश्य इसी प्रकार भ्रमका विलास है। उसका विलय क्या होगा? भ्रान्तिजन्यता वोध। यह केवल अज्ञानका विलास है। वस्तुतः यह न केवल ब्रह्मका विकार है न ब्रह्मका परिणाम। न ब्रह्मका आरम्भ है। न ब्रह्ममें सत् है न असत्। तो विलय क्या होता है?

मीमांसकोंका विलय क्या विलय है? मीमांसक लोग भी विलय मानते हैं परन्तु वे सृष्टि-प्रलय नहीं मानते। प्रभुकृपासे क्या सांख्यवादियोंका विलय है? दूसरे दर्शनकी चीज यदि दूसरे दर्शनमें घुसेड़ देंगे तो कुछ समझमें आवेगा? सांख्योंमे जो कार्यका विलय होता है, कारणमें वह दूसरी चीज है। वेदान्तियोंका जो

दृङ् मात्र चेतनमें दृश्यका विलय होता है, वह दूसरी चीज है। आप यदि अपने मनसे उटपटांग सोचोगे तो जिन्दगीभर फँसे रहोगे। यह तो केवल समझनेका काम है। यह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है।

पहली बात यह है कि दृश्यका विलय करना चाहिए। यदि मनमें वैराग्य न हो और दृश्यका विलय करने चले तो जो कमजोर आदमी होता है, वह जल्दी बह जाता है। काम-क्रोध-लोभ वशमें करने चले और वशमें नहीं हुए तो बोले, अच्छा, आते हैं तो आने दो। यह मनकी कमजोरी है। अभ्यासके लिए इस वृत्तिका आदर नहीं किया जाता। पहली बात तो यह है कि शत्रुमें द्वेष, मित्रमें राग, परिवारमें मोह ये दोष-दुर्गुण छोड़नेके लिए होते हैं। ये कैसे छोड़े जायेंगे! यह बात बहुत कम लोगोंके ध्यानमें आती है।

असलमें आप लोग निश्चय कर लीजिए कि हम किसीसे शत्रुता नहीं करेंगे। अर्थात् हम किसीको सतावेंगे नहीं, मन-वाणी-कर्मसे हिंसा न करेंगे, हम किसीको हानि न पहुँचावेंगे। अपने जीवनमें एक संकल्प ले लो तो मनमें कभी-कभी क्रोध, द्वेष, आयेगा, लेकिन हानि न पहुँचानेका नियम यदि जीवनमें रहेगा कि 'हम मन-वचन-कर्मसे किसीको हानि नहीं पहुँचायेंगे, तो क्रोध, द्वेषको प्रकट होनेका मार्ग नहीं मिलेगा। ऐसा मत सोचो कि किसीको गाली दी तो क्या हुआ? किसीके पैसे ले लिये तो क्या हुआ? किसीको हानि पहुँचायी तो क्या हुआ?

पहली बात यह है कि दोष-दुर्गुणोंको क्रियामें आनेसे रोकना चाहिए। किसीसे राग हो गया, मुहब्बत हो गयी तो इसमें प्रश्न यह नहीं है कि 'राग हो गया तो क्या हो गया?' प्रश्न यह है कि मुहब्बतमें आकर हम पक्षपात करते हैं? इसमें भी यही बात

होगी—अपना भाई-भतीजा, अपना प्रियतम। एकको मुहब्बत करेंगे तो उसको लाभ पहुँचानेके लिए दूसरेको नुकसान पहुँचायेंगे।

मुहब्बत मनमें आती है तो आने दीजिए। परन्तु उसके कारण बेईमानीसे उसको लाभ पहुँचानेका खयाल छोड़ दीजिए। बात इतनी नहीं बढ़े कि उसके लिए हम झूठ, छल, कपट करें दूसरेको नुकसान पहुँचाके। यदि हम उसे फायदा पहुँचाने लगे तो हमारा राग बुरे रास्तेसे बह गया है। इसलिए—

(१) पहली बात यह कि हमारे रागद्वेषको हमें बुरे रास्तेमें नहीं बढ़ने देना चाहिए। इसको यदि आप नहीं छोड़ोगे और यह कहोगे कि दूसरेको गाली दे दी, नुकसान पहुँचाया, दूसरेसे कपट किया तो क्या? तो, भाई मेरे! आप यदि धर्मकी ही कक्षामें नहीं आये तो साधनाकी कक्षामें कैसे चढ़ोगे?

(२) दूसरी बात यह है कि मनमें जो काम-क्रोध-मोह आते हैं, उनको पचानेकी शक्ति—वाणीसे बुरा बोलना, कानसे बुरा सुनना और मनसे जान करके बुरे-बुरे संकल्प करना—इनसे तो बिलकुल बच जाइए। मनमें जो दोष आते हैं उनको पकाइए। आपके घरमें कभी कच्चा आम आ जाय तो शक्कर मिलाकर उसका मुरब्बा बना लीजिए, वह मीठा-मीठा होगा। आंवला खानेमें कसैला होता है, परन्तु उसका मुरब्बा कितना मजेदार होता है! ये जो काम-क्रोध मोह हैं, इनका मुरब्बा बनाना जरूरी है। उसमें थोड़ी शक्कर मिलाइये। थोड़ा घी भी मिला सकते हैं, थोड़ा नमकीन भी कर दीजिए। शक्कर मिलानेका अर्थ है, उसमें मधुरता भरिए, और नमक मिलानेका अर्थ है, उसमें हँसी-मजाक-का थोड़ा पुट दे दीजिए। नमक घावपर छिड़कोगे तब तो चोट लगेगी। वैसे तो यह मजा देगा। उसे थोड़ा चिकना-कोमल बनाइए।

अपने मनको इतना कोमल बना दीजिए कि वह किसीकी हिंसा करने लायक न रहे। मन कड़ा होता है, तभी हिंसा करता है। कोमल रहेगा तो वह किसीकी हिंसा कैसे करेगा ? कुछ छोड़िए, कुछ पचाइए। कड़वाहट पकनेपर मीठी होती है। कड़वी चीजका वह मोदक बनता है ! हम राजस्थानमें थे तो एकने हमें नमकका शाक खिलाया। उसने घीमें नमक छौंक दिया। फिर उसमें ऐसे मसाले, खटाई आदि डाली कि नमकका नमकपना कड़ा नहीं रहा, नरम हो गया, उसकी सब्जी बन गयी। वह हानिकारक नहीं रहा ! ऐसा करना चाहिए—मनकी कड़वाहट छूट जाय और मनकी कड़वाहट पच जाय।

यदि आपके घरमें घी-शक्कर न हो—यहाँ आपने शायद 'बूरा' शब्द सुना हो कि नहीं, हमारी तरफ हाथरसमें तो शक्करकी अपेक्षा 'बूरा' अधिक पसन्द करते हैं। रामघाटमें 'कन्द' नामकी चीज मिलती है, वह शक्करकी बनती है। पानीमें डालो तो बरफकी तरह कड़ी हो जाती है। आपके घरमें जब अच्छी चीज नहीं होती है तो किसीसे सीख लेते हैं। किसीके घरमें बड़ा बनता है तो पत्थरको तरह कड़ा होता है। सीख लीजिए कि वह कोमल कैसे बनता है। शुद्ध मूंगका बड़ा बना लीजिए, उड़दकी कोई जरूरत ही नहीं। कड़ाहीमें-से तलकर निकालते हैं तो गरम पानीमें डाल देते हैं। थोड़ी देरके बाद पानी निचोड़ लेते हैं। यदि पानी निचोड़कर तुम दही या कढ़ीमें डालोगे तो वह भीतर दही, कढ़ी खींच लेगा। इसको क्या बोलते हैं ?

यदि आपके अन्तःकरणमें सद्‌गुण नहीं है तो दूसरेसे प्राप्त कर लीजिए। बड़ा बनाना सीख लीजिए। जैसे बड़ा निचोड़ते हैं, वैसे आप अपने अन्तःकरणको थोड़ा निचोड़िए और उसमें शहद भर लीजिए। इसमें तीन बातें हैं—

व्यवहारमें जो दोषकी बातें हैं उन्हें छोड़िये। किसीको नुकसान पहुंचानेवाली बात न बोलिए न करिए। मनमें समय-समयपर जो काम-क्रोध आते हैं, उन्हें पचाइए। पचनेसे कड़वी चीज मीठी हो जाती है। यदि दिलमें ज्यादा कड़वाहट हो तो ऐसे लोगोंका संग कीजिए—हम जानते हैं, हमारे सत्संगमें एक स्त्री आती थी। उसे गुस्सा बहुत आता। एक ऐसी स्त्रीसे उसकी जान-पहचान करा दी जिसे कभी गुस्सा नहीं आता है। जब दोनों साथ-साथ रहने लगीं तो वह आकर तारीफ करें कि इसे तो गुस्सा ही नहीं आता और धीरे-धीरे उसका गुस्सा कम हो गया।

पड़ोसीके घरसे शक्कर आ गयी। उसमें घी डालनेसे नरमाई आ गयी। शक्करसे मिठाई बनी, नमकसे चटपटा। थोड़ा खेल लो। मनको मीठा बनाना हो तो आपको जिसपर काम-क्रोध-मोह आता है, उसमें ईश्वर देखिए। आपका मन मीठा हो जायगा। अजी, आप कोई काम करते हैं तो सोचते हैं कि ईश्वरने करा दिया और दूसरा कोई काम करता है तो आप क्यों नहीं सोचते कि ईश्वरने करा दिया? उससे भी तो ईश्वरने ही कराया है। गुस्सा करना है तो आपके दिलमें बैठे ईश्वरपर कर लीजिए। गुस्सा पचानेका तरीका यही है। आप गुस्सा उस बाहरवाले आदमीपर मत कीजिए। भीतरवाले उस ईश्वरपर कीजिए तो काम-क्रोध पचेगा। भक्तोंकी लीला काम पचानेवाली है। शिशुपाल और दन्तवक्त्रमें द्वेष और क्रोध पचानेवाली लीला है। गोपियोंकी लीला काम पचानेवाली है। तीन बातें आप अपने ध्यानमें रखिए—

(१) किसीके नुकसानको तो छोड़िए—न अपना, न दूसरेका।

(२) मनमें बुराई है, उसको पचा लीजिए।

(३) अपनेमें जो सद्‌गुण नहीं हैं, उनको सत्संगमें-से उधार ले-लेकर अपने घरमें बनाना सीख लीजिए और उसे दसगुना-सौगुना कर-करके लौटाइए।

आपके घरमें सद्‌गुणोंकी फैक्टरी खुल जाय। आपका घर बच्चा पैदा करनेकी फैक्टरी बन रहा है। इसकी जगहपर यह सद्‌गुणोंकी फैक्टरी बन जाय।

उदय-विलयकी रीतिको एक नम्बरकी मानते हैं और सांख्य तथा योगमें दो नम्बरकी। सांख्य और योगमें उदय, विलयकी दो रीतियाँ हैं। आपलोग 'सोलहो धान बाइस पसेरी' करके दर्शनकी खिचड़ी बना देते हैं। योगकी बात समझें—' योगका अभिप्राय है, यह जो हमें दुनिया दीख रही है वह दीख रही है दृष्टिसे। हम सम्पूर्ण रूपसृष्टि और नामसृष्टिको अपने मनमें लीन करें और मन-को निर्विषय ज्ञानमें लीन करें माने प्राकृत ज्ञान, सत्त्य ज्ञान। केवल सत्त्व रह जाय तब हम उससे अलग रह जायँ। यह योगकी प्रक्रिया है, अपने मनमें दुनियाको लीन करनेकी।

सांख्यकी प्रक्रिया है, 'संसारको प्रकृतिमें लीन करनेकी।' अब कोई पूछे कि हम किस किताबमें यह बात पढ़ें, तो एक हजार किताब पढ़नेपर भी यह वर्गीकरण आपको पढ़नेको नहीं मिलेगा। एक हजार पुस्तक पढ़नेवाले होते हैं बहिर्मुख और उनको होता है डिग्रीसे मतलब। आज ही मैं सबेरे चर्चा कर कर रहा था, एक थीसिसकी। वह अपने विषयको छूती ही नहीं है और उस-पर डाक्टरेट मिल गयी पुस्तकके लिखनेवालेको। ऐसे कैसे होगा?

आप अपने विषयका जब अनुभव करेंगे; यह देह है—सम्भव है, आपको मालूम हो-न-हो, यह देह प्रकृतिका कार्य नहीं है, पञ्चभूत प्रकृतिके कार्य हैं और सब देह पञ्चभूतमें कल्पित हैं। स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पहाड़-मकान, ये सब प्रकृतिके कार्य पञ्चभूतमें

कल्पित प्रकृतिका कार्य पञ्चभूतपर्यन्त हैं। प्रकृतिसे महत्, महत्से अहंकार, अहंकारसे पञ्चतन्मात्र, पञ्चतन्मात्रोंसे पञ्चमहाभूत। बस, इतना ही है प्रकृतिका कार्य। ये शरीरादि पञ्चभूतका अतात्त्विक कार्य हैं और प्रकृतिका कारण नहीं होता, यह सांख्यका मान्य सिद्धान्त है। अन्तिम कारणका कोई कारण नहीं होता और अन्तिम तत्त्वका तत्त्वान्तर रूप नहीं होता।

पञ्चभूतका विलय कहाँ करें? पञ्चतन्मात्रोंमें। पञ्चतन्मात्रोंका विलय अहंकारमें, अहंकारका महत्में, महत्का प्रकृतिमें। प्रकृतिमें जब विलीन हो जाय तब सम्पूर्ण कार्य जिस कारणमें विलीन हो गये हैं, उस प्रकृतिको तुम देख रहे हो, जान रहे हो, असंग साक्षी होकर। कार्य कारणमें लीन होता है और कारण कार्यके रूपमें प्रकट होता है। परन्तु ये हाथ, पाँव देहादि जो हैं, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि, वे पञ्चभूतमें कल्पित हैं।

विलयकी ऐसी भी प्रक्रिया है—'सारे शरीर मिट्टीमें, मिट्टी पानीमें, पानी अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें। एक बात तो देखो कि क्या तुम सचमुच देहको मटियामेट करके मिट्टीमें, मिलाओगे? धरतीको पीसकर पानीमें मिलाओगे? पानीको तेजमें मिलाकर हवामें उड़ाओगे? ऐसा होगा? आप जानते हैं कि एक बालकको लोअर क्लासका मास्टर गणित पढ़ा रहा था। उसने कहा, 'मान लो, तुम्हारे पास पाँच हजार रुपया है। उसमें-से दो हजार रामूको, दो हजार श्यामूको दिया तो अब तुम्हारे पास कितना बचा?' एक हजार। परन्तु बच्चेने कहा, 'मास्टर साहब, ऐसे हमारी समझमें बात नहीं आयेगी। पहले हमें पाँच हजार रुपये दो। उनको हम जेबमें या हमारे सामने रखेंगे। दो हजार इधर करेंगे, दो हजार उधर करेंगे, तब जो

बचेगा, उसे हम गिनकर बतायेंगे।' ऐसे बालकको गणित कभी आयेगी ?

इसी प्रकार ये पट्ठे! महाराज बनते तो हैं साधक! और गणित समझनेकी प्रक्रियाके अनुसार समझना तो चाहते नहीं, वैसा करना चाहते हैं। क्रियाके द्वारा वे देहादि, पृथिवी आदिको कारणमें लीन करना चाहते हैं। ऐसा कभी कर पायेंगे वे ? करोड़ कल्पतक योग करो, एक आदमीके लिए यह नहीं होगा। प्राकृत प्रपञ्चको प्रकृतिमें लय करके तब हम लयका अनुसन्धान करेंगे, तब महाप्रलयमें लय करेंगे–परन्तु महाप्रलयमें कर हो नहीं सकोगे, क्योकि वहाँ बुद्धि नहीं रहेगी।

आपको सुनाते है साधनाके सम्बन्धमें। जो कच्चे लोग हैं, वे जानते-समझते तो कुछ नहीं, और ट्रेनिंग देने लगते हैं कि हम लय-ध्यानकी ट्रेनिंग देंगे। उनको खुद ही नहीं मालूम है कि ध्यान किस चिड़ियाका नाम है ? क्या ट्रेनिंग देंगे ?

सांख्यकी प्रक्रियामें विवेक द्वारा ही लय समझनेकी है। लय करके लय समझनेकी नहीं है। सांख्यमें विवेक ही एकमात्र साधन है, दूसरा साधन है ही नहीं।

योगमें तत्त्वका विचार नहीं है, भावनाका विचार है सृष्टिमें हमें जो कुछ मालूम पड़ता है, यह इन्द्रियोंके द्वारा। परन्तु इन्द्रियोंमें एक साधारण करण है मन। यदि मन सावधान न हो तो कोई क्या बोल गया, यह समझ न पड़े। एक आदमी भोजन कर रहा हो और उसको आकर खबर दे दो कि 'टैक्सका आफिसर आकर हॉलमें बैठा है।' फिर थोड़ी देरके बाद पूछो, कि 'तुमने क्या भोजन किया ? 'तो वह कहेगा कि हमने तो 'टैक्सके आफिसरका भोजन किया।' वह रोटी-दालका भोजन

थोड़े होगा ? यह दुनिया जितनी मालूल पड़ती है। वह मनसे सहकृत इन्द्रियोंके द्वारा मालूम पड़ती है।

जब मन इन्द्रियोंमें है तब दुनिया मालूम पड़ती है और जब इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, तब दुनिया मालूम पड़ती है। इन्द्रिय शक्तियोंका तो होता है प्रत्याहार। मनकी साधना शुरू होती है, धारणा-ध्यान-समाधिसे। स्थानमें मनको नियन्त्रित करना धारणा है। कालमें मनको नियन्त्रित करना ध्यान है। ध्यान प्रवाह प्रधान है वस्तुप्रधान समाधि है। समाधिमें वस्तुकी स्फुरणा होती है।

सारी दुनिया क्या है, क्या नहीं है, यह तो विद्वान् लोग विचार करें। पहले हम मनको इन्द्रियोंमें प्रत्याहार कर दें। प्रत्याहार माने ? जैसे दाल-रोटी होती है, उसे बाहरसे मुँहमें डालते हैं। इसका नाम है आहार। प्रत्याहार माने इन्द्रियोंसे बाहरके विषयोंका आहार ग्रहण मत कीजिये। तब इन्द्रियाँ बिलकुल निरीन्द्रिय हो गयीं। मनको एक स्थानमें रखकर धाराके रूपमें उसी स्थानमें बहाइये। एक स्थानमें रखना 'धारना', बहाना ध्यान है। एक विषयकी ओर यह धारा बह रही है यह 'ध्यान' है। उस समुद्रका नाम 'समाधि' है, जिसमें जाकर हमारी मनोवृत्ति लीन हो जाती है। प्राकृत-पदार्थोंके क्रमसे सृष्टिका लय करनेका नाम 'लय' है।

अभी हम दूसरे दर्शनोंकी बात सुना रहे हैं। 'विवेक-चूड़ामणि'-वाली बात नहीं सुना रहे हैं। यह तो वेदान्तका ग्रन्थ है।

योगदर्शन अविद्यासे बन्धन मानता है इसलिए उसका जोर अविद्याकी निवृत्तिकी ओर है। वह कहता है क्लिष्ट-अक्लिष्ट प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति रूप पाँचों वृत्तियोंको नियन्त्रित कर लीजिये। आप असंग द्रष्टा हैं। इस चक्करमें मत

पड़िये कि आप ब्रह्म हैं कि नहीं? आप जब कैवल्यमें स्थित हो जायेंगे तब दूसरा जीव है कि नहीं, दूसरा ईश्वर है कि नहीं, यह फुरेगा ही नहीं। आप आनन्दसे समाधिको देखते रहिये। इस प्रकार मनोवृत्तिकी प्रधानतासे जो लय है, वह योग-सिद्धान्त है।

तत्त्वोंकी प्रधानतासे जो लय माने विवेक लयका है—लयकी भावना दो नम्बर है, विवेक एक नम्बर है। क्योंकि विवेक बौद्धिक है, भावना मानसिक है। आप यह मत कहिये कि हम सब जान चुके, देख चुके। वह भी एक भावना होती है। उसकी कमजोरी हम जानते हैं। यदि आपकी जिज्ञासा ही मर गयी तो आपके व्यक्तित्वके उत्कर्षका कोई मार्ग नहीं रहा। आप तो दुनियाभरकी जानकारी अपनी बुद्धिके पेटमें लाकर भरना चाहते हैं। न आप शास्त्रको और गुरुको समझना चाहते हैं, न अनुभव करना चाहते हैं। बोल देते हैं कि 'हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ।' बोलनेके पहले ही बता दिया कि 'मैं जानता हूँ'।

कल ऐसा हुआ कि मैं कोई बात करना चाहता था। बात करनेके पहले ही—एक बार, दो बार, तीन बार मैंने वह बात शुरू कर दी तो सामनेवालोंने बोलकर दो-तीन बार अपनी ऐसी जानकारी प्रकट की कि—उन्होंने हमारी बात प्रकट नहीं होने दी। मैं अपनी बात नहीं कह सका। आप सर्वज्ञ बनकर तो अपने व्यक्तित्वकी सीमा बना दोगे, वह आगे नहीं बढ़ सकती।

**अकृत्वा दृश्यविलयम्**—आपको यह सुनाया कि मनकी प्रधानतासे जो कार्य-कारण-भाव हैं, उसमें विलय करना है योग। धातुकी प्रधानतासे जो कार्य-कारण-भाव हैं उसमें विलय करता है सांख्य। वह भी विवेकके द्वारा, क्योंकि सांख्य-शास्त्रमें प्रपञ्चका अभाव नहीं माना जाता।

वह भी एक विवेक ही है। यदि प्रपञ्चका अभाव तुमको हो

जाय, तो प्रपञ्चके साक्षी तुम हो कि नहीं ? प्रपञ्चका भान हो जाय तो तुम प्रपञ्चके साक्षी हो कि नहीं ? प्रपञ्चका भान हो जाय तब भी तुम प्रपञ्चके साक्षी हो ! यह सांख्य दर्शन है। वे तो कहते हैं, जब तुम्हारे मनमें राग-द्वेष नहीं है तो दुनियामें तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है। तुम असंग हो। बड़े ठोस-ठोस मसाले ;।

अब वेदान्तकी बात शुरू करें। वेदान्तमें लयके लिए दो प्रक्रियाएं मान्य हैं। सब वेदान्त पढ़-सुनकर एक प्रक्रिया तो यह है—

**मेरे सद्गुरु मार्यो तीर निकसि गयो पार।**

सद्गुरुने ऐसा शब्दका तीर मारा; ऐसा अन्तःकरण शुद्ध है, उसमें कोई पत्थर नहीं है। अन्तः करणमें यदि कोई पत्थर, लोहा भरके रखेंगे और तीर मारेंगे तो वह पार नहीं जायगा। परन्तु यदि अन्तःकरण इनसे रहित है, तो—

**मेरे सद्गुरु मार्यो तीर निकसि गयो पार।**

विलयकी प्रक्रिया वेदान्तमें यह है कि इतने दिनोंसे तुम जिसको ईश्वर-ईश्वर करके सोच रहे थे, ढूँढ रहे थे और सोचते थे कि ईश्वर कहीं सातवें आसमानमें है, जिसके बारेमें तुम सोच रहे थे कि वह परोक्ष है, दूर है, ऐसा है वह, वैसा है वह ! वह तो अरे, तुम्हीं हो ! तो अपने ब्रह्मत्वका बोध। वेदान्तमें एक नम्बरकी बात यही है।

उसके बाद दृश्य-विलय क्या होगा ? मुझ परब्रह्म परमात्मामें न माया है, न प्रकृति, न अविद्या ! तत्त्वका कोई मूल कारण ही नहीं है। कार्य-कारण तो भानमात्र है।

दूसरी प्रक्रिया क्या है ? आरोहक्रम उसको बोलते हैं, माने चढ़नेका क्रम। जैसे हम किसी बावड़ीमें गिर गये तो क्रम-क्रमसे

सीढ़ीपर चढ़ गये। हमको एक बारकी याद है। इसीमें निश्चय किया कि 'सीधे ट्रेन पकड़ेंगे, गंगास्नान नहीं करेंगे।' प्रयाग गया था पर 'त्रिवेणी-स्नान नहीं करेंगे, उल्टे चलेंगे।' जो हम पुलपर आये—प्रभुदत्तजी साथ थे, संन्यासी होनेके बादकी बात है—पुलके पास आये और उसपर चले कि पुल टूट गया। पुल गंगाजीमें गिर गया तो यह तय किया कि किनारे-किनारे चलेंगे। नाव मिल जायगी तो पार कर लेंगे। तो हम लोग किनारे-किनारे चले। जिस बालूके रास्तेपर चल रहे थे वही बालूका तट गंगाजीमें गिर पड़ा, साथमें हम भी गंगाजीमें गये। वहाँसे चढ़ने लायक तो था नहीं। वहाँसे फिर किनारे-किनारे चलने लगे। नाव मिली तो पार गये। फिर वहाँसे चले। फिर चढ़ते-चढ़ते पाँव फिसला लो त्रिवेणीमें स्नान हो गया। अब स्टेशन पहुँचें कैसे? गाड़ीका समय हो गया था। कानपुरवाली माँजीका खेमा सामने लगा था। घुस गये उसमें और बोले, माँजी, हमको तो गाड़ी पकड़नी है। वे पद्मपतिजीकी माँ थीं।

वे बोलीं—'गाड़ी पकड़ें चाहे न पकड़ें, पहले भोजन कीजिए।' भोजन कराके उन्होंने हमें कारसे स्टेशन भेजा तो वहाँ गये और देखा कि गाड़ी तो दो घंटे लेट थी। देखिये, आदमीको कभी निराश नहीं होना चाहिए। कहाँ-से-कहाँ रास्ता मिलता है, उसका पता नहीं रहता है। अन्धकारमें भी प्रकाश रहता है। आपको मालूम है, परन्तु आपको लखा दें तब मालूम हो जायगा।

भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कब हुआ? जब सृष्टिमें घोर अन्धकार फैला हुआ था। भादों महीना, कृष्णपक्ष, अन्धेरी रात। जहाँ अन्धकार फैला होता है, वहीं महाप्रकाशका उदय होता है।

अब दृश्यविलय देखिये। पाँच हजार रुपये देकर उसका गुणा भाग, जोड़, बाकी नहीं सीखा जाता 'फर्ज करके सीखा जाता

हैं। जहाँ बुद्धिका भ्रम होता है वहाँ क्रिया-भावनाकी जरूरत नहीं रहती। वहाँ तो फर्ज कर लीजिये कि 'ऐसा है' फिर देखिये कि क्या मजा आता है।

एक बार हमको एक महात्माने कहा, 'देखो जी, तुमने तो बहुत सारी बातें मान रखी हैं न? 'हमारी जाति है'—'हम हिन्दू हैं'—'हम ब्राह्मण हैं'—'हम पापी-पुण्यात्मा हैं', हमारा नाम है 'शान्तनु'! यह किस जन्मसे लेकर आये हो? बहुत-सी बातें तो फर्जी मान रखी हैं! हम भी तुम्हें एक फर्ज करा रहे हैं। उसे भी मानो।

मैंने कहा, 'अच्छा, महाराज सुनाओ।'

'हम परिपूर्ण, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अपरिच्छिन्न ब्रह्म हैं।' झूठमूठ फर्ज करके बैठ जाओ! अब हमसे अलग जो मालूम पड़े उसे देखो कि 'मैं ब्रह्म हूँ तो यह कैसे?' अब मैं बताता हूँ कि यह तुम्हारी कल्पना है तो यह नहीं, यह अध्यारोप है यह दूसरेने तुम्हें जँचा दिया है, यह कुछ सच नहीं है। केवल फर्जी ब्रह्मपना दूसरेको चकनाचूर कर देगा, कहीं टिकेगा नहीं। फर्ज करो।

**अकृत्वा दृश्यविलयम्**—कार्य-कारणका विलय सांख्य और योगमें है, और मायिक एवं आविद्यक कार्य-कारण दृष्टिका विलास है। उसमें दृश्यका विलय नहीं करना पड़ता। दुनियामें जो रूप दीख रहा है उसे समेटकर अपनी आँखोंमें डालोगे तब होगा? नहीं। विवेक करो कि नेत्रमें ही रूप दीखता है। नेत्र खुला है तो दीखता है, बन्द है तो नहीं दीखता! रूपका ग्रहण-अग्रहण नेत्रके अधीन है। नेत्र-ज्ञानके अधीन है रूपका उदय-विलय। ज्ञानके अधीन है, नेत्रके नहीं। श्रोत्र-ज्ञानके अधीन है शब्दका उदय-विलय। रसना-ज्ञानके अधीन स्वादका उदय-विलय है। मानस-ज्ञानके अधीन सब अच्छा-बुरा है।'

अब कल्पना कीजिये कि यदि इन्द्रियकी उपाधि न होती तो, और ज्ञानके साथ मानसकी उपाधि न होती तो ज्ञान कैसा होता? असलमें ज्ञानसे ही मानस और इन्द्रिय—ये दोनों ज्ञानके ही आकार हैं और उनसे जो सृष्टि मालूम पड़ती है, वह भी ज्ञानका ही आकार है। अब एक प्रश्न यह आता है कि 'ज्ञानमें जो आकार आता है, वह सच्चा होता है कि झूठा?' ज्ञान यदि परिणामी हो तो आकार सच्चा; नहीं तो झूठा! ज्ञान परिणामी तो है नहीं, क्योंकि वह तो परिणामका भी ज्ञान है, साक्षी है। ज्ञान परिणामी नहीं है और मालूम सब पड़ता है। तो वह क्या होना चाहिए? दृश्यका विलय यह हुआ कि स्वप्रकाश अधिष्ठानसे पृथक् दृश्य सत्य नहीं है। सत्यत्वमे पृथक्ता नहीं है। यदि यह सत्य है तो आत्मरूपसे सत्य है, पृथक् है तो असत्य है।

**अक्त्वा**—बुद्धिमें अब यह आया कि आत्मज्ञानसे जो दिखायी पड़ रहा है। सोते-सोते जो कथा करता हूँ, उसमें क्या विशेषता होती है, यह बताऊँ? पहलेकी जो सोची हुई बातें हैं उन्हें याद करके सुनाता हूँ। बचपनमें एक लाल कापीमें मैंने लिखा था मेरे मननके नोट।

•

: २५ :

२८-६-७५

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥ ६५ ॥
अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दान्तो राजा भवितुमर्हति ॥ ६६ ॥

आचार्यने एक दृष्टान्त दिया। वे कहते हैं कि शत्रुओंका तो संहार न करें और अखिल भूमिकी संपदाका अधिगम न करे और मुँहसे बोलता है, 'मैं राजा हूँ'। तो कोई मुँहसे 'मैं राजा हूँ'

बोलनेसे राजा नहीं हो जाता। उसी प्रकार ब्रह्मानुभूतिके लिए भी अज्ञानरूप शत्रुको मारना पड़ता है।

'एक विज्ञानसे सर्व विज्ञान' की प्रतिज्ञाके अनुसार 'प्रज्ञानघन ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है—यह निश्चय करना पड़ता है। वेदान्तमें दृश्यका उदय-विलय—'कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव।' ऐसा घनीभूत प्रज्ञान है कि उसमें किसी दूसरी वस्तु, काल, दूसरे-दूसरे देशके लिए गुंजाइश नहीं है। वह प्रज्ञानघन अपना आत्मा ही है। और कोई नहीं।' इस निश्चयकी आवश्यकता है।

हमारे एक मित्र थे, वे 'प्रज्ञानघन' शब्दका जब हिन्दीमें अर्थ करते थे, तो कहते थे, ठसाठस। अर्थात् घन। आत्मा-ब्रह्म ठसाठस है माने ऐसा भरा हुआ है, ऐसा कूटस्थ है कि उसमें दूसरी किसी वस्तुका प्रवेश, अवस्थान, गति, विलयन होता ही नहीं है। वह ज्यों-की-त्यों ठसाठस आत्मवस्तु है। जैसे 'कार्य-कारण' सिद्धान्तमें, 'व्यष्टि-समष्टि', 'क्षण-संवत्सर', 'क्षण-कल्प' या 'कला-कल्प' सिद्धान्तमें है।

आप देखिए, आपके पास चार चवन्नी है कि एक रुपया है? हम तो पुराने हिसाबसे बोलते हैं, नया हमें मालूम नहीं है। अच्छा, तो आपके पास सौ नये पैसे हैं कि एक रुपया है? बोले कि 'भाई, हमारे पास तो एक रुपया है। सौ पैसे नहीं हैं।' एक रुपयेके नोटमें सौ पैसे शामिल हैं। तो क्या सौ पैसेके टुकड़े एक नोटमें-से करके लें तो सौ पैसे निकलेंगे उसमें-से? नहीं निकलेंगे। वे सौ पैसे कल्पित रूपसे कागजके नोटमें रखे हुए हैं। उसको कल्पना बोलते हैं। तो क्या उसमें सौ पैसेका वजन है? या उसे फाड़कर उसमें-से सौ पैसे निकाले जा सकते हैं? नहीं; यह एक मान्यता स्वीकार कर ली गयी कि 'इसमें सौ पैसे हैं!'

'एकमें सम्पूर्ण वस्तुएँ समायी हुई हैं। यह ज्ञान प्राप्त करना

है। जैनधर्ममें एक ऐसा वाक्य लिखा हुआ है कि 'यदि कोटि कल्पपर्यन्त कोई तपस्या करे और एक क्षणके लिए उसमें यह भाव हो जाय कि 'सब समान हैं' अर्थात् साम्यभाव हो जाय तो प्रश्न उठाया कि 'कोटि कल्पकी तपस्या बड़ी है कि साम्यभाव ?' उन्होंने निश्चय किया कि 'कोटि कल्पकी तपस्यासे एक क्षणका साम्यभाव बड़ा है। तपस्या वहिरंग है और साम्यभाव अन्तरंग है। कार्य-कारणमें विलय एक दूसरी प्रक्रिया है। आत्मदेहके महाजाग्रत्में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति करोड़ों भासित हो रही हैं। यह महाजाग्रत् आत्माका स्वरूप है। भावनामें जो विलय है, वह मानसिक है। द्रव्यका द्रव्यमें विलय भौतिक है। निश्चय बौद्धिक है। परन्तु यह बौद्धिक निश्चय विषयके ज्ञानसे हुआ है कि बुद्धिके अधिष्ठान ज्ञानसे हुआ है ? यह फरक होता है। शून्यताका निश्चय बौद्धिक पदार्थोंके क्षणिकताके आधारपर है। ब्रह्मनिश्चय अधिष्ठानके आधारपर है। अधिष्ठानके ज्ञानसे दृश्यके विलयका निश्चय होता है।

जैसे वेदान्तकी कोई बात करे और कहे कि 'जब अज्ञानका नाश हो जायगा तो ज्ञान अपने आप प्रकट हो जायगा।' तो समझना कि इसने वेदान्तकी शिक्षा गुरुसे नहीं प्राप्त की है। कैसे ? अज्ञानका नाश होनेपर तो ज्ञानकी कोई जरूरत हो नहीं रहेगी। ज्ञानकी ज़रूरत अज्ञानका नाश करनेके लिए ही है। तो अज्ञानदशामें हा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य क्रियाशील होकर ब्रह्मात्मैक्य-प्रमा उत्पन्न करते हैं और उसकी उत्पत्तिके साथ अज्ञानका नाश हो जाता है। कोई यह कहे कि 'पहले अज्ञान मिट जायगा', तब ज्ञानकी ज़रूरत ही क्या है ? ज्ञानकी ज़रूरत हमारा अज्ञान मिटे इसलिए है।

**अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा ज्ञानमात्मनः।**

यहाँ एक साथ ही आत्मतत्त्वका ज्ञान और दृश्यविलय युगपत् माने दोनों एक साथ हैं। रोजमर्राकी बात है। आप बता सकते हैं कि पहले नींद टूटती है तब आप जागते हैं कि पहले जागते हैं तब आपकी नींद टूटती है? सोचकर जरा बताइये न! एक ही चीजके दो नाम हैं। जानेवालेके पहलूसे बोलते हैं 'नींद टूटना' और आनेवालेके पहलूसे बोलते हैं, 'जागना'। ठीक यह एक ही क्षणके दो नाम हैं। निवर्तमान और प्रवर्तमान दोनोंकी सन्धि जाता हुआ क्षण और आता हुआ क्षण। चुनौती है गणितज्ञोंके लिए; कब कौन क्षण आया, यह सिद्धान्त जिसे मालूम नहीं है—एकने अनादि और नित्य कालमें क्षण, क्षण, क्षण यह घड़ी, सूर्य, चन्द्र, धरती बतावेगी, काल थोड़े ही बतावेगा? वह तो बिलकुल कल्पना होती है। इसलिए 'दृश्विलयका क्षण अलग और आत्मतत्त्वके उदयका क्षण अलग'—यह कल्पना करनेवाला सृष्टिमें कोई नहीं है।

यदि बाहरसे समझोगे नहीं और बाहरसे बकते-झकते रहोगे तो तुम्हारा ज्ञान केवल जीभकी नोंकपर रहेगा। वह वाचा ज्ञान होगा, सच्चा ज्ञान नहीं होगा।

अज्ञानका कि वाक्यज्ञानसे यह निवृत्त नहीं होता और बीचमें यह बात डाल दी—अर्थान्तर आ गया। तो ऐसे केवल जबानी-जमाखर्चसे कोई करोड़पति नहीं हो जाता। कुछ लेना पड़ता है, कुछ देना पड़ता है, कुछ करना पड़ता है। इसी बातको दृष्टान्तसे और समझाया। केवल जबानी-जमाखर्चसे समझना—आजकल जो बातें हम करते हैं, वह ज़्यादातर व्यर्थ होती हैं। न अमेरिका-पर काबू कर सकते हैं न रूसपर। परन्तु बात तो अमेरिकाकी ही करते हैं। न एक लाठी सह सकते हैं न जेलमें रह सकते हैं और बातें करते हैं बड़े-बड़े त्याग-बलिदानकी। तो भाई मेरे,

अखिल पृथिवीको सम्पदापर अधिकार करनेके लिए शत्रु-संहार आवश्यक होता है। अपने ब्रह्मभावके बोधके लिए अज्ञानरूप शत्रुका संहार करना पड़ता है। केवल 'मैं राजा हूँ' यह कहनेसे नहीं चलता। पहले व्यर्थ वचन छोड़ो। सप्रयोजन बोलो, निष्प्रयोजन नहीं। व्यर्थ भोग, व्यर्थ दर्शन, व्यर्थ कर्म छोड़ो। पहले व्यर्थ तो छोड़ो। सार्थक रखो। दुकानपर ग्राहक आवे, तो उससे बात कर लो। परन्तु ग्राहकसे मालकी बात तो करो उससे राजनीतिकी चर्चा करनेसे क्या फायदा ? वह समझेगा कि यह हमारी पार्टीका नहीं है तो तुम्हारी दुकानसे सौदा नहीं लेगा।

हम बाबाजी लोग यदि किसी पार्टीकी बात शुरु करदें तो दूसरी पार्टीके यजमान हमारी ओर नहीं फँसेंगे। वे कहेंगे, 'अरे यह तो पार्टीबन्दीमें पड़ा हुआ है।' अपने आपको व्यर्थ भाषण-कर्म-भोग-दर्शन-चिन्तनमें मत फँसाइये। जब जानते हैं कि इसके साथ हमारा व्याह नहीं होनेवाला है, तो उस लड़कीकी ओर बारम्बार देखनेसे क्या फायदा ? उसका मन क्यों बिगड़े ? हमारा मन क्यों बिगड़े ?

व्यर्थ कर्मके दो विभाग हैं—(१) जिस कर्मकी प्रेरणा—प्रयोजन न हो, वह व्यर्थ है, (२) चेष्टाएं—जैसे कुर्सीपर बैठके पाँव हिलाना, आगे-पीछे होना, हाथसे पाँवको दबाना, हमारे बैल झूमते थे, ऐसे बैठे-बैठे झूमना—ये सब व्यर्थ चेष्टाएं हैं। यह मनुष्यके निकम्मेपनकी सूचना है।

कर्म दूसरोंके लिए होता है, चेष्टा अपने शरीरसे होती है। जब व्यर्थसे बचनेका भी तुममें सामर्थ्य नहीं है, तो अज्ञानसे बचनेका सामर्थ्य तुममें कहाँसे आवेगा ? एक लड़केने कहा, 'जब पिताजीके मरनेका समय आया, और हमें पिताजीने अमुक-अमुक

बातें नहीं बतायी हैं तो डाक्टरको कहा, 'तुम सिर्फ एक मिनटके लिए पिताजीको होशमें ला दो तो हम उनसे पूछ लें कि अमुक व्यापारकी कुञ्जी क्या है, मरेंगे तो मरेंगे,। परन्तु लाखों रुपया लेकर भी डाक्टर एक मिनट तो जिला नहीं सकता। कितना कीमती है आपका एक मिनट जो लाखों रुपये खर्च करनेपर भी नहीं मिल सकता। किसकी चर्चामें और क्या सोचनेमें आपका एक मिनट बीतता है? बड़ी कीमती चीज है। हीरा मिला है।

**'मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें।'**

आपको जो मन मिला है, वह बेमतलबकी बात करने, सोचने और बेमतलब भोग भोगनेमें बीत रहा है। एक आदमी भूखा मर रहा है और एकको अपच हो रहा है। अपच हो रहा है, उसका कुछ कर्तव्य है। हाँ, इतना ही है कि वह अपच न हो, उतना ही खाय और भूखेको भोजन मिल जाय। तो भाई मेरे! प्रयास करना चाहिए।

**उक्तिमात्रफलैः नृणाम्**—केवल बोलनेका श्रम – जिह्वाका श्रम मेढकीकी जीभके समान है जो परमात्माकी चर्चामें नहीं लगती। तुलसीदासने कहा है—

**रसना सांपिन बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम।**

जो ईश्वरकी चर्चा नहीं करते हैं, उनकी जीभ साँपिनके समान है। वह दूसरेको काटेगी। मुँहके बिलमें वह रहती है। क्या? जीभ साँपिन! और बोलती है किसलिए? दूसरोंको काटनेके लिए—डँसनेके लिए।

**उक्तिमात्रफलैः नृणाम्**—कुछ करके तो देखो! भर्तृहरिने कहा, 'भोग ही करो! उसमें दुःख मिलेगा, पर भोग तो करो! भोग करके सुखी तो हो जाओ।'

**न ध्यानं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये**
**स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मेऽपि नोपार्जितः ।**
**नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं**
**मातुः केवलमेव यौवनतरुच्छेदे कुठारा वयम् ।।**

( वैराग्यशतक ११ )

न ईश्वरका ध्यान किया जिससे बन्धन छूटे और न धर्म किया जिससे स्वर्ग मिले। न भोग किया जिससे इस लोकमें सुख मिले। न लोक मिला न परलोक मिला, न स्वर्ग मिला। मैया हो गयी बुढ़िया और हमने केवल बेगार भरनेमें अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया। तो करना क्या चाहिए ?

**आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणस्वीकृतिम्**
**निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति ।**
**तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते**
**मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ।। ६७ ।।**

बालकी खाल निकालनेसे और बेकायदे अकल लगानेसे— अकल भी जब कायदेसे लगायी जाती है, तब काम बनता है। कान्दिशीक माने भटकता हुआ तर्क—यह नहीं मालूम है कि हमें क्या सिद्ध करना है और काटते जा रहे हैं। इसीको बोलते हैं कान्दिशीक तर्क। मात्र यह कहते हैं—'हम तो सामनेवालेकी बात काटेंगे। लक्ष्य तो पता नहीं, ऐसी बातों-तर्कों-वितर्कोंसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

असलमें बात यह है कि पहले हम इस विषयको अच्छा समझते थे, अब थोड़ा भूल गया। वह क्या है ? बम्बईमें आनेसे तो बिलकुल ही भूल गये। पहले गाँवमें ज़मीन थी और किसीको मकान बनाना होता था, तो हम जाकर उसका पिण्डशोधन करवाते। जिसको मकान बनवाना होता, उसकी कितनी लम्बाई-

चौड़ाई हो, उसका दरवाज़ा ठीक किधर रहेगा—वास्तुशास्त्रके अनुसार एक बात और उसमें करनी पड़ती थी। शल्यशोधन उसको बोलते थे। उस ज़मीनमें नीचे कोई ऐसी चीज़ तो नहीं गड़ी है कि मकान बननेपर वहाँ रहनेवालोंको बुरे स्वप्न आवेंगे, बुरे दृश्य दिखायी देंगे, बुरी चमक निकलेगी। वास्तुशास्त्रके हिसाबसे यह सब गिना जाता था। यह बात भी थी कि हीरा-मोती-सोना-चाँदी, पशु या मनुष्यकी हड्डी है, यह सब—हमारे बचपनकी बात है—अब हम नहीं जानते। नहीं तो कोई खजाना पूछने आजायँ कि हमारे घरमें कहाँ गड़ा है, बताइये। हमारे बाप-दादा पहले यह काम करते थे। तब देखते-देखते समझ गये थे कि वे कैसे बताते थे?

आपको करना क्या है? आपके शरीरके भीतर एक खजाना निक्षिप्त है—अर्थन्यास है। हमारे गाँवकी तरफ ऐसा शब्द बोलते हैं कि खड़ी बोली बोलनेवाले भी न समझें। 'चहबच्चा' कहते हैं उसे। 'इनके घरमें चहबच्चा गड़ा है।' नीचे खूब बढ़िया चूनेका फर्श बनाकर, उसमें कुण्ड बनाकर, इतना बड़ा खजाना भरते हैं कि अनगिनत, लाखों-करोड़ोंमें भी नहीं गिन सकते। हमारे एक मित्र हैं। उनको यह शक है कि हमारे घरमें 'चहबच्चा' गड़ा है। अलीगढ़ जिलेमें वे हैं। वे बिचारे गरीब तो हो गये हैं, परन्तु अपना मकान नहीं छोड़ते हैं। वे कहते हैं, 'होगा तो कभी वह निकलेगा।' तब हम फिर धनी हो जायेंगे।

देखिए, यह कितनी दुर्भाग्यकी, बदकिस्मतीकी बात है कि इसी साढ़े तीन हाथके भीतर, जिसमें मैं रहता हूँ, उसमें ईश्वर भी छिपा हुआ है। बदकिस्मती क्या है? हम उसे न देख पाते हैं न ढूँढ पाते हैं, मजा नहीं ले पाते। इससे बढ़कर बदकिस्मती और क्या होगी कि हमारे दिलमें सम्पूर्ण विश्वका परमेश्वर,

अन्तर्यामी, अमृतस्वरूप रह रहा है और हम उसे पा न सकते हों। उसके लिए व्याकुलता नहीं होती। इतना बड़ा खजाना हमारे दिलमें और हम उससे वंचित ! तो पहले विश्वास करो।

आप्त पुरुष जो है—आप्त माने विश्वसनीय, इसका विश्वास करना योग्य है, अनुभवी पुरुष है। आप प्रेमकुटीरसे बाहर निकलो और कोई अनजान, गाँवका आदमी मिले, उससे पूछो, 'हम चर्चगेट कैसे जायँ ?' वह इधरसे बता दे तब भी विश्वास न होगा, उधरसे बता दे तब भी न होगा। कोई बम्बईका जानकार, अनुभवी, विश्वसनीय आदमी होना चाहिए। जब यहाँका रहने-वाला, जानकार, विश्वसनीय इशारा भी कर दे कि यहाँसे चले जाओ, तो आप चल पड़ेंगे।

वेदान्तमें भी विश्वास करना पड़ेगा, यह बात आगयी। जब तक चीज़ देखी नहीं होती है तबतक किसीपर विश्वास करना होता है। विश्वास दो तरहका होता है। एक विश्वास ऐसा होता है जो मृत्युपर्यन्त विश्वास ही होता है। कोई कहे कि तुम पाँच गोदान कर दो, तो वैतरणीसे पार उतर जाओगे। तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। यह जो तुमने ब्राह्मण–पण्डितकी बातपर विश्वास किया, मरनेतक वह तो विश्वास ही रहेगा। मरनेके बाद आप देखिए गा कि वह जो गाय वैतरणी पार करा देती है, और आप स्वर्गमें गये।

परन्तु एक विश्वास ऐसा होता है, उसका अनुभव इसी जीवनमें हो जाता है। वह जो परमार्थ-सम्बन्धी, ईश्वर-विषयक उसपर विश्वास करना है, वह मृत्युपर्यन्त 'विश्वास' नहीं रहता है। इस विश्वासका फल तो यहीं देखनेमें आता है। आप सेठजी-पर विश्वास करके उनके यहाँ अपने पैसे रखिये। वे व्याजसहित आपको वापिस कर देंगे। व्याजका फल तो यहीं मिलेगा, परन्तु

परोक्ष मिलेगा देरसे मिलेगा। बैंकमें रखो तो वह भी देरसे मिलेगा। परन्तु एक विश्वास ऐसा है कि आप विश्वास करो और तत्काल आपको अनुभव हो जाय। यहाँ विश्वास और अनुभव–इनमें फरक नहीं है। क्यों ? क्योंकि यह दूसरेपर विश्वास नहीं है। यह अपने बारेमें विश्वास ही नहीं, अनुभव है। यह स्वर्ग, गोलोक, साकेत, वैतरणी नदीपर विश्वास नहीं है, यह तो अपने ऊपर ही ऐसा विश्वास है कि तत्काल अनुभव हो जाय। तो ऐसा जो विश्वसनीय पुरुष है, आप्त पुरुष—उसकी जो उक्ति है, उसपर विश्वास करके चलिए।

**खननं**—आपके घरमें खजाना रखा है तो जो विश्वसनीय पुरुष है—एक मन्दिर था, उसके बहीखातेमें लिखा था, 'चौदह जनवरी, बारह बजे दिन, बीस फुटकी दूरी—खजाना।' किसीकी समझमें ही न आवे कि क्या बात है ? किसी जानकारने कहा—'चौदह जनवरी आने दो, तब बतावेंगे।' अच्छा भाई चौदह जनवरी आ गयी। 'बारह बजने दो।' बारह बजा। बीस फुट जहाँ मन्दिरकी परछाईं पड़ रही थी, उसे नापकर खोदा गया तो वहाँसे खजाना निकल आया। वह जानकार, अनुभवी पुरुष था। छाया रोज-रोज बदलती है। गरमी, वर्षा, जाड़ेमें वह अलग-अलग जगहपर होगी। उसे चौदह जनवरीकी छाया चाहिए। ऐसे, निकल गया खजाना। इसे पानेके लिए खोदना पड़ता है। उस खजानेपर शिला आदि रखा हुआ होता है, उसे हटाना पड़ता है और फिर 'यह हमारा हक है'—ऐसी स्वीकृति होती है'।

हमारे भीतर जो खजाना है, उसकी कमाई नहीं करनी पड़ती, उसे दूसरेके घरसे लाना नहीं पड़ता, उसे बनाना नहीं पड़ता, उसके बारेमें जानकारी और उसपर जो पर्दे हैं उनको फाड़ देना। बस, इतनी ही जरूरत पड़ती है। आप निश्चय कीजिये कि वह

परमानन्दका खजाना आपके शरीरके भीतर, दिलके भीतर रह रहा है और उसका खोदना क्या है? खोदना यह है कि आप उसके भीतर प्रवेश कीजिये और उसपर जो पर्दे हैं, आवरण हैं उनको आप फेंक दीजिये और 'यह तो अपना आपा ही है,' बस! मिल गया।

आप्नोवितं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृति
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति।

'हि' शब्द भी एक अव्यय है। हर जगह 'हि'का अर्थ 'क्योंकि' नहीं होता। केवल शब्दसे कहना कि 'अरे ओ! खजाना निकल आ! अरे ओ आत्मा! अरे ओ ब्रह्म निकलकर बाहर आ जा!' यह कोई जादूका खेल थोड़े ही है कि 'हुकुम मनसाराम अघोरीका, बिलसे बाहर निकल!' और साँप बिलसे बाहर निकल आवे! यह ऐसा थोड़े ही है कि हुकुम मनसाराम अघोरीका आत्मा पर—ब्रह्मपर लग जाय! वे दो कौड़ी मन्तरके फेंकते हैं और वे जाके साँपको चिपकती हैं। ऐसे जोरसे दबाती हैं कि साँप छट-पटाता हुआ निकल आता था। हरकिशनदासके यहाँ एक गुमाश्ता है। उनके घरमें साँपका वरदान है। मैं उनके घर गया था।

हुकुमसे तो ब्रह्मजी निकलनेवाले हैं नहीं। यह आत्माजी किसीका हुकुम तो माननेवाले हैं नहीं। इस दुनियामें दो चीजें जो हमारे सिरपर पड़ी हैं, उनपर आप ध्यान दीजिए। आप बिना सोचे-समझे बहुत सारी बातें मानते आये हैं। किसीने बता दिया। बेवकूफोंकी एक बात सुनाता हूँ।

हमारे एक ब्रह्मचारीजी हैं। सचमुच उनके पास कोई एक आया। 'भाई! तुमको तो बड़ा भारी रोग हो गया है।' वह बोला—'हमको तो नहीं, मालूम। हम तो बिलकुल ठीक हैं।' 'ठीक कैसे हो? तुम चलते हो रास्तेमें तो तुम्हारा दाहिना हाथ

आगे पीछे होता है ?' 'हाँ, यह तो होता है।' तुम टट्टी जाते हो तो पहले लघुशंका निकलती है ?' 'हाँ महाराज !' 'यही तो रोगका लक्षण है। तुम तो बहुत बीमार हो !'

अब वह सोचने लगा, हम तो बहुत बीमार हैं। वह घरमें जाकर सो गया कि हम तो बहुत बीमार हैं। ये बदमाश लोग ऐसे करते हैं। बहुत सारी बातें आपके मनमें बिना सोचे-समझे बैठ गयी है और बैठा दी गयी हैं। साँपको भगानेके लिए आपके मनमें नेवला लाकर बैठा दिया गया है। पञ्चतन्त्रकी यह कहानी आपने पढ़ी है कि नहीं ?

एक पेड़पर बहुत-सी चिड़िया रहती थीं। उस पेड़के नीचे एक साँप रहता था। वह चिड़ियोंके बच्चे और अण्डे जो घोंसलेमें होते थे, उन्हें खा जाता था। उसे अण्डा खानेका बहुत शौक था। अब हुई चिड़ियोंकी पञ्चायत। यह बच्चोंकी कहानी है। उन्होंने कहा, 'साँपको मारनेके लिए नेवला बुलाया जाय।' नेवला आ गया। नेवलेको देखकर साँप भाग गया। अब नेवलेने देखा—यह पेड़ तो बहुत अच्छा है और वह वहीं रह गया। साँप तो भाग गया और नेवला उनके अण्डे-बच्चेको खाने लगा !

**भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।**

एक तो लहसुन खाया और रोग नहीं मिटा। कुछ काम नहीं बना। नेवला तो आगया पर अण्डे-बच्चे बचे नहीं। तो देहाभिमानको छुड़ानेके लिए उन शास्त्रोंने, उन शास्त्रियोंने—'श्रुति पुराण बहु कियो उपाई, छूट न छुट अधिक उरझाई।'

इस प्रकार इन उपायोंका कहीं अन्त नहीं है। हमको चाहिए भोग कि हम भोगसे सुखी होंगे तो विषय-उपार्जन करो। विषयोंका उपार्जन नहीं करोगे तो भोग कहाँसे करोगे ? न जाने किस अशुभ मुहूर्तमें यह पाप हमारे साथ जुड़ गया। जैसा तैसा कि 'मैं' विषयी

हूँ और विषयोंका भोग करके मैं सुखी होऊँगा। यह लोभ ही हुआ न! प्रजाके सुखसे सुख नहीं तो राजाके सुखसे सुख भोगेंगे। राजाके सुखसे सुख नहीं तो इन्द्रका सुख भोगेंगे। न जाने किस अशुभ मुहूर्तमें हमें भोक्ता बनाया गया और हम भोक्ता बन गये। यह पाप लग गया। इसीका नाम पाप है।

गाली देनेका, किसीको मारनेका, किसीका माल ले लेनेका नाम पाप है यह आप जानते हैं, परन्तु 'हम भोगी हैं ऐसा अपने आपको माननेका नाम पाप है' यह आपके दिमागसे निकल गया है। हम भोक्ता हैं। विषयके पराधीन। हमें नहीं मालूम, कब अनजानमें हमने अपने आपको कर्ता मान लिया। कर्मके पराधीन हो गये। 'कर्म नहीं करेंगे तो हम बन्धनसे नहीं छूटेंगे' और ज्यों-ज्यों बन्धनसे छूटनेके लिए कर्म करते गये त्यों त्यों जैसे रेशमका कीड़ा सोचता रहा कि हम और रेशम बनावेंगे तो और सुखी होंगे, और सुखी होंगे परन्तु रेशमने उसको चारों ओर ऐसा घेर लिया कि वह बँध गया। अब ? रेशम तो बच जायगा, वह मर जायगा, गरम पानीमें डाल देंगे तब।

इस तरह अपनेको भोगके पराधीन भोक्ता बनाना पाप है। कर्मके पराधीन कर्ता बनाना पाप है। पापका नारा यह है—'कर्तापन, भोक्तापन पाप है। अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानना पाप है। जन्म-जन्मान्तरमें लोक-लोकान्तरमें भटकनेवाला मानना पाप है। बौद्ध मरनेवाला माननेमें अर्हंत पाप बताते हैं। चार्वाक जन्मवाला मानना पाप बताते हैं।

पाप है पाप—यह तो सब आपको सिखाया गया। एक नासमझी दूर करनेके लिए—'नासमझ'का शाप हटानेके लिए, दूसरा माने 'नेवलेका पाप' मनुष्यके सिरपर चढ़ बैठा। आप न कर्ता हैं,

न भोक्ता हैं, न संसारी हैं, न परिच्छिन्न। आप टुकड़े नहीं हैं, कतरा नहीं हैं, दरिया हैं। विन्दु नहीं, सिन्धु हैं।

**विन्दुमें सिन्धु समाहि सुनि कोविद रचना करे।**
**होनहार हिरान, रहिमन आपुनि आपमें ॥**

आप कोई साधारण वस्तु नहीं हैं। परन्तु इसके लिए इस अपने आपके खजानेपरसे आपने हक छोड़ दिया? बड़ोंपर विश्वास नहीं किया, ज्ञानके लिए प्रयत्न नहीं किया, आवरणका भंग नहीं किया, इसको अपना आपा नहीं समझा। केवल मुक्तिकी चर्चा करनेसे मुक्ति नहीं मिलती है—

**निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति**
**तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते।**

ब्रह्मवेत्ताके द्वारा—'ब्रह्मवेतृ-निमित्तन'—ज्ञान प्राप्त करनेके लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन कीजिए। तब इसकी प्राप्ति होती है। कैसे प्राप्ति होती है?

**मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥६७॥**

इस जादूके खेलने अपने निर्मल स्व-तत्त्वको ढक दिया है। यह केवल बहुत तर्क-वितर्कसे नहीं मिलता है। इसके लिए अन्तर्मुख होकर पहले ही कह दिया—

**मत पड़ो रे शास्त्रजंगले।**

यह तो अध्यारोपविद्यया—यह जो शास्त्र प्रतिपादन करता है, उसी शास्त्रको हमने सच्चा समझ लिया और जितना-जितना अध्यारोप हुआ, उनका अपवाद करनेके लिए उतने-उतने और शास्त्र बने। क्योंकि जो अध्यारोप, अपवादका साक्षी, अधिष्ठान, स्वप्रकाश स्वयं है, वह जबतक द्वैतविषयक समग्र अध्यारोपोंका अपवाद करनेवाला, अद्वितीय आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं होगा, तब-तक इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादेरिव पण्डितैः ॥ ६८ ॥

इसलिए अपना पूरा बल, पूरी शक्ति, अपने कर्मका बल लगाइये दुश्चरित्रके नाशके लिए और दुर्वासनाके नाशके लिए अपनी भावनाका बल लगाइये । चंचलताके नाशके लिए एकाग्रताका बल लगाइये । 'तस्मात् सर्वप्र त्नेन'—प्रयत्न सर्वांगीण होना चाहिए । पूरी ताकत लगाइये ।

**मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ ।**

मैं पगली परमेश्वरको ढूँढ़नेके लिए निकली थी, परन्तु किनारे बैठी रह गयी, उनको ढूँढ़ा नहीं ।

**आये मोरे सजना, फिरि गये अंगना, मैं बौरी रहि सोय रे ।**

मेरे प्यारे साजन आये, मेरे दिलके आँगनमें चहलकदमी करते रहे और मैं बावरी तान दुपट्टा अज्ञानका लिहाफ ओढ़कर नींदमें सोती रही । तो भाई ! पूरा प्रयत्न—जैसे आपके शरीरमें कोई रोग होता है, तो आप दवा करते हैं । भूख लगती है तो खाते हैं हैं कि नहीं ? यदि तनमें रोग हो तो दवा करें, और मनमें रोग हो तो नहीं करेंगे ? बुद्धिमें रोग हो तो नहीं करेंगे ? क्या आश्चर्य ! लोग अपने कपड़ेको चमकाकर रखते हैं, शरीरको मैला रखते हैं ! अच्छी मैल बैठी हुई है । उंगलीसे निकाल लो कितनी मैल ! शरीरको तो ठीक रखते हैं और अपने मन-बुद्धिकी परवाह नहीं करते ? उसके लिए दूसरा कोई आपके शरीरपर साबुन भी लगा दे । परन्तु अपने मन-बुद्धिको तो आप अपने ही हाथोंसे साबुन लगा सकते हैं । उसका मैल, उसका दोष आप स्वयं दूर कर सकते हैं । लग जाइये, लग जाइये ।

●

: २६ :

२९–६–७५

धर्म और संस्कृतिकी विशेषता यह है कि वे लोग जहाँ विश्वासकी प्रधानतासे अपने मज़हबको चलाते हैं, आचार्य, पुस्तक और फलका भी विश्वास करनेके बाद फल मिलेगा। यह विश्वास है। इस किताबमें ईश्वरके हाथसे लिखकर यह आया है यह भी विश्वास है। हमारे मज़हबके जो आचार्य हैं, वे ही पैगम्बर हैं। उनको ही ईश्वरने अपना खास सन्देश दिया है और किसीको नहीं। यह सब मजहब विश्वासपर अवलम्बित हैं। जो मजहब अपने पौरुषकी प्रतिष्ठा नहीं करता है और अपनी बुद्धिका आदर नहीं करता है, वह मजहब ठोस नहीं माना जा सकता। हमको तो बना दें निकम्मा और हमारी बुद्धिको बना दें पराधीन! यह ठीक है कि दुनियाके सगे-सम्बन्धीपर, रिश्तेदार-नातेदारोंपर विश्वास करनेकी अपेक्षा सन्त-सद्‌गुरु, अनुभवीपर विश्वास करना उत्तम है।

जो दुनियाके स्वार्थी लोग हैं, उनपर विश्वास करनेकी अपेक्षा आचार्यपर विश्वास करना उत्तम है। इसको तो कौन काटेगा? विषय-भोगके लिए जो वस्तुएं मिलती हैं, उनपर विश्वास करनेकी अपेक्षा एक अलौकिक परमार्थ वस्तुपर विश्वास करना उत्तम है। इसको कौन काट सकता है? परन्तु केवल विश्वास ही विश्वास धर्म या दर्शन नहीं है। विश्वास तो अनुभवके लिए किया जाता है। यदि इसी जीवनमें अनुभव न हो तो केवल विश्वासके भरोसे अपना जीवन कैसे व्यतीत किया जा सकता है? हम अखबारपर विश्वास करते हैं, धर्मग्रन्थोंपर नहीं यह तो गलत है।

अखबारपर विश्वास मत करो, धर्मग्रन्थोंपर करो, यह ठीक है। बेईमान पक्षपातियोंपर विश्वास करते हैं, और आचार्य, सद्गुरुओंपर नहीं, यह तो गलत है। परन्तु सद्गुरुओंपर भी विश्वास ही विश्वास है और फल इस जीवनमें नहीं, मरनेके बाद मिलता है, यह विश्वास भी कुछ उत्तम कोटिका नहीं है। हाँ, संसारमें हमें यह भोग मिले—इस विश्वाससे यह उत्तम है।

दो बात देखिए—हिन्दू संस्कृति—वैदिक धर्मकी विशेषता है—धर्ममें, योगाभ्यासमें और तत्त्वज्ञानमें अपने पौरुषकी प्रधानता है। और धर्मका जो हिस्सा दूसरे जन्ममें या परलोकमें फल देनेवाला है, उसमें तो विश्वासकी प्रधानता है। परन्तु धर्मका जो अंश इसी जीवनमें फल देनेवाला है, उसमें विश्वासकी प्रधानता नहीं है, दृष्ट अनुभवकी प्रधानता है।

अच्छा जी, तो वह धर्म कौन-सा है जो इसी जीवनमें फल देता है? जिससे अपने अन्तःकरणमें काम-क्रोध-लोभ-मोह, वासना समाप्त होती है? अन्तःकरण शुद्ध होता है वह धर्म तो दृष्टफलक है। वह धर्म भी विश्वासप्रधान नहीं, साक्षात् अनुभवप्रधान है।

अब योगाभ्यासमें यदि अपने सद्गुरुपर विश्वास न करेंगे, उनके बताये मार्गपर न चलेंगे तो साधन कैसे करेंगे? परन्तु योगाभ्यासमें भी मरनेके बाद सिद्धि या अच्छा जन्म दूसरा मिलेगा ऐसा विश्वास नहीं है। इसी जन्ममें हमें उत्तम-से-उत्तम सिद्धि मिलेगी और ईश्वरका अनुभव होगा इस प्रकार योगाभ्यासमें भी पौरुष है अनुभव है। धर्ममें भी पौरुष कि करना चाहिए और अन्तःकरण-शुद्धि पौरुष है, अनुभव है।

तत्त्वज्ञानमें? यह तो साक्षात् ब्रह्म—इसी जीवनमें ब्रह्मानुभूति।

आप ध्यान दें इसपर—

**यत् चित्तस्तन्मयो मर्त्यः**—जैसा चित्त है, वैसा ही प्राणी है।

आदमी कहाँ बैठा हुआ है? उसकी बुद्धि कहाँ काम करती है? एक महात्मा गये किसी राजासे मिलनेके लिए तो दरवानने कहा—'हमारे राजासाहब दस बजेतक भजन-पूजनमें बैठे रहते हैं। वे किसीसे मिलते नहीं। इसलिए हम आपके आनेकी खबर भी उनतक नहीं पहुँचा सकते हैं। आप दस बजेके बाद आना।'

वे बोले—'तुम्हारे महाराज भजन-पूजन तो नहीं कर रहे हैं। एक दुकानमें जूता खरीद रहे हैं'। माने अब उनका अन्तः-करण ही हुआ है दुकान। उसमें सैंकड़ों जूते हैं। उसमें विक्रेता दुकानदार है और स्वयं खरीददार हैं। वे जूतेपर जूते खरीदते जा रहे हैं। 'उस दरवानको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बादमें राजाको कहा—'आज एक फकीर आया था। उसने कहा, आप जूते खरीद रहे हैं। भजन-पूजन नहीं कर रहे हैं।'

राजा बोला—'जल्दी उस फकीरको घेरो।'

तो आपकी बुद्धि यदि बाथरूमके बारेमें ज्यादा सोचती है तो बाथ-रूम हो गयी। छली, कपटी, चोर-चमार, डाकू-लुटेरेके बारेमें

सोचती है तो वही है। आपकी बुद्धि असलमें कहाँ है, इस बातको देखिए।

ईश्वरके बारेमें विचार करने बैठे तो बुद्धिमें ईश्वर होना चाहिए, परन्तु नहीं। रुपया-सोना-चाँदी, दुकान-मकान, आमदनी! यदि आप ऐसा सोच रहे हैं कि 'अमुक आदमी बहुत बेईमान है तो वह आपको कहाँ दीखता है? आँखमें कि बुद्धिमें? बुद्धिमें। तो आपकी बुद्धि बेईमानकी शकलमें बन गयी। ऐसे ही तो भगवान्‌को देखना है। भले मानुष! अपनी बुद्धिको बुरी-बुरी बातोंके चिन्तनमें मत लगाओ उत्तम-से-उत्तममें लगाओ।

**यत् चित्तस्तन्मयो मर्त्यः**—एक सज्जनने दर्शनशास्त्रपर ग्रन्थ लिखा है। बड़ा भारी ग्रन्थ है, तीन-चार जिल्दोंमें छपा है। वे क्या बताते हैं कि दर्शनकारने इस वस्तुका प्रतिपादन किया है। तो चार-पाँच-दस लाइन इस विषयपर लिख दो। फिर क्या लिखते हैं कि इस दर्शनकारकी नीयत खराब थी। लोगोंको बहकानेके लिए उसने ऐसे सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया। एक दार्शनिकको यह देखनेकी कोई जरूरत नहीं है कि वक्ताकी नीयत क्या है? दर्शनके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसको यह देखनेकी जरूरत है कि उसने जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया है उसमें त्रुटि है कि नहीं। वह उठके-बैठके, खड़ा होकर, गाकर, हंसकर, रोकर—कैसे बोला, इससे कोई सम्बन्ध नहीं। वह सच बोला कि नहीं? दर्शनशास्त्र सत्यकी परीक्षाके लिए है। इसलिए इतिहासका ज्ञान दर्शनशास्त्रमें—तत्त्वज्ञानमें उपयोगी नहीं है। वह कालप्रधान है। अरे; तुम इस तरहकी बात करते हो? यह तो भारतीय नहीं है। यह कौन है? मुसलमान? ईसाई? उससे कोई मतलब नहीं। वह जो बात करता है वह सच्ची है कि नहीं? उसमें कोई गलती हो तो निकालकर बताइये।

दार्शनिकका काम यह देखना नहीं है कि बोलनेवाला कौन है ? नशेमें बोल रहा है क्या ? किसीने बाथरूपमें बैठकर कहा हो, रोते हुए, सोते हुए या गाकर कहा हो, यहाँ बैठकर या वहाँ बैठकर कहा हो, अत्यन्त आधुनिक बात हो या पुरानी हो, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है उसकी बातसे। उस दार्शनिकका अन्तःकरण ही अशुद्ध है, जो बातको पहले या पीछेकी होनेसे सही या गलत सोचता है। सोचना तो यह है कि बात सच, अनुभवारूढ़ है कि नहीं ? जिसको भारतीय-दर्शन, वैदिक-दर्शन बोलते हैं, अपौरुषेय ज्ञानमें किस स्थानमें, कब, किसने बात कही, इसका विचार नहीं है बात क्या बोली गयी, माने वस्तु-विचार मुख्य है। यह तो अपनी पार्टी बनानेके लिए बोली जाती है कि यह बात हमारे देश-मजहबका नहीं है। अरे, वह पैदा हुआ है कि नहीं हुआ है ? उसे मारो गोली। वह तो हमारे सपनेमें पैदा हुआ और हमें आकर एक बात कह गया। देखना तो यह है कि वह बात सच्ची है कि नहीं ? वह जो पौरुष और बुद्धिका आदर है वैदिक धर्ममें, वह दुनियाके किसी धर्ममें नहीं है। वे पौरुष और बुद्धिका आदर नहीं करते हैं विश्वासका आदर करते हैं। अर्थात् वे अपने मददगारका आदर तो करते हैं लेकिन अपने पौरुष और बुद्धिका आदर नहीं करते हैं। यह न धर्म या योगका स्वरूप है, न भक्ति या ज्ञानका।

**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये।**
**स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादेरिव पण्डितैः॥ ६८॥**

जैसे रोग होनेपर हम स्वयं उसके निवारणका उपाय करते हैं, वैसे बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह स्वयं प्रयत्न करे और पूरी शक्ति लगाकर ! थोड़ी-थोड़ी नहीं। थोड़ी शक्ति लगानेसे काम नहीं बनेगा, पूरी शक्ति लगानी चाहिए।

अब जो प्रश्न किया गया है, उसकी भी प्रशंसा की जानी चाहिए। प्रश्न भी कायदेका होना चाहिए। वेकायदेका नहीं। प्रश्नमें क्या कायदा होता है? प्रायः लोग आकर यह बात करेंगे—'कल सबेरे तुमने क्या किया था, कहाँ गये थे, क्या खाया था? आपके यहाँ कौन-कौन लोग आये थे? अरे बाबा! तुमको क्या रजिस्टर खोलना है? प्रश्न भी तो ऐसा करना चाहिए जो हमारे किसी प्रयोजनको भीतरकी पीड़ा या बाहरी कष्टको मिटानेके लिए, हृदयके आनन्द या बाहरके आनन्दकी प्राप्तिके लिए होना चाहिए।

एक बार मैंने किसी अखबारमें पढ़ा था कि हमारे देशमें इतनी नदियाँ बहती हैं। उनका इतना पानी बेकार बह जाता है। यदि उनके पानीको ठीक-ठीक नियन्त्रित कर लिया जाय तो वह केवल हिन्दुस्तानका नहीं, विदेशोंमें भी पानीकी सिचाईका काम पूरा कर सकता है। इतना पानी है, यहाँकी नदियोंमें। आपके मुँहमें-से शब्दोंके झरने झर रहे हैं। उन्हें यदि आप कायदेमें ले लें तो? बोलते जा रहे हैं, बस-बस! इसमें कितनी शक्तिका अपव्यय हो रहा है। उसे एक आदमी जानता नहीं है। यह तो समझते हैं कि अमुक मन्त्रमें, इस आदमीमें, इस वस्तुमें यह शक्ति है और सम्पूर्ण शक्तियोंको शक्ति देनेवाली जो वाग्देवी हैं—'यह जीभ हिलती है तो कैसे', यह आप जानते हैं? शक्तिसे ही तो हिलती है न? इसमें आपका प्राण है, आपका संकल्प। जिस बातका भेद कि यह सत्य है या असत्य, यह मालूम नहीं है। इससे अपना प्रयोजन सिद्ध होता है कि सामनेवालेका, यह मालूम नहीं है। वैखरीके भीतर मध्यमा है, उसका अपव्यय होता है। उसके भीतर पश्यन्ती है, उसका भी अपव्यय होता है। उसके भी भीतर परावाणी है, वह निःस्पन्द रहती है। उससे शक्ति बढ़ती है। 'बोलिये तो तब, जब बोलिनेकी रीति जानो! बोलना आता हो तो बोलिये।

आपको एक बात सुनाते हैं। आपको अच्छा नहीं लगेगा, हम जानते हैं। 'जीवन्मुक्ति-विवेक'में लिखा है, 'मनुष्यको मालूम नहीं है, कैसा बोलना चाहिए?' यह बताया कि 'यह बात आप पशुओंसे सीखिये।' इस ग्रन्थके मूलमें यह बात है। भेंस तब बोलती है, जब उसका पाँड़ा दूर छूट जाता है। जब वह अपने झुण्डसे दूर पड़ जाती है। गाय तब बोलती है जब उसे कोई तकलीफ होती है। बहुत आवश्यक होनेपर ही पशु बोलते हैं। 'पश्वादिभि अभिशेषात्' भूख लगी हो, कोई बिछुड़ जाय, शरीरमें दर्द हो, तब बोलते हैं। पशुओंमें भी बहुत सारी ऐसी बातें हैं जो हमें सीखनी चाहिए। फूलझड़ीमें जो भरा होता है वह फराफर-फराफर निकलता है और वह बाहर जाकर कुछ काम नहीं करती है।

ऐसे ही प्रश्न करनेमें भी देखना कि यह प्रश्न दबता नहीं है, तब प्रश्न करना चाहिए। काममें लग जाओ और प्रश्न दब जाय तो अभी करनेकी जरूरत नहीं है। अभी प्रश्न आया नहीं, अभी वेदना नहीं आयी। हॉस्पीटलमें जाकर झूठमूठ नहीं सोचना चाहिए कि हमें बच्चा हो। जब प्रसव-वेदना हो, तब हॉस्पीटलमें जाकर खाटपर सोते हैं। प्रश्नकी भी वेदना होती है। यदि 'राम-राम' कहनेसे ही भीतर आपकी वेदना शान्त हो जाती हो, तो एक सत्पुरुषसे बकवाद करवानेकी क्या जरूरत है? आपको चाहिए दूसरा और पूछते हैं दूसरा। है न? आकर प्रश्न किया—'यह आत्मा और ब्रह्म एक कैसे? आध घण्टा बकवाद करवानेके बाद कहा—'हरिकृष्णजीको कहिए, 'हमें अपनी फैक्टरीमें नौकर रख लें। जगह बनवा दें।' हम समझ गये कि यह आधे घण्टेकी बकवाद जो है, वह हमपर प्रभाव जमानेके लिए थी कि हम बहुत अच्छे सत्संगी हैं। वह सिफारिश करवानेके लिए प्रश्नोत्तर था, बातको समझनेके लिए नहीं था।

**यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः।**

तुमने जो प्रश्न किया है, वह सचमुच बहुत बढ़िया है। ईश्वर करे, ऐसा प्रश्न सब जिज्ञासुओंके हृदयमें उदय हो। अतिशयेन वरम् वर नहीं, अतिशय वर-वरीयान्। किसी शब्दका अर्थ पूछा ! यह कोई प्रश्न हुआ ? इसके लिए तो पाठशालामें जाइये। कोश-व्याकरण पढ़िये, पण्डितके पास जाइये। बाबाजीको क्यों परेशान करते हैं ? विद्वानोंको ऐसे प्रश्न नहीं करने चाहिए कि 'महाराज ! एकादशी कब है ? प्रदोष कब है ?' यह बतानेका क्या काम है ? 'वरवधूमें नाड़ी बैठी कि नहीं और ग्रहमैत्री हुई कि नहीं' यह बतानेका क्या हमारा काम है ? सीखना है क-ख-ग-घ और बाल कि हम आइन्स्टाइनसे सीखेंगे !

ईश्वरकी कृपासे जबतक हृदयमें सच्चा प्रश्न उदय हो,—'शास्त्रविन्मतः'—यह निश्चय ही इसपर भागवतकी छाप मालूम पड़ती है।

**वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।**
**तत्त्ववित्सम्मतः पुसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥**

(२·१·१)

इसमें योगवासिष्ठकी भी बहुत छाया है, त्रिपुरारहस्यकी भी छाया है। इसका जो फलितार्थं निकलता है वह अभी नहीं सुनाते हैं। प्रश्न तो ऐसा होना चाहिए। आपको एक प्रश्न सुनाते हैं। एक पण्डितने प्रश्न किया, 'जब तुम कहते हो कि जीव-ईश्वर एक है,—जीवमें तो बड़े-बड़े दोष हैं, वह कामी-क्रोधी-लोभी-मोही-विकारी है। जब वह ईश्वरसे एक हो जायगा तो उसके तो सारे दोष चले जायेंगे। तो ईश्वर भी दोषी हो जायगा ? तो आप ऐसे दोषी जीवको ईश्वरसे एक करनेका प्रयत्न क्यों करते हैं ?'

ध्यानमें आगया प्रश्न ? उसका उत्तर तो आपकी समझमें

आगया होगा। ईश्वर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, अद्वितीय है। तुम बेफिकर दोनोंको एकमें मिलने दो! जो बलवान् होगा वह रह जायगा, कमजोर होगा वह मिट जायगा। तो ईश्वरके गुण बलवान् हैं कि जीवके दोष? अरे! ईश्वरके सद्गुण बलवान् हैं।

पण्डितोंने पण्डितोंकी सभामें प्रश्न भी सुना, उत्तर भी। सुनकर वे बोले—'वाह वाह! जिस कक्षाका प्रश्न है, उसी कक्षाका उत्तर है। 'प्रश्नः वरीयान्'–वर विषयक होनेसे वरीयान्। बड़े आदमीसे पूछनेसे प्रश्न बड़ा नहीं, छोटा आदमी भी बड़ा प्रश्न पूछ सकता है। बड़े आदमीके बारेमें प्रश्न होनेसे वह वरीयान् नहीं होता! एक उत्तर वस्तुके सम्बन्धमें, जिससे अज्ञात वस्तुके बारेमें ज्ञान प्राप्त होवे, ऐसे ज्ञानको उत्तेजन देनेके लिए प्रश्न हुआ! श्रेष्ठ है।

**यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः।**
**सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः॥ ६९॥**

एक बात यह भी देखिए, प्रश्नका विस्तार इतना नहीं कर देना चाहिए कि वह एक पुराण बन जाय। प्रश्न होना चाहिए छोटा। यह नहीं कि आज हमें प्रश्न करनेका मौका मिला है तो एक व्याख्यान ही झाड़ दें। प्रश्नका विस्तार करना उत्तर देनेवाला ठीक नहीं समझ पायेगा। इसलिए हम अपनी पूरी बातको समझा दें। आध-घण्टेमें तुम प्रश्न बोलोगे तो उत्तर देनेवाला कितनी देरमें उत्तर देगा, यह भी तो खयाल करो न! सूत्रप्रायः–माने प्रश्न कैसा होना चाहिए? सूत्रके समान। थोड़ेसे अक्षरोंमें। अपनी बात उस ढंगसे नहीं करनी चाहिए कि उसमें सफाई न आवे।

सचमुच, वह प्रश्न इतना गहरा है कि बिना समाधानके हमें तकलीफ दे रहा है। परीक्षाके लिए प्रश्न न पूछना कि एकको

पूछा और उन्होंने यह उत्तर दिया। सोचा तो यह उत्तर मिला और अब आओ, इनसे भी पूछ लें। अपनी हाँ-में-हाँ मिलानेके लिए प्रश्न नहीं करना चाहिए।

एक सज्जनने महात्माको कहा—'महाराज! आपसे हमें एकान्तमें बात करनी है।'

महात्मा बोले—'यदि तेरा प्रश्न अच्छा है और तेरे मनमें मेरा उत्तर भी अच्छा है तो एकान्तमें पूछनेकी क्या जरूरत है? सबके सामने पूछ ले।'

उसने कहा—'नहीं महाराज।'

महात्मा—'तब कोई गड़बड़की बात होगी। तुमने कुछ गड़बड़ की होगी और हमसे उसका समाधान पाओगे! हमारे पास तो छिपानेकी कोई बात नहीं है, तुम्हारे पास कुछ छिपानेकी बात होगी। हमारा अपमान न हो जाय, लोग हमें बेवकूफ न समझें या कोई गलत काम किया होगा, उसका समाधान चाहते होंगे। क्या करना है?'

'सूत्रप्रायः'—घरेलू समस्याएँ होती हैं वे सब लोगोंको बताने लायक नहीं होतीं। महात्मासे पूछना है तो भक्ति, उपासना, मन्त्र, इष्टदेवकी रूपरेखा, ध्यानकी पद्धति पूछनी है तो जीवनमें वह केवल एक बार पूछना होता है, दो बार नहीं। 'अब हमें इष्ट-देवने मना कर दिया? क्यों आगे बढ़ना चाहते हो? इष्टदेवके आगे भी कुछ है?'

प्रश्नकी भी रीति होती है। आदमीके मनमें बहुत कुछ भरा हुआ होता है। प्रश्न उसके मनके कूड़ेको प्रकट करता है। सूत्रप्राय प्रश्न करना चाहिए। अपनी बातकी जिद्द नहीं करनी चाहिए। समझनेकी कोशिश करनी चाहिए। यदि तुम्हें अपनी ही बात सिद्ध करनी थी, तो किसीसे पूछनेकी जरूरत क्या थी? अड़ना नहीं

चाहिए। सामनेवाला जो कहे उसे समझना चाहिए। कोई बात समझमें न आवे तो यह बताना चाहिए कि हमारी समझमें यह बात नहीं आयी। निगूढ़ार्थ—उस वस्तुके बारेमें—यह पूछनेकी जरूरत नहीं है कि 'महाराज ! यह घड़ी आपको किसने दी ? कब दी ? कितनेमें खरीदी ?' घड़ी तो आपको दिख रही है न ? तो देख लो आप घड़ी ! पूछते काहेको हो ?

ऐसे भी पूछेंगे कोई-कोई कि 'महाराज ! यह घड़ी ताँबे-पीतल-की है या सोने-चाँदीकी ?' आप उठाकर देख लीजिये, क्या चोज है ? ऐसी वस्तुको पूछना चाहिए जो आपको मालूम नहीं है या मालूम नहीं पड़ रही है और जाननेकी जरूरत है। आपका प्रश्न बहुत बढ़िया है।

आपको दुःखका बन्धन है ! क्यों बन्धन है ? हम नहीं चाहते हैं कि हमारे जीवनमें दुःख हो और वह आता है तो हम उसे भोगनेके लिए मजबूर हो जाते हैं। अब यदि भोगनेमें मजा आवे तो वह भी बन्धन नहीं है। अपने प्रियतमके भुजपाशका बन्धन बन्धन नहीं है, वह तो मजेदार है। बन्धन तब होता है जब बन्धन-से बँध जानेपर मजा न आता हो। आवे तो बन्धन नहीं, स्वाद ले रहे हैं। वह तो प्रेम हो गया।

प्रेमका एक लक्षण है—मधुरम् वैवश्यं प्रेम। जहाँ विवश होना भी मीठा लगे, जिसके पराधीन होनेमें भी मजा आवे। यदि गुरुकी पराधीनतामें कटुता है और महबूबाकी पराधीनतामें मजा है तो वह बन्धन नहीं है। बँधे रहिये। करोड़ कल्पतक मुक्तिका तिरस्कार कीजिये कि हमें नहीं चाहिए मुक्ति हम तो अपने महबूबाके बन्धनमें रहेंगे। तो बन्धन माने जहाँ बन्धन सच-मुचमें बन्धन लगे; जहाँ दुःख मीठा लगे, वहाँ बन्धन नहीं है। वह तो संसारी है। उसे भटकने दो, लटकने दो संसारमें।

जड़ता—दूसरा बन्धन है जड़ता। संसारकी जो जड़ वस्तुएँ हैं, उनके साथ हमने अपनेको बाँध दिया है। दुनियाकी कोई भी जड़ वस्तु आपको नहीं बाँध सकती। आप अपने आपको बाँधते हैं। एक जिज्ञासु गया महात्माजी—गुरुजीके पास। उनको कहा—'महाराज, मैं संसारमें बँधा हुआ हूँ। आप मुझे छुड़ाइये। संसारने मुझे बाँध लिया।'

गुरुजी तो हँसते रहे—थोड़ी देर। फिर बोले—'चलो, घूमने चलें।' उसके प्रश्नका जवाब नहीं दिया। वे घूमने गये। जंगलमें एक पेड़को जोरसे अपने हाथसे पकड़कर गुरुजी चिल्लाये—'दौड़ो रे दौड़ो! छुड़ाओ रे छुड़ाओ। पेड़ने हमको बाँध लिया है।'

वह जिज्ञासु पूछने लगा—'महाराज! पेड़ने आपको कहाँ बाँधा है? आपने तो पेड़को पकड़ रखा है। जड़ तो चेतनको नहीं बाँधता, आप स्वयं जड़के साथ बँधते हैं।'

वह महात्मा बोले—'नहीं, नहीं पेड़ने हमको बाँधा है। छुड़ाओ छुड़ाओ।'

वह साधारण सत्संगी! घबड़ा गया बेचारा! यह देख महात्माने समझाया—'देखो, तुमको भी संसारने नहीं बाँधा है, जैसे पेड़ने हमको नहीं बाँधा है। जैसे हम पेड़के साथ बँध गये हैं, वैसे तुम भी संसारके साथ बँध गये हो! अरे, यह तो छूटता ही नहीं! तो क्या करें छोड़ना उसका धर्म है, उसका कर्तव्य है? तुम्हारा नहीं? क्या समझदारी है। जड़ताका बन्धन!'

'महाराज! संसार से मुमुक्षा कैसी होनी चाहिए?' मुमुक्षा माने मोक्षकी इच्छा। महात्मा तुम्हारे नौकर, ट्यूटर थोड़े ही हैं कि तुमने पूछा और उसने जवाब दे दिया। अरे, जब उसका मन होगा बात करनेका—जवाब देनेका, तब तुमसे बात करेगा, नहीं तो नहीं करेगा। तुमसे सहन नहीं होता है तो जाओ! ईश्वरकी कृपा!

किसीने पूछा—'महाराज ! दुनियाके बन्धनसे छूटनेकी कैसी इच्छा होनी चाहिए ?' इच्छा कोई पत्थर या प्लास्टिकका खिलौना थोड़े ही है कि लाकर दिखा दे ! महाराज गये स्नान करने तो गुरु, चेला दोनों पानीमें उतरे। चेलाने पानीमें डुबकी लगायी तो गुरुजी उसपर चढ़ बैठे। आध मिनट, एक मिनट ! कबतक चेलाजी सांसको रोक रखें ? तब लगाया जोर और चेलाजी बाहर निकले और बोले—'कैसे हैं गुरुजी आप। हमको तो मार ही डाला था आपने ! अरे, कैसे गुरु हैं ? राम राम !'

गुरुजी बोले—'जिस समय तुम पानीमें थे और मैंने तुम्हें रोक रखा था, तब जैसी इच्छा तुम्हारे मनमें पानीमें-से बाहर निकलनेकी थी, वैसे ही संसारके बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा होनी चाहिए ?'

'नहीं महाराज ! ऐसी इच्छा तो नहीं है।'

'ऐसी मुमुक्षा होनी चाहिए।'

तीसरा बन्धन जो हम मजबूर होकर दुःख सह रहे हैं, दुःख दुःख नहीं मालूम पड़ता। दुःखका मालूम न पड़ना बड़ा भारी बन्धन है। फँसे हुए हैं तो छूटनेका क्या प्रश्न है ? जड़ताका बन्धन है।

चौथे—एक होता है अभावका बन्धन। कई लोग सोचते हैं कि जब मालूम ही नहीं पड़ रहा है, तो क्या बन्धन है ? इन लोगोंके लिए तो। ईश्वरकृपासे ऐसे-ऐसे इन्जेक्शन निकल रहे हैं कि जब आप चाहें, दवा सूँघकर, पीकर, खाकर या इन्जेक्शन लगवा लोगे तो दुनियाका भान ही न रहेगा। तो क्या तुम हमेशाके लिए अभान-अवस्थामें जाना चाहते हो ? हाँ, तो तुम मरना चाहते हो ! जब फिर भान होगा तब दुःख होगा ही होगा।

जिन लोगोंका ऐसा खयाल है, हमने सुना था कि जब किसी

चिड़ियापर शिकारी झपटता है, वह चिड़िया बालूमें अपना सिर गड़ा देती है। वह सोचती है, जब मैं शिकारीको देखूँगी ही नहीं, और आँख बन्द कर लूँगी, तो शिकारीको कैसे मालूम पड़ेगा? शिकारीको तो वही मौका रहता है।

जो लोग अभानके द्वारा संसारके बन्धनको काटना चाहते हैं, जो दुःखमें सुख ले रहे हैं, वे तो घोर संसारी हैं। वे दुःखको दुःख ही नहीं समझते। जो समझते हैं कि अमुक जड़ वस्तुके बिना हमारा काम नहीं चलेगा, वह भी बन्धन है, रिश्तेदार-नातेदार कौन किसके साथ जायगा? जो लोग अभानको दुःखकी निवृत्तिका साधन मानते हैं, और बोलते हैं कि अब हम तो आँख बन्द करके सोते हैं और तुम हमारी देखभाल करते रहना। कबतक दूसरा देखभाल करता रहेगा? यह पराधीन होना है। 'हम तो अपनी दवा खाकर बेहोश हो ज़ाते हैं। जो होना होय सो हो जाय। हम तो गुफामें घुस जाते हैं।' ऐसे बन्धनकी निवृत्ति नहीं होती।

हम होश-हवासमें रहें। हमारे आत्मामें दुनियाका कोई बन्धन नहीं है। बन्धनका एक और अर्थ है। वह फकीरी अर्थ है। बन्धन माने बन्धु और धन। दोनोंको एकमें मिला दिया तो क्या हो गया? बन्धन। 'हमारी यह चीज है, हमारा यह बन्धु है।' मुमुक्षा कैसी होनी चाहिए?

**श्रृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीयते।**
**तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे॥ ७०॥**

समझदार, भलेमानुष, विद्वन्! विद्वान्में नित्य होनेकी योग्यता है। अपने अनुभवकी नित्यताकी योग्यता जिसमें है, वह विद्वान् है। एक विद्यतेके अर्थमें विद्यमान बोलते हैं। जिसमें विचारकी योग्यता है, उसका नाम विद्वान्। जिसमें ज्ञानकी योग्यता है, उसका नाम विद्वान्। जिसमें उपलब्धिकी योग्यता

है, उसका नाम विद्वान्। विद्वान् माने किताबोंका भार अपने मूड़-पर लादकर चलनेवालेका नाम विद्वान् नहीं होता। जिसके दिमागमें-से किताबें निकलकर बाहर छप जाती हैं, किताबोंके बोझदार का नाम विद्वान् नहीं होता। कहते हैं न कि ढोलक बजाना पड़ता है, सरोद बजाना पड़ता है। सरोवरके पानीसे छेड़छाड़ करेंगे, तब न वह तरंगायित होगा। जो अपने अनन्त ज्ञानके सागरमें निस्तरंग बैठा हुआ है, उसमें छेड़छाड़ कीजिए।

**तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥**

ऐसी बात आपको सुनाने जा रहा हूँ कि जिसको सुननेसे, 'सद्य' अर्थात् यह नहीं कि आज सुनोगे और कल मिलेगा। यह उधार सौदा नहीं है। यह बात ही ऐसी है कि इसमें साधारण लोग तो समझते ही नहीं। न विश्वास होता है उनको इस बातपर न समझनेको कोशिश करते हैं। यदि कोई दूसरी चीज खो गयी हो तो बतानेके बाद तुरन्त नहीं मिलती है उसको देखना, उठाना, पहचानना पड़ता है कि यही चीज वह है कि नहीं? उसे अपनाना पड़ता है, यदि दूसरो चीज खोयी हो तो और-यदि बात अपने ही बारेमें हो, कि 'मैं क्या हूँ' तो अपने आपको जाननेके बाद क्या करना पड़ेगा? हम जानें कि हमारे पड़ोसी पुरुष बहुत सज्जन हैं तो पहले उनकी जानकारी प्राप्त की, उनके पास गये, सत्संग किया, उनसे लाभ उठाया।

जब यह बात कही जायगी कि तुम ऐसे हो, यह हो तो उसमें किसके पास जाना पड़ेगा? किसका सत्संग करना पड़ेगा? यह 'स्व' के और 'अन्य' के ज्ञानमें जो अन्तर होता है, उसे बाजारका आदमी पकड़ नहीं सकता। इस विषयमें दार्शनिकोंका कहना है—कण्ठचामीकरवत्। एक आदमीने गलेमें हार पहन रखा था परन्तु उसका ध्यान नहीं था। वह खोजने लगा कि 'मेरा हार कहाँ है?'

उसने ड्रॉअर, तिजोरी, सन्दूक सब जगह देखा कि हमारा हार कहाँ गया। उसको हार कैसे मिलेगा? वह कौन-सा जप-तप-होम करावे तो उसे हार मिलेगा? क्या ध्यान करनेसे हार मिलेगा! अरे, उसको तो बतावेंगे कि देख, हार तो तेरे गलेमें है!'

यह ब्रह्मविद्या-आत्मविद्या मजदूरीका अंग नहीं है। होम करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, भस्त्रिका करेंगे तो समाधि लगेगी! कुएँमें भाँग पड़ गयी है। हमारे कर्तव्यका फल हमारी चित्तवृत्तिका निर्माण है कि नहीं? यदि हम धर्म, योग, उपासना करते हैं तो हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि होनी चाहिए। हम तो हमारी साधना-का फल पञ्चभूतमें डाल देना चाहते हैं, अन्तःकरणमें नहीं लाना चाहते हैं।

समाधि लगानेसे स्वास्थ्य बहुत बढ़िया रहता है। हमें मालूम है कि बुखार ठीक हो जाता है। बात यह है कि लोग बुखार उतारना, केन्सर, टी० बी० से बचना चाहते हैं, तो आओ, एक दुकान इसकी भी खोल दें। नहीं, माँग देखकर, लोगोंकी जरूरत देखकर—ऐसे नहीं। अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए, अपनी ही ओर देखकर चलो। यह विद्या अपनी है। दूसरेको पाना है तो चलना पड़ेगा, करना पड़ेगा, सोचना पड़ेगा। अपने आपको किसी-ने बताया? 'खट्'! एक स्विच दबानेमें कठिनाई है, अपनेको जाननेमें कठिनाई नहीं है।

'तदेतत् श्रवणात् सद्यः' अर्थात् सत्यश्रवण-समकाल—सुनते ही। क्या होता है? 'भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे'। इस संसारके जितने बन्धन हैं उनसे तुम मुक्त हो जाओगे?

•

## : २७ :

३०–६–७५

मेरे विद्वान् सज्जन ! सावधान ! सावधान !! मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो। जैसे कोई चीज पीते हैं तो प्यालेमें-से एक बूँद भी छलक न जाय। लोग हमारे पीनेके लिए काफी ले आते हैं, उनकी एकाग्रता देखते ही बनती है। धरतीपर कैसे उनका पाँव पड़ता है और कपपर उनकी दृष्टि कैसे जमी रहती है। तो ऐसे ही, कानके प्यालेसे अमृतका बूँद पीना है। एक बूँद भी छूट न जाय, सावधान, सावधान !!

'श्रृणुष्वावहितः' दूसरी बात यह कही कि इसके श्रवणसे तत्काल सद्यः अर्थात् आपको कलका बासी मक्खन नहीं मिलेगा। जो सत्ययुगमें समुद्र-मन्थन करके अमृत मिला था, वह आपको नहीं मिलेगा। तो ? सद्यः बिलकुल ताजा-ताजा। श्रवणामृत। जो कभी किसीका जूठा ही नहीं होता, वह पीजिए। आपको मालूम होना चाहिए कि इन्हीं इन्द्रियोंसे दिखनेवाली संसारकी जो चीजें होती हैं, उनको हम नाकसे सूँघकर, जीभसे चखकर पहचान सकते हैं। आँखसे देखकर त्वचासे स्पर्श करके, कानसे सुनकर हम उनको पहचान सकते हैं। परन्तु जो चीज इन्द्रियोंसे बाहर अनुभव करके

पहचानमें नहीं आती, उस चीजका ज्ञान या ध्यान, उनका अनुभव या भावना दोनों बिलकुल पक्का बिना वाक्य-प्रमाणके आप जान ही नहीं सकते।

अपने हृदयपटलपर इस बातको अंकित कर लीजिये। यदि आप कोई ध्यान करना चाहते हैं तो पहले कभी सुना होगा, वाक्य-श्रवण किया होगा यदि उसे आप जानते हैं तो किसीने बताया होगा। केवल बाह्य वस्तुओंका ही इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है। इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष भी इन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। मनका प्रत्यक्ष भी इन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। अपनी आँखसे आंख नहीं दिखती है, नाकसे नाक नहीं सूंघी जा सकती। जो आँखका आँख, नाकका नाक, कानका कान, मनका मन है, उसको इन्द्रियोंके द्वारा कैसे जानोगे? इसलिए जो अनुभवी जानकार पुरुष हैं, उनकी बात सुननी पड़ेगी।

बिना वाक्यश्रवणके इन्द्रियातीत वस्तुका अनुभव नहीं हो सकेगा, ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। यह हुआ श्रवणकी महिमाका संक्षेपमें प्रतिपादन। सूत्र समझो कि बिना वाक्यके आप इसको हृदयंगम नहीं कर सकते। तो श्रवणका मतलब कानसे श्रवण नहीं है। हमारी भाषा पहचानो। भाषा स्वयंमें कुछ नहीं होती। एकके हृदयके अनुभवको दूसरेके हृदयमें पहुँचानेका माध्यम है भाषा। हमारे हृदयकी जो अनुभूति है, उसे हम बोलकर दूसरेतक पहुँचाना चाहते हैं। हमारे अनुभवका रस खींचकर इंजेक्शनके द्वारा आपके दिलमें पहुँचाया जाय? यह नहीं हो सकता। उसका इंजेक्शन तो शब्दकी सूईपर चढ़कर ही लग सकता है।

इस बातको शास्त्रीय भाषामें भी बोलते हैं। क्या? कि नित्य परोक्ष वस्तु—जैसे स्वर्ग, बैकुण्ठ, गोलोक—ये वाक्यके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे न जाने जा सकते हैं न माने जा सकते हैं। माने

नित्य अपरोक्ष, किन्तु अज्ञात। अपना स्वरूप ही हो, किन्तु नित्य अपरोक्ष हो फिर भी पहचाना हुआ न हो तो वह भी वाक्यप्रमाण-के सिवा दूसरी तरहसे नहीं जाना जा सकता। इसका निष्कर्ष क्या निकला?

यदि आप परमात्माके बारेमें कुछ भी जानना चाहते हैं, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, आत्मा-परमात्मा तो केवल श्रवण-के द्वारा ही जान सकते हैं। और कोई उपाय नहीं है। यह वेदान्त-सम्प्रदायकी स्थापना कर रहे हैं।

एकान्तमें भी ज्ञान हो सकता है? एकान्तमें ध्यानमें बैठे और ब्रह्म फूटकर अनुभवमें आगया? नहीं, जो ब्रह्म कोशिश-हरकत करके हमारे हृदयमें आगया है, वह तो ब्रह्म ही नहीं है। वह तो विकारी है। वह तो निर्विकार, निराकार, निर्धर्मक, निस्पन्द जो वस्तु है, उसपर जो अज्ञानका-भ्रमका पर्दा मालूम पड़ता है, उसको हटानेके लिए है।

सगुण ब्रह्ममें अज्ञात-ज्ञापक होनेसे प्रमाण प्रमाण होता है। जो चीज मालूम नहीं है, दूसरी किसी इन्द्रियसे, वह चीज मालूम करानेवाला होनेसे प्रमाण प्रमाण होता है। और निर्गुण वेदान्त अज्ञान-निवर्तक होनेसे प्रमाण प्रमाण होता है। अज्ञात-ज्ञापक होनेसे नहीं। यह कानूनी भाषा है। निर्गुण--सिद्धान्तोंमें केवल पर्देको फाड़ देना—इतना ही वाक्य-प्रमाणका काम होता है।

सगुण-सिद्धान्तमें निर्गुण वस्तुको प्रमेय कर देना—उस वस्तुको साक्षीभास्य कर देना, यह प्रमाणका काम है। यह दोनोंका अलगाव है। आओ, एक और बात सुना दें लगे हाथ अर्थात् प्रासंगिक रूपसे। पानी पीनेके लिए रुकते हैं तो कुछ खा भी लीजिए जिससे दुबारा न रुकना पड़े। दूसरी बात यह है कि लोक-में जो अनुभवी पुरुष माने जाते हैं, उनके उपदेशमें पार्थक्य देखनेमें

आता है। पार्थक्य माने अलगाव, difference। एक व्यक्ति कुछ कहता है तो दूसरा कुछ और कहता है एवं तीसरा पुनः कुछ और कहता है।

इसमें जो अपौरुषेय संविधान है अर्थात् पुरुषका बनाया हुआ और उपजाया हुआ ज्ञान नहीं है कि जिस ज्ञानसे पुरुष सिद्ध होता है। ऐसा जो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है, उसके अनुरूप जो ज्ञान है— दार्शनिकोंका शब्द सुना दूँ ? 'ज्ञानाजन्य ज्ञान'। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ऐसा स्वतः सिद्ध ज्ञान। जो आदमीके द्वारा नहीं बनाया गया है। आदमीके द्वारा ज्ञान बनाया हुआ होता तो क्या होता ? उसमें प्रतिवर्ष दो-तीन बार संशोधन करना पड़ता। जो संविधान-कानून बनाते हैं, उनमें जड़ता आ जाती है, यदि उनमें संशोधन न किया जाय! उसे बदला न जाय तो वह कालमें पीछे छूट जाता है। भौगोलिक दृष्टिमें वह सीमित देशमें रह जानेसे उसमें जड़ता आ जाती है, कारण वह देश-काल एवं समाजके अनुरूप नहीं होता। मनुष्यका बनाया हुआ जो संविधान है, वह संशोधनकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि वह सविशेष होता है।

अपौरुषेय ज्ञान परिस्थितिसे प्रभावित होकर नहीं बनाया जाता, इसलिए उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव— उसमें खुदकी भूल नहीं होती। यह नहीं कह सकते कि हमारी इन्द्रियने नहीं देखा, ठगीकी इसमें गुन्जाइश नहीं, प्रमाद नहीं होता। इसलिए आओ, अनुभवी पुरुषके उपदेशमें भी जो भेद होता है, उसमें भी दो नम्बर होता है जहाँ उपदेशक-उपदेश और उपदेश्य एक नहीं है।

**सूरत बिरहुलिया छाई निज देश।**
**जहाँ न सूरत, जहाँ न मूरत, पूरन नींद है॥ सूरत०॥**

जिसके हृदयमें विरहकी व्याकुलता होती है, वह उस देशमें पहुँच जाता 'भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे'—इसको स्पष्ट अनुभव करो कि क्या है ? असलमें जो इन्द्रियका विषय है, इन्द्रियके द्वारा जिनका अनुभव होता है, प्रपञ्चमें वही बन्धनके हेतु हैं। हम उन्हींके साथ बँधते हैं। जो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द नहीं है, जो अपने मनका भाव नहीं है, जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, उसमें बन्धन कहाँ है ? वाक्य-प्रमाण उस वस्तुको लखाता है। तद्विषय ज्ञान-ध्यान, अनुभव; भावना उत्पन्न करता है। वह इन्द्रियोंके द्वारा प्रपञ्चमें अनुभव नहीं होता, वहाँ ले जाकर पहुँचा देता है !

प्रपञ्चका बन्धन है ? एक महात्माने बताया, वे एक काशी-देवीमठमें गये थे। वे बड़े चमत्कारी थे। कोई-कोई माटी बड़ी चमकदार होती है। वैसे कोई कोई देवी भी बड़ी चमकदार होती हैं। वे मुझसे बोले—'पण्डितजी ! तुम्हें संसारमें कोई काम करना, हो, तो जाओ, करके आओ ! रही बात संसारसे छुड़ानेकी। तो वह तो हम चुटकी बजा के छुड़वा देंगे।'

सद्यः का अर्थ देखो। यदि आप इस वाक्यजन्य ज्ञानको संशय-विपर्ययसे रहित होकर कि 'मैं शान्त हूँ, समाधिस्थ हूँ, विक्षिप्त हूँ, प्रेमका मारा व्याकुल हूँ'—यह विपर्यय है। विक्षेप रजोगुण है, शान्ति सत्त्तगुण है और 'मैं देह हूँ' यह तमोगुण है। श्रवण कीजिये। श्रवण माने सुनना नहीं। श्रवण माने निश्चय। यह वेदान्तियोंका टेकनिकल माने पारिभाषिक शब्द है। हमारा सुनाना कानसे नहीं है। क्या हम ऊँट-गधेको 'तत्त्वमसि' 'तत्त्वमसि' सुनाते हैं ? नहीं भाई ! ऊँट-गधेको 'तत्त्वमसि' सुनायेंगे तो उन्हें तत्त्वज्ञान न होगा। जिनमें सुननेकी योग्यता है, उनके सुननेसे तत्त्वज्ञान होगा। तो आओ, सोचें कि मोक्ष कैसे हो ?

एक बात तो यह है कि जो जिससे ऊबा हुआ होता है, वह

उससे मोक्षका स्वागत करता है। अच्छा है! हमारे पास एक सज्जन आते थे। आकर बैठ जाते, पर उठनेका नाम न ले। बिलकुल आमने-सामने हों! तबियत ऊब जाय। पचीस वर्ष पूर्व-की यह बात है। हमको उनकी कमजोरी मालूम थी। जहाँ हाथमें अखबार लिया, बोलते थे, 'अब संसार आ गया! मैं जाता हुँ!' वे हाथ जोड़कर चले जाते थे। हमें मालूम था, वे कैसे जाते थे। वे जब चले जाते थे, तब भले हम रेडियो बन्द कर दें, अखबार न पढ़ें, लेकिन उनसे तबियत ऊबी रहती थी न! तो यह देखना है कि संसारके बन्धनसे आप उद्विग्न हैं कि नहीं? बन्धनमें आप स्वाद तो नहीं लेते हैं न! पोटली बाँधकर-नोटोंके बण्डल चिपका-चिपकाकर स्वाद देते हैं! जिसको जनेऊ बाँधनेका स्वाद है, चोटी बाँधनेका स्वाद है, वह आखिरी बात है, उसे आप लोग शुरू-शुरूकी मत मान लेना। जिसको बँधनेमें—भुजपाशके बन्धनसे लेकर और मनमें किसीके साथ बँधनेतककी बात है? और वह उससे बँध जाता है। आप भुजपाशका बन्धन, नोटका बन्धन बन्द किवाड़ीमें रहनेका बन्धन जानते हैं। स्थितिका बन्धन कि हमारी समाधि लगे—लग गयो समाधि—मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते।

**वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु। ( ७१ पूर्वार्ध )**

यह मोक्षका पहला हेतु है। मोक्ष माने अविद्या-ग्रन्थिके विमोकसे—निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका स्वरूप। मोक्ष माने दूसरा कोई नहीं, आत्मा। आप सोचेंगे तो मालूम पड़ेगा कि मोक्ष यदि दूसरा होगा तो बिछुड़ जायगा। पैदा होगा तो मर जायगा। जो जुड़ता है वह बिछुड़ता है। जो पैदा होता है वह मरता है, यह नियम है। यदि मोक्ष अपना आत्मा ही होगा तो परम पुरु-

षार्थ होगा। अपने आत्माका एक नाम मोक्ष है। शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपना आत्मा इसका प्रथम कारण है।

'प्रथम' शब्दके संस्कृतमें दो अर्थ हैं—पहला और श्रेष्ठ। यह श्रेष्ठ पुरुष है। विद्वानोंमें प्रथम कौन है ? जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ है। तो मोक्षका पहला हेतु-कारण कौन है ? रागके पीछे तुम घसीटे जा रहे हो। आप गन्दा न समझें तो आपको एक बात सुनाऊँ। यहीं एक जवान आता था। तीस वर्ष पहले यहाँ मैं जब 'सिघानिया वाडी' में कथा करता था। साधक लोग अपने मनकी सारी बातें बता देते हैं। कुछ छिपाते नहीं। उसने कहा—'मैंने आज एक स्त्री देखी। वह बहुत सुन्दर वस्त्राभूषण पहने थी और घूँघट काढ़े जा रही थी। उसकी चाल-ढाल, कपड़ा-लत्ता देखकर मेरा मन उसपर मुग्ध हो गया। उसने बहुत ईमानदारीसे बताया, इसकी हम तारीफ़ करते हैं।

उसने बताया—'मैं उसके पीछे-पीछे मील-डेढ़-मील-पर्यन्त चला। वह भी समझ गयी थी कि 'यह आदमी मेरे पीछे पीछे आ रहा है।' तो भी वह कुछ बोली नहीं। जब वह अपने घरमें गयी तब उसने दरवाजेपर खड़े होकर मेरी ओर मुँह कर दिया, घूँघट खोल दिया और बोली, 'आइये, आपको तकलीफ हुई। चाय पीकर जाइये।' वह तो एकदम काली-कलूटी थी। मुँहपर चेचकके दाग थे।' देखिए कि उसे वहाँ कौन घसीटकर ले गया ? बताओ ! काम ले गया न ? वह स्त्री तो नहीं ले गयी थी न ?

एक आदमीको देखा, वह श्मशानमें जाता था, मुर्देपर बैठता था। क्यों ? उसे पूछा गया तो वह बोला—'हमारा दुश्मन मर जाय इसके लिए अनुष्ठान कर रहा हूँ। क्या श्मशानमें उसे उसका दुश्मन ले जाता था ? मुर्दा ले जाता था ? उनके मनमें जो दुश्मनी थी वही ले जाती थी ? उनके कलेजेसे दोस्ती बांधकर दुश्मनी

ले जाती थी। मनुष्य मुहब्बतको, कामनाको अपने कलेजेसे बाँधता है तब वही उसे गन्दी जगह ले जाती है। आपका बन्धन कहाँ है ?

सृष्टिमें दुःख कहीं नहीं है हमने ढूँढा है। सृष्टिमें हम जिसको दुःख समझते हैं, दूसरा आदमी उसे दुःख नहीं समझता। उसके लिए वह सुख भी हो सकता है। दुनियामें दुःख क्या है ? मनकी कमजोरी। अर्थात् मौतका डर। मौत दुःख नहीं है, उसका डर दुःख है। मौत तो कभी किसीने देखी ही नहीं है। वह कभी अनुभवमें आती ही नहीं। यदि मौत अनुभवमें आ जाय तो जिसके अनुभवमें मौत आ जाय, उसकी मौत नहीं हुई। वह तो अमर है।

नचिकेताको मृत्युका—यमका दर्शन हो गया। वह अमर हो गया। मृत्युका दर्शन तो अमरता है अमरता। अतः मौत होती नहीं, मौतका डर होता है। उसका डर ही मौत है। किसीसे नफरत-दुश्मनी करके उसमें जलते रहना दुःख है। किसीकी मुहब्बतमें पागल होकर छटपटाना मौत है। जहाँ यह अभिमान मान-अहंकार जुड़ता है, कि यह दुःख है, वह तो नासमझी है। नासमझी माने किसीकी भलाईको हम नहीं समझ पाते। यही दुःख है।

असलमें मोक्ष होनेका उपाय क्या है ? पहली बात यह है कि दुनिया दिखती है तो दिखने दो। अपनी आँख फोड़ लेना, कानमें ठेपी लगाना, मुक्ति नहीं है। आप लोगोंने यह साधना कभी देखी हो या न देखी हो, हमने पहले-पहल देखी मध्यप्रदेशके जंगलोंमें, आदिवासियोंके क्षेत्रमें। बहुत करके हमारी पहली संन्यास-जयन्ती वहीं मनायी गयी। भैरवघाटीके ठाकुर साहब थे। चौदह मीलके विस्तारमें सब आदिवासी लोग आये। ऐसे अजीब थे वे लोग ! जीभ बाहर निकली हुई थी और उसमें सूया गड़ा हुआ था। वे

बोलते ही नहीं हैं। सिद्धि हो गयी ऐसा मानते हैं। सूया निकालते तो कोई तकलीफ न होती थी। वैसे ही गालमें सूया मारके छेद कर लेते। इसका नाम सिद्धि नहीं है। असलमें अभिमान, नासमझी, मुहब्बत, दुश्मनी, डर आदिका नाम दुःख है। आप आँख फोड़कर, जीभमें सूया गड़ाकर, कानमें ठेपी मारकर सुखी नहीं हो सकते। दुनिया ज्यों-की-त्यों रहे और आपके हृदयमें राग-द्वेष न रहे। जा रे जा !

जैन धर्ममें बोलते हैं, 'समत्व' ! करोड़ कल्पतक तपस्या करो और एक क्षणके लिए समता धारण करो तो करोड़ कल्पकी तपस्यासे एक क्षणकी समता श्रेष्ठ है। वैराग्य माने क्या ? हमारे मित्र लोग क्या करते हैं ? जिन दिनों उन्हें वैराग्यका जोश आता है, आहा ! बस, बस ! फिर पन्द्रह दिन-महीनेमें शरीर माँगेगा, तो बदल जायगी बात ! आज किसीको घड़ी, किसीको रेडियो, किसीको पैसे बाँट दो। फिर होगा कि इनके बिना तो चलता नहीं। और फिर किसीसे मागेंगे कि 'हमें रेडियो, घड़ी, कपड़ालत्ता दो !' ऐसे फेंकने-समेटनेसे कुछ काम नहीं चलता।

**रागोपहतिर्ध्यानम्**—सांख्यशास्त्रमें ( ३·३० ) तो मानते ही हैं, कि दुनियामें किसीसे राग न होने पावे। राग अर्थात् राग-द्वेष दोनों। जैसे रामके साथ लक्ष्मण रहते ही हैं। जब बाहरकी वस्तुओंको लेकर हम चाहते हैं कि ये हमारे पास न आवे, इसीके लिए लड़ रहे हैं तो वहाँ रागके मूलमें द्वेष काम करता है। दिनभर तो गाली देते हैं कि यह हमारे पास क्यों आया ? चिड़िया आकर पेड़पर बैठे तो ढेला फेंकते हैं। क्यों ? विरक्तजी हैं ! देखना हो तो मीरा को देखो—'मैं तो गिरधर हाथ बिकानी ! होनी होय सो होऊ रे।'

अरे भाई ! वैराग्य भी होगा और राजद्वारमें संघर्ष भी होगा ?

वैराग्यवान्का संघर्ष ? वैराग्यवान् किसीसे संघर्ष करता है ? दुनियामें क्या ऐसी चीज है जो आवे कि जाय, रहे कि न रहे और उसके मन पर असर करे ! तो वैराग्य शब्दका अर्थ है, संसारमें दृढ़ राग-द्वेषका न होना। वैराग्य माने राग-द्वेषकी शिथिलता। समझनेमें भूल मत करना। भूल क्या होती है ? हम चाहते हैं राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव। जीभमें तो जो भी कुछ खानेकी आदत पड़ गयी है।

एक जगह भोजन करने बैठे तो मालूम पड़ा, चौकेमें कोई गंदो चीज है तो हमें कै आने लगी। हे भगवान्। यह क्या हो गया ? है तो रहने दो ! अपना क्या बिगड़ता है। हमें उससे क्या द्वेष है ? बोले, 'नहीं भाई यह जो जिन्दगी-भरका संस्कार है, सुनते-सुनते कि यह चीज गंदी है, वह संस्कार भभक रहा है। हमारा उस वस्तुसे द्वेष नहीं है।

कोई वेदका मन्त्र ठीक-ठीक बोल रहा हो तो कान वहाँ खिचकर चला जाता है, रास्तेमें चलते-चलते वहाँ ठिठक जाते हैं। तो क्या उससे राग है ? नहीं, राग नहीं हुआ, उसके महत्त्वका जो श्रवण है, संस्कार है, उससे थोड़ी देर हम वहाँ रुक जाते हैं। उसका नाम राग-द्वेष नहीं है। यदि कोई वेद न पढ़े और हमें सस्वर सुननेको न मिले तो हमें तकलीफ न होगी। राग-द्वेष तो संस्कारानुसार होता है परन्तु वह तीव्र और दृढ़ नहीं हैं, शिथिल हैं। इसका नाम वैराग्य है।

आपको 'वैराग्य' शब्दपर भी विचार करना चाहिए कि वैराग्य कैसा होना चाहिए। आप एक महीनेका, तीन महीनेका संन्यास न लें। आदिवासी क्षत्रोंमें एक वर्षका ब्याह, एक बच्चा पैदा करनेतकका ब्याह होता है। फिर नहीं। आप वैराग्य शब्द-पर ध्यान दीजिये। जो चीज आती है और जाती है, बदलनेवाली है—आप अपनी जवानीसे राग और बुढ़ापेसे द्वेष कीजिये ! क्यों

जी ! चलेगा ? अत्यन्तम्का अर्थ है, लगातार बना रहे, जिसका अन्त न हो। मौसमी वैराग्य, मौसमी ब्याह नहीं कि इतने दिनतक वैराग्य ग्रहण करते हैं।

हमारे एक साधु थे। उन्होंने एक वर्षका मौन लिया और फलाहार किया। जहाँ नवाँ-दसवाँ महीना आया कि उनके सामने दो प्रश्न आकर खड़े हुए। मैं भी उनके पास जाता था। एक प्रश्न तो यह कि जब महात्माजी मौन तोड़ेंगे और तोड़ेंगे तो पहले कौन-सा शब्द बोलेंगे ? तब ट्रस्टकी मिटिंग बैठी। ये वैराग्य करनेवाले लोग ! हाथ जोड़ो इनको ! दो मिनटका काम ये कई घण्टोंमें करते हैं। जो निर्णय हम एक मिनट में दे सकते हैं, उसके निर्णयके लिए वह पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष ! वह बहस-मुबाहिसा होता है कि उस समय ऐसा होता है कि ये व्यर्थ अपना समय तो बिताते ही हैं, दूसरोंका समय भी नष्ट करते हैं।

पञ्चायत यह होने लगी कि महात्माजी पहले-पहल कौन-सा शब्द बोलेंगे। उनके एक सौ आठ भगत थे। मैंने गिनती भी सच्ची बतायी। उन्होंने अपने एक सौ आठ भगत माने थे और भजन भी उनके नाम लिखे थे कि ये प्रार्थना करेंगे तो ऐसी लिखेंगे। वह छपी हुई है—'१०८ भक्तोंकी प्रार्थना।'

दूसरा प्रश्न यह उठा कि ये फलाहार छोड़कर भोजन करेंगे तो क्या भोजन करेंगे ? क्या बनेगा उस दिन ? भगत लोग उनसे भी जाकर सलाह करें कि इनकी राय यह है कि उस दिन खीर बननी चाहिए. कड़ा प्रसाद बनना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सब उनके भगत थे। एक मरे हुए मुसलमानको उन्होंने जिन्दा कर दिया था। मुसलमानोंकी परम्परा थी। वे भी उनके

भक्तोंमें आ गये थे। कबरमें-से निकलवाया था उसे। वह अभी भी जिन्दा है और उनके आश्रमका महन्त है।

आपको यह बात सुनाते हैं कि उस बेचारे साधुका दस महीने रहा मौन, फलाहार! दो महीना तो उसका खण्डीत ही हो गया कि खीर खायेंगे या हलवा?

**मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते**
**वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु।** (७१ का पूर्वार्ध)

आप यदि जवानीसे मुहब्बत करेंगे तो बुढ़ापेसे द्वेष हो जायगा। न तो जवानी आपके पास रहेगी। रहेगी? रही है आजतक किसी-की जवानी? आप लोग माफ करें तो एक बात हम आपको सुना दें। श्रीकृष्णको बाण किसने मारा था? उसका नाम आपको मालूम है। उसका नाम है 'जरा'। श्रीकृष्णका शरीर दिव्य है। उसमें जवानी-बुढ़ापा नहीं है। बाण जिसने मारा था, उसके नाम-पर जरा ध्यान दीजिये। जरा माने बुढ़ापा, वृद्धावस्था। अरे बुढ़ापा! 'तेरे मारे अब हम बुढ़ियाय गये।'

बड़े भाईने दावा किया कि हमारी बात मानी जाय। 'मणि' हमको दिया जाय। बेटोंने और नातियोंने कहा—'हम साधु-सन्तों-को नहीं मानते। श्रीकृष्ण और बलराम उनको समझाने गये और बेटों और भाइयोंने उन्हींको मारना शुरू कर दिया, अपना दुश्मन समझकर। आप जानते हैं कि आप यदि चाहते हैं कि आपकी जवानी हमेशा बनी रहे तो नहीं रहेगी हमेशा आपको छोड़कर जायगी। आप उस दिनके लिए तैयार हो जाइये। चालीस वर्ष-तक आप अपनी उम्र कम बताइये परन्तु साठ वर्षके बाद ऐसे बताइये कि मैं हूँ साठका, लगता हूँ चालीसका। इसका नाम दुनियादारी है। आप बुढ़ापासे और मृत्युसे चाहे कितनी दुश्मनी करिये, वह आयेंगे। 'जवानीको चाहे कितना छातीसे चिपकाकर

रखना चाहियेगा, वह जायगी।' यह वाल्मीकि रामायणका अमर वचन है—

**सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।**
**संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥**

(अयोध्या काण्ड १०५.१६)

जो उठेगा, वह गिरेगा। ऊंचाईपर जो जायगा, वह नीचे गिरेगा। जीयेगा वह मरेगा, यह संसारका नियम है, न्याय है।

**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।**

(गीता २.१४)

संसारकी ये सभी वस्तुएँ आती-जाती हैं। यदि यह चाहेंगे कि आती रहे; आती रहे तो यह नहीं बनेगा। आप चाहेंगे कि न आवें-न आवें तो वह भी न बनेगा। बहती हुई नदीमें बहती हुई चीजके लिए अपनी आँख मत फोड़िये। उसमें रुकावट भी मत डालिये। उसे बहने दीजिये।

वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु—संसारकी वस्तुएँ अनित्य हैं और उनमें वैराग्य लगातार रहने दीजिए। दुनियामें कोई भी ऐसा नहीं है जो 'हमेशा रहे'। छूटा है। सर्वे क्षयान्ता निचयाः—यह वाल्मीकि रामायणका अमृत-वचन है। जो इकट्ठा करोगे, उसका नाश होगा।

पतनान्ताः समुच्छ्रयाः—जितनी ऊंचाई है वह अन्तमें गिरेगा। संयोगा विप्रयोगान्ताः—जहाँ संयोग है, उसका अन्त विप्रयोग है, बिछुड़ना है। मरणान्तं जीवितम्—जीवनका अन्त मरण है, सुखका अन्त दुःख है। दुःखका अन्त सुख है। इसलिए दुःखमें तो यह सोचो कि सुख आनेवाला है और सुखमें यह सोचो कि 'फँसो मत', दुःख आनेवाला है। सुखके बाद जब आयेगा, दुःख ही आयेगा। और दुःखके बाद दुःख नहीं आवेगा, सुख ही आयेगा।

एक महात्मा ऐसे समझाते थे—'एक आदमी कहीं घोर जंगलमें फँस गया। अब बैठकर सोचने लगा, अब रात बीतती है, बीतती है परन्तु दुःखकी रात तो लम्बी होती है न? वह जल्दी बीतती नहीं, क्योंकि काल असलमें मानसिक है। मृत्युके बाद मुर्दके पास बैठना हो, तो मालूम पड़ेगा, रात छह महीनेकी हो गयी। परन्तु शादी-ब्याह, संगीत-क्लबकी रात हो तो? 'अरे! इतने बज गये?' लोग सत्संग करते हैं तो, 'अरे चार बज गये? मालूम ही नहीं पड़ता। तो वह बेचारा जंगलमें फँस गया। उसकी रात लम्बी हो गयी। उसने सोचा, कुएँमें कूद करके आत्महत्या कर लें, रात नहीं बीतेगी। जैसे वह कुएँकी ओर चला, एक सज्जनने पूछा—'क्या बात है भाई?' वह बोला—'रात नहीं बीतती है! मैं तो अँधेरेमें भटक गया। मैं मर जाऊँगा!' वे सज्जन बोले—'अरे! तुमने चार बजे तककी रात सह ली! अब तो सवेरा होनेवाला है। दो घण्टेमें रात बीत जायगी। थोड़ा और धैर्य धारण करो।'

दुःखमें ऐसा धैर्य धारण करो कि 'घण्टे-दो घण्टेके बाद सुख आयेगा? यह दिन बीतनेवाला है। महीने-दो महीनेमें दुःखका अन्त हो ही जायगा, सुख अवश्य आयेगा। और सुख न आये तो? कैसे रहेंगे? आज तो पैदल चलनेका अभ्यास है, और कहीं किसी दिन मोटर बिगड़ गयी और पैदल चलना पड़ा तो? कहीं किसी दिन ऐसी जगह फँसे कि रोटी न मिली तो? अरे, उसके लिए भी तैयार रहिये। आप मरनेके लिए, जोखिमके लिए बीमा करवाते हैं और आप खुद अपने लिए, अपने जीवनमें जो बीमा कर सकते हैं, रोटी-कपड़ा न मिले तब भी हम ठीक रहें। कोई मददगार, नौकर-चाकर न मिलनेपर भी हम ठीक रहें यह बीमा आप क्यों नहीं करवाते?

●

## : २८ :

### १-७-७५

'राग' शब्दका अर्थ होता है, संस्कृतमें—रंग, रंजना। अगर कोई चीज हमारे दिलमें घुलकर दिलको रँग देती है। एक कुसुम्भ रंग होता है। एकदम कच्चा रंग। हम लोगोंके गेहूँके खेतमें वह बोया जाता है। तेलहन बीजका पौधा—उसके पीले-पीले फूल होते हैं और कँटीले पत्ते होते हैं। उससे कपड़ा रँगता है। स्त्रियाँ टोकरी-की-टोकरी फूल ले आती हैं और एकदम केसरमें रँगा कपड़ा मालूम होता है। उस रंगमें रँगा कपड़ा एक बार पानीमें धोते ही एकदम साफ हो जाता है। उसको कुसुम्भ राग-कच्चा

राग बोलते हैं। एक 'नीला राग' होता है। अंग्रेज लोग नीलकी खेती करते थे। कई बार कपड़े धोनेके बाद वह छूट जाता था। एक होता है माञ्जिष्ठ राग—मजीठेका रंग। वह यदि कपड़ेपर चढ़ाया जाय तो कपड़ा फटनेतक नहीं छूटता। उनके लिए 'राग' शब्दका ही प्रयोग होता है। कुसुम्भ रंग, माञ्जिष्ठ रंग और नीला रंग।

असलमें न हमेशा कोई रंग चढ़ने पावे, न बरसोंतक था थोड़ी देरके लिए भी न चढ़ने पावे। जैसे लाल चीज शीशेके सामने आयी तो लाल! चली गयी तो फिर वह ज्यों-का-त्यों। ऐसा अपना अन्तःकरण स्वच्छ शीशेकी तरह रहे। काला रंग आया तो शीशा काला, हरा आया तो हरा, सफेद आया तो शीशा भी सफेद, जो आवे वही-वही मालूम पड़े? परन्तु शीशेपर अपना कोई रंग न चढ़े!

दर्पणके समान अन्तःकरणकी स्वच्छता है। उसीको वैराग्य बोलते हैं। थोड़ी देरके लिए शीशा रंगीन दिख गया। ससारमें माञ्जिष्ठ राग सबसे बुरा है। नीला राग उससे कम और कुसुम्भ राग थोड़ा बुरा है। भक्त लोग इसी क्रमको उलट देते हैं। कुसुम्भ राग हल्का-फुल्का है—किसी कामका नहीं है! नीला उससे अच्छा है, माञ्जिष्ठ उससे भी अच्छा। ईश्वरमें ऐसा राग होवे कि कभी छूटे नहीं। विक्रमाभ्याम्—यह क्रम उल्टा ही होता है।

रंग न चढ़ने पावे। ये पार्टियाँ भी रंग ही चढ़ाती हैं, बार-बार दुहराकर। ये मजहब, जातियाँ, राष्ट्रीयता सब रंग चढ़ाती हैं। बड़ा भारी व्यामोह होता है। यह हमारा है, यह हमारा है! यह हमारी पार्टीका है! ऐसे बात होती है, 'यह हमारे शास्त्रकी बात है', 'यह हमारे आदमीकी बात है', 'यह हमारे मजहबकी बात है।' अरे भाई, बात सच्ची होनी चाहिए, अर्थात् अनुभवमें आरूढ़

होनी चाहिए। तो राग केवल विषयोंमें ही नहीं होता, भोगोंमें भी राग होता है।

दुनियाकी जिन चीजोंको छोड़नेमें हमारे मनमें थोड़ी-सी हिचकिचाहट होती है, उससे राग हो गया; ऐसा मिलता है—अनुकूलतया और प्रतिकूलतया। दुश्मनपर द्वेष, क्योंकि वह जलनका हेतु है। द्वेषका भी रंग होता है, परन्तु वह जलाता है।

एक दिन हमारे एक सेवकने ऐसा किया कि दाँत साफ करने-की पेस्ट होती है जिसमें, वह ट्यूब नाईको दे दी। उसने वह लगाया तो जलन हुई! इसी प्रकार कई-कई रंग भी जलाते हैं। जलानेवाले रंगका नाम द्वेष है और नरम-नरम, सुकुमार-सुकुमार लगनेवाले रंगका नाम राग है। 'वैराग्य' शब्दका अर्थ है स्वच्छ शीशा जिसमें दिख तो जाय सब। नशा पीकर, बेहोश होनेपर इञ्जेक्शनसे जो वैराग्य होता है, वह बिलकुल व्यर्थ है। अपना मन इतना स्वच्छ हो कि दुनियामें किसीका रंग चढ़ने न पावे!

**सबसे मिलिये, सबसे जुलिये, सबका लीजिये नाम।**
**हाँजी हांजी करते रहिये, बैठि आपने ठाम॥**

अपने स्वरूपसे विपरीत किसी भी वस्तुको—जो अन्य मालूम होती है, जो पैदा होकर विछुड़ गयी, मर गयी, जो अभी पैदा ही नहीं हुई। जो अनहुए अन्य देशमें, अन्य रूपमें मालूम पड़ती है, उसके बारेमें यह सोचना कि 'मैं इसके साथ मिल गया' या 'मेरे साथ यह वस्तु मिल गयी'—ये राग-द्वेष अध्यासके गाढ़े रूप हैं। यह है दर्शन। वैराग्य माने क्रमवश जिस वस्तुको अपनेसे अलग होनेपर भी उसे अच्छी या बुरी समझकर उसके साथ मिल जाते हैं या उसे अपने साथ मिला देते हैं, इसका नाम 'अध्यास' है। ये अध्यासके रूप हैं।

राग-द्वेष अध्यासके ही रूप हैं। इसीलिए अध्यासकी बाहरी परत हैं राग-द्वेष, मृत्युका डर, अस्मिता। अध्यास स्वयंमें भ्रम है भ्रम। अध्यास माने अपनी नित्यता, चेतनता और आनन्दताको दूसरेमें आरोपित करना और दूसरेकी अनित्यता, जड़ता और दुःखरूपताको अपनेमें ले लेना।

'अतस्मिस् तद्बुद्धिरध्यासः' ( अध्यासभाष्य ) यह अध्यास शब्द वेदान्तियोंका खास है। वैराग्य माने क्या, यह ठीक समझ लीजिये। अपने स्वच्छ अन्तःकरणमें किसीका रंग पोत लेना। एक स्त्री स्वभावसे बहुत सुन्दर है। परन्तु उसे भ्रम हो गया, सास-ननदने टोक दिया तो, सोचने लगी कि 'मैं सुन्दर नहीं हूँ।' फिर उसने बाजारसे सौन्दर्य-प्रसाधनकी सामग्री खरीदी और अपने मुँहपर लपेट दिया, तो वह और भी बदसूरत दिखने लगी। आप स्वयंमें इतने सुन्दर हैं कि आपको अपनेमें दूसरी चीज लगानेकी कोई जरूरत नहीं है। बिना राग-द्वेषका रंग लगाये, आप परम निर्मल हैं।

वैराग्य माने कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। वह तो हमारे सहज स्वभावके बहुत निकट है। राग-द्वेष आगन्तुक हैं। बाहरसे ये आये हैं और अपने स्वभावसे विपरीत हैं। यह जो 'वैराग्य'की चर्चा वेदान्तियोंमें आती है, वह बनावटी वैराग्य करनेके लिए नहीं आती है। अपने सहज स्वभावको समझनेके लिए आती है। वैराग्य एक समझ है और वह भी सहज।

हम जब दर्जा अलिफ-ब्रेमें पढ़ते थे, तब हमारे साथ जो बच्चे खेलते थे उनसे ऐसी दोस्ती थी कि हमलोग जिन्दगी भरका प्रोग्राम बना लेते थे। 'कैसे-कैसे रहेंगे,'—ऐसी दोस्ती हो गयी। अब वे मर गये कि जिन्दा हैं यह भी मालूम नहीं है। जब तेरह-चौदह वर्षके हो गये और काशीमें पढ़ने लगे तो वहाँ भी ऐसे-ऐसे मित्र

मिले कि बस, क्या पूछना ? किस देशमें रहेंगे यह प्रोग्राम भी बनता था। उनके बिना हम नहीं और हमारे बिना वे नहीं रहेंगे। वे अपने घर जाते तो मैं पहुँचाने जाता और मैं अपने घर लौटता तो वे पहुँचाने आ जाते। इस प्रकार परम्परा बनी रहती। सौ-सौसे राग हुआ, दोस्त दुश्मन हो गया और दुश्मन दोस्त हो गया। सब-के-सब भूल गये छूट गये, आज उनकी यादतक नहीं आती। यह मैं अपनी बात नहीं करता हूँ, आपकी बात करता हूँ, क्योंकि मेरी और आपकी बात जुदा-जुदा नहीं है, बिलकुल एक है।

अबतक इतना वैराग्य करते हम आ रहे हैं, कि हम उसको समझते नहीं हैं कि हम वैराग्यवान् हैं। बहुत बड़ा वैराग्य। वेदान्त यह नहीं कहता कि आप वैराग्यवान् बनिये। सहज-स्वभावमें जो वैराग्य है, उसको समझिये, ऐसा वह कहता है। वैराग्य समझना है, करना नहीं है। करोगे तो वह तुम्हें कर्ता बनाकर बाँधेगा!

इस विषयमें हम आपको और भी सुनाते हैं। आप पूछेंगे कि किस ग्रन्थमें लिखा है तो वह हम नहीं बता सकेंगे। आपमें कितना वैराग्य है इसपर आपने कभी ध्यान दिया है ? कितने सुन्दर-सुन्दर रूप देखे हैं और कितने कुरूप देखे हैं! आपकी आँख किसीकी फोटो खींचकर उसीको देखती रह गयी ? उसीमें बँधी रही ? कोई चीज आपके साथ जुड़ी ? असलमें आँख आँख नहीं है, ज्ञान है। ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह हजारोंको देखे और हजारोंको छोड़े, किसीके साथ जाय नहीं। यह नेत्रोपाधिक ज्ञानका स्वरूप है। अबतक आपके मनमें कितने आये और कितने गये, आप याद करके बता सकते हैं ? एक दिनका भी बता सकते हैं ? एक दिनका नहीं बता सकते तो एक महीनेकी, एक वर्षकी तो बात छोड़िये। कौन-कौन अच्छा-बुरा लगा और किनको देखकर

नाक-भौंह सिकोड़ी ? पानी-पानी हो गये ! दिनभरमें क्या-क्या हालत होती है, परन्तु कोई आपके मनमें रहा ? मन-उपाधिक जो ज्ञान होता है, उसका स्वभाव भी वैराग्य ही है, क्योंकि ज्ञान स्वरूपसे असंग होता है। ज्ञानका स्वभाव है वैराग्य। यह बिलकुल ही नासमझी है कि आप अपनेको रागी और द्वेषी समझते हैं। इसलिए भाई मेरे ! दुनियामें जितना दुःख है हम उनको नहीं छोड़ सकते।

एक महात्माको आया बुखार। एक सौ तीन-चार डिग्री हो गया। गंगा किनारेके साधु लोग तो डिग्री भी नहीं जानते। एक साधु हमारे पास था। वह कहता था, 'स्वामीजी, हमें २५० डिग्री बुखार हो गया था।' वह बुखार नहीं, 'बुखरिया' बोलता था। वह सुलतानपुरका रहनेवाला था। साधु लोग यह भी नहीं जानते।

उन महात्माको एकसौ चार डिग्री बुखार हो गया तो वह बोलने लगे—'अब नहीं सहा जाता'। उसके पास दूसरे महात्मा खड़े थे, वे बोले—'सहा नहीं जाता' बोलते हो, पर कर क्या रहे हो ? सहते जा रहे हो और 'सहा नहीं जाता, सहा नहीं जाता' कहते हो। ये संसारी लोग बिलकुल ऐसे ही हैं कि 'अब सहा नहीं जाता'। एकसौ पाँच हो जायगा तब भी सह लेंगे। एकसौ चारपर बोलते हैं, सहा नहीं जाता'। ये मुहब्बती लोग जो हैं, वे मोहव्रती हो जाते हैं।

वैराग्य माने ? चोरी करना स्वाभाविक है कि चोरी न करना स्वाभाविक है ? जरा-सी अकल लगाकर देखो इसमें। तुम चोरी करते हो ? हाँ, करते हैं। आदत पड़ गयी है ? हाँ, पड़ गयी है। अब तुम चौबीस घण्टे चोरी करते रहो, और नहीं करोगे तो डण्डा मारेंगे। दुनियामें कौन आदमी ऐसा है जो चौबीस घण्टे चोरी

करता रह सके ? झूठ बोलता रह सके ? ब्रह्मचर्य भंग करता रह सके ? है ? यह तो एकदम अस्वाभाविक है। यह तो कभी-कभी जीवनमें आता है। अपने स्वभावके विरुद्ध है।

अपना स्वभाव यही है कि किसीको दुःख न पहुँचावें, चोरी न करें। परन्तु इसकी समझदारी भी किसी-किसीको आती है, सबको नहीं आती। ये जो 'सार्वजनिक बात' बोलते हैं, वह क्या है सार्वजनिक ! बच्चों, पागल, मूर्खको विचार करना आता है ? जो सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेयका विचार करता है, जो राग-द्वेषका विचार करता है, वह समझता है कि अपने स्वभावमें असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, रागीपना-द्वेषीपना, भय नहीं हैं।

असलमें 'विवेक चूड़ामणि'में जिनकी बातें कही गयी हैं, वे विवेककी दृष्टिसे हैं। आप इतने वैराग्यवान् हैं कि यदि आप नोट करते जायँ, कि हमने अभीतक किस-किससे वैराग्य किया है, तो बात समझमें आजाय। एक फैशन आता है तो दूसरे फैशनसे वैराग्य हो जाता है कि नहीं ? अबतक कितने फैशन आये और गये ? बनवाये हुए कपड़े हैं और कहते हैं, 'हजारों रुपये जिसमें खर्च किये हैं, उनसे वैराग्य हो गया, कि ये पहनकर निकलेंगे तो लोग क्या कहेंगे। हमने देखा है कि चुस्त पाजामा-पैन्टकी जगह वह ढीला आया तो बदल गया। अब दोनों पाँवका एक आ गया ! तो फैशन बदलता है नये-नयेसे राग और पुरानेसे वैराग्य।

आप सोचिये, अबतक कितने फैशनोंसे वैराग्य किया है। पोथीमें पढ़कर वैराग्य मत सीखिये। अपने जीवनकी पोथीमें पढ़िये और समझिये, कितने-से राग हुआ और कितनेसे वैराग्य हुआ ? कितनोंसे संयोग हुआ और कितनोंसे वियोग हुआ ? क्या-

क्या आया गया ! सौ-सौसे राग-द्वेष किया और उन्हें छोड़ दिया। इसीसे राग-द्वेष करना आपका स्वभाव नहीं है।

**ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा**
**न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥** (७१ का उत्तरार्ध)

ततः माने इस वैराग्यके कारण हृदयमें शान्ति आती है, उसके बाद नहीं। अव्यवस्थित कारण जो वैराग्य है, उससे शान्तिका उदय होता है।

ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा—शान्ति कहाँ रहती है ? ऐसा करेंगे तब शान्ति होगी ? लोग हमसे कहते हैं, 'महाराज ! ऐसी कृपा कीजिये कि सामनेवालेका मन बदल जाय।' हम अपने मनमें क्या सोचते हैं ? कहनेवाले यहाँ भी बैठे होंगे, परन्तु तुम ऐसे क्यों नहीं बोलते, बेटा, कि हमारा मन बदल जाय ? तुम्हारे हृदयमें अपना मन बदलनेकी जब इच्छा होगी,—अपना मन बदल गया कि नहीं ? इच्छा ही मनका बदलना है। तुम कहते हो दूसरेका मन बदल जाय, हमारा मन न बदले। ध्यान दो इस बातपर ! 'महाराज, इसे कड़वा बोलनेकी आदत पड़ गयी है। ऐसा अशीर्वाद दीजिये कि यह कड़वा न बोले। दूसरा कहेगा, 'इसको कहिये कि हमारी आदत कड़वा न सहनेकी पड़ गयी है। ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि वह कड़वा सह लें।'

आप ऐसा आशीर्वाद माँगिये, वे तुरन्त दे देंगे। आप अपने लिए तो माँगते ही नहीं ! 'इसका स्वभाव बहुत बुरा है' और तुम्हारा स्वभाव बुरा-बुरा देखनेका है यह बहुत अच्छा है। ईश्वर-कृपासे शान्ति कहाँ है ? वैराग्यमें।

**तेरे भावे जो करौ, भलो बुरो संसार।**
**नारायण तू बैठके, अपनो भवन बुहार॥**

इसका नाम आध्यात्मिकता है। अपने मनपर नजर रखो।

आत्मा अद्वितीय है माने एकगुण एक-एक—अद्वितीय। अध्यात्म अर्थात् जो शरीरके भीतर है। अपने शरीरके भीतर ही सुधार-बिगाड़ होता है। गोलोक-बैकुण्ठमें कुछ बनाने-बिगाड़नेका न रहे। वह अधिदैव है यह अधिभूतमें कुछ बनाने-विगड़नेमें ये सब अपने मनका खेल है। अपने मनके खेलको तुम दूसरेपर डालते हो ? इन्होंने हमारे साथ यह कर दिया, यह कर दिया बनना है अध्यात्मिक। जो अपने मनको नहीं देख सकता है, वह दूसरेके मनको क्या देख सकता है। तो वैराग्यका पहला फल है, दूसरेकी बुराई देखकर उसपर क्रोध न हो। दूसरेकी अच्छाई देखकर उसमें डूब न जाँय, अपनेको खो न दें, उसमें गर्क न हो जाँय। दूसरेकी अच्छाई-बुराईका विचार अपनेको अशान्त बनाता है। हम उसके बारेमें जैसी कल्पना करते हैं, वैसा वह नहीं करता है। तब अशान्ति होती है। दूसरेके बनने-बिगड़नेकी सोचनेमें जिन्दगी गयी। अपनी ओर तो गयी ही नहीं।

एक बात और आपको सुनाते हैं। शम माने शान्ति जिसका नाम है। शान्ति और क्षान्तिमें थोड़ा फर्क है। हम शान्तिकी बात करते हैं। कुछ बातें इस विषयमें ध्यानमें रखना आवश्यक है—दुनियामें कितना भी उपद्रव हो, उसमें हमारा मन न बहे। यह शान्तिका एक स्वरूप है। जिनका स्वभाव हुल्लड़बाजीका है। वह हुल्लड़ मचाये बिना तो रह नहीं सकते। **नान्यथा कर्तुं शक्यते स्वभावः** तुम चाहते हो कि गधा रेंके नहीं। वह क्या करें ? कुहू-कुहू करे ? कोयल बने ? अरे बाबा उसे रेंकने दो। अपनी बोलीमें बोलने दो संस्कृत ग्रन्थोंमें ऐसा है—

**न गर्दभः गायति शिक्षितोऽपि।**

उसे चाहे कितना भी सारेगम सिखाओ, वह तो बहुत-बहुत शिक्षा देनेपर भी गा नहीं सकता। पञ्चम स्वर निकलेगा गधेके

मुँहसे ? वह तो गान्धार, विरपल कुछ-न-कुछ गायेगा। दूसरेको सिखानेवाली बात ऐसी ही है।

**न गर्दभः गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितः पश्यति नार्कमन्धः ॥**

वैयाकरणको कवि बनाना चाहते हो ? वैयाकरण कभी कवि नहीं होता। 'घञ् प्रत्यय', कहनेवाले वे हैं। नैयायिकको कवि बनाना है ? वह कवि होकर भी उसमें अवच्छेद-अवविच्छन्नके प्रकारको निरूपित करेंगे। वहाँ भी जोड़ेंगे—**पर्वतेऽपि धर्माग्न्नी वर्तेते।**' इसलिए स्वभाव बदलनेकी बात न हो। अशान्ति अपने मनमें क्या है ? हम चाहते हैं कि दिन रात हो जाय, रात दिन हो जाय। गधा कोयलकी तरह बोले।

अपने स्वभावका सदुपयोग न करके दूसरेके स्वभावमें परि-वर्तन करना चाहते हैं। वर्तन—वर्तावका नाम कर्म है। प्रवर्तन माने 'यह करो', 'यह न करो'—इसका नाम धर्म है। परिवर्तन संसारका स्वभाव है। विवर्तन प्रपञ्चका स्वरूप है। अपने एक अधिष्ठान-ज्ञानस्वरूपमें न वर्तन है न प्रवर्तन, न परिवर्तन, न विवर्तन। वह आनन्दमात्र है।

शान्ति एक होती है वाह्यकी उपेक्षासे। बाहर चाहे कुछ हो, होने दो। एक शान्ति होती है अपने अधिष्ठानके दर्शनसे। शान्ति किसमें है ? कितना शान्त है आत्मा ! नींदमें सपने आते हैं परन्तु अशान्ति नहीं हुई। कितनी-कितनी वृत्तियाँ आती-जाती हैं अशान्ति नहीं होती। स्व-स्वरूपके अनुभवसे शान्ति होना एक बात है, बाह्य उपेक्षासे शान्ति होना दूसरी बात है। बहिरंग शान्ति वाह्य वस्तुओंको देखकर होती है, अन्तरंग शान्ति अन्तरंग वस्तुका दर्शन करनेसे होती है। उपेक्षामें अस्पष्ट आत्माका अस्पष्ट प्रति-विम्ब रहता है, अन्तरंग शान्तिमें आत्माका स्पष्ट प्रतिविम्ब होता है। आत्माका स्वरूप शान्ति है।

भक्त लोग शान्ति किसे बोलते हैं ? यह दूसरी चीज है। वे बोलते हैं—'मनका भगवान्‌पर विश्वास करके बैठना शान्ति है।' दिल्लीमें एक सज्जन हैं, वे क्लासमें पढ़नेके लिए तो जाते थे परन्तु बोलते थे—'आज मास्टर साहब न आवेंगे तो बहुत शान्ति रहेगी। वे आते हैं तो बहुत उपद्रव होता है। एक दिन मास्टर साहब आये नहीं थे। तो क्लासमें ही पद्मासन बाँधकर ध्यानके लिए बैठ गये। टाटपर नीचे बैठकर पढ़ते थे। उनकी उमर उस समय बारह-तेरह वर्षकी थी। वे आँख बन्द करके बैठे तब मास्टर आये। उस समय ये उठकर खड़े नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने मास्टर साहबको देखा नहीं था। फिर उसने पुकारा तो बोला, 'मैं भगवान्‌के ध्यानमें मग्न था। मालूम न पड़ा तो क्या करूँ ?' प्रणाम करनेकी जरूरत नहीं। बच्चा ही तो था ! अब मास्टर साहबने कहा, 'उठकर खड़े होओ !' जब वे खड़े नहीं हुए तो दूसरे बच्चोंसे कहा, 'इसे कान पकड़कर उठाओ।' तब भी न उठे। अब महाराज ! उसने कहा, 'मैं भगवान्‌का नाम लेता हूँ।' भगवान् हमारी रक्षा करेगा। मास्टर साहबने कहा, 'इसे छतसे बाँधकर लटकाना।' बच्चेको बाहर छतपर लटका दिया। फिर भी उसका पद्मासन बँधा रहा। आंख बन्द ! वे ही लोग उसकी रक्षा करते थे। वह बोले कि 'भगवान् ! हमारी रक्षा करो !' उसने कहा कि 'बस, महाराज ! एक ओर तो मौत थी, एक ओर भगवान्‌पर हमारा विश्वास था। हम भगवान्‌को जानते नहीं थे, भगवान्‌को देखा न था, परन्तु हमें ऐसा लगा कि भगवान्‌ने हमें अपनी गोदमें ले रखा है। तबसे भगवान्‌पर हमारा ऐसा विश्वास हो गया कि निष्ठा आगयी। वे बहुत सज्जन पुरुष हैं। हम जानते हैं उनको। उन्होंने खुद ही हमें बताया है।

हमारे हृदयमें ईश्वरका विश्वास कैसे आवे ? तुम विश्वास भी करते हो और डरते भी हो! निष्ठा, शान्तिःपरायणम्

( विष्णुसहस्रनाम )। उसके ऊपर जो दिव्य विश्वास है, वही परिपक्व होकर निष्ठामें परिणत हो जाता है। जैसे दूध पककर मलाई हो जाता है। फिर उसमें प्रवाह नहीं रहता। वृत्तिका प्रवाह विश्वासमें रहता है, निष्ठामें नहीं रहता।

**मेरा साईं घट घट रमता।**

दमः—असलमें इन्द्रियोंको शान्ति तभी मिलती है जब वे निष्क्रिय होती हैं। आप आँख बन्द करेंगे। हमारी आँखोंमें कभी-कभी जलन होती थी, तो मेरे एक मित्र हमारी दोनों आँखोंपर अपनी हथेली रख देते थे। एक-दो मिनटमें उनकी हथेलीकी गरमीसे हमारी आँखें और भी गरम हो जातीं। फिर जब वे हाथ हटाते तो बाहरकी हवासे ठंडा-ठंडा लगता। पहले बाहर जितनी गरमीका अनुभव होता था, हथेली रखनेसे ज्यादा लगा। फिर हथेली हटाई तो ठंडा। आपकी आँखमें जलन होती हो तो अपनी हथेली उनपर रखिये। थोड़ी देरके बाद शान्ति मिलेगी :

पाँवसे चलते रहनेमें शान्ति, हाथ-जीभ हिलाते रहनेमें आपको आनन्द मिलेगा। आनन्दका एक पहलू है, इसपर आपने कभी ध्यान नहीं दिया है। आप थक जाते हैं तो नींद लेकर विश्रामका अनुभव करते हैं न! यदि नींद प्राकृत न हो और नींदका अनुभव हो जाय तो योगदर्शनमें उस अभ्यासजनित नींदकी स्थिति इस प्रकार कही है—

**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ( १.३८ )**

आप आँख बन्द करके अपने मनमें सपना आता है ऐसे देखिये। नींद आती है तब कैसा मालूम पड़ता है, यह सोचिये। कुछ नहीं मालूम पड़ता तो ध्यानमें ले आइये कि कुछ न मालूम पड़ना क्या है? आपका मन, आपकी इन्द्रियाँ शान्त हो जायँगी। इन्द्रियोंकी हलचलमें सुख है, यह मानना बिलकल गलत है।

इन्द्रियोंकी हलचलके बिना भी आदमी सुखी और शान्त रह सकता है। तितिक्षा माने आप चाहते हैं, आपको लोग खूब सह लें, चाहे आप जैसे बोलें, जैसे करें, जैसे रहें। और आप बिलकुल न सहें। आपने अपनी आदत तो बिगाड़ ली, और दूसरोंकी बिगाड़ रहे हैं।

तितिक्षा—जिन्दगीमें एक आदमीके मनका कभी नहीं होता। हजारों मन हैं, उनके मनका भी होता है। ईश्वर भी करें तो किसी एक मनका कैसे करें ? आप चाहते हैं कि सब हमारे ही मनका करें तो यह कैसे हो सकता है ? आप यदि शक्तिका संचय करना चाहते हैं—अच्छा, आप सड़कपर चल रहे हैं और कोई गाली दे रहा है तो आप चुप हो जाइये और सिर झुका लीजिये। दो-चार-दस आदमी देखेंगे कि यह गाली दे रहा है और यह चुप खड़ा है, तो आपको कई मददगार मिल जायेंगे। ऐसे भी मिल जायेंगे जो उसको पीटकर ठीक कर देंगे। इसके लिए तितिक्षाकी जरूरत नहीं है, आपकी सहनशक्तिमें प्रेरणा उत्पन्न करनेके लिए है। इसीसे तपस्याकी शक्ति तितिक्षा होती है। ऐसी बढ़िया बात आगे कही गयी है।

**न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम्।**

इसका अर्थ अनासक्तिपूर्वक कर्म करना नहीं है, आसक्ति छोड़ दीजिये यह इसका अर्थ नहीं है। बिलकुल असाम्प्रदायिक अर्थ है। प्रसक्तानां कर्मणाम् माने आपके जीवनमें हिंसा, असत्य, चोरी थी उसको तो आपने धर्मका आश्रय लेकर अधर्मके रूपमें छोड़ दिया। अब आपके जीवनमें जो विहित कर्म हैं, अग्निहोत्र, यज्ञ जो धर्मसे प्राप्त हैं, उन कर्मोंका त्याग करो।

•

## : २९ :

२-७-७५

जो अपना स्वरूप नहीं है, वह अपने स्वरूपके रूपमें मान लिया गया है। साधन जितने होते हैं, वे कुछ नया पैदा करनेके लिए नहीं होते। जो गलत-गलत बातें हमारे साथ जोड़ दी गयी हैं, उनको हटानेके लिए होते हैं। अब गलत-गलत बातोंको हटानेके लिए यदि वैसा ही साधन हो, एकदम गलत, तो वह कमजोर भी पड़ सकता है। परन्तु साधनमें स्वरूपकी अनुरूपताका बल हो, अपने स्वरूपके अनुरूप होना ही बल है।

हम छोटी उमरके थे, खलिहानमें सोते थे। एक जगहसे गलत कामकी सलाह आयी। वह हमारे गाँवमें छोटी जातिका था और उमरमें हमसे बड़ा था। वह तो आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। वह बोला—'भैयाजी, यह काम आपके लायक नहीं है।' जातिका वह चौधरी था। वह तो पञ्चायत करता था।

यदि आप अपने स्वरूपके अनुरूप काम नहीं करते हैं तो, विद्वान् होकर मूर्खता, धनी होकर कृपणता, बड़े होकर अनुदारताका काम करते हैं तो यही कहना पड़ेगा कि यह काम आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है। तो काम करते समय तो आप चीजको महत्त्व देते हैं। अपनी कीमत बिलकुल भूल जाते हैं। हमारे पितामहकी मृत्यु होनेके बाद हम खेतीके काममें लगे। लष्टंपष्टं चलता ही था सब—बोवाई, जुताई होती थी। मजदूरोंको मजदूरी भी मिलती थी। खाने-पीनेका काम चल रहा था। एकने कहा, तुम अपनेको काम लगा रहे हो, अपनी तनख्वाह आमदनीमें जोड़ दो तो देखो, कुछ मिलता है कि नहीं? जब हम अपनी तनख्वाह जोड़ देते थे तो खेतीकी आमदनीमें घाटा ही घाटा था। कुछ मिलता नहीं था। बहुत बरसों पहलेकी बात सुना रहा हूँ।

हम दुनियामें जो काम करते हैं, उसमें अपना मूल्यांकन भूल जाते हैं। दुनियाकी चीजोंकी कीमत बढ़ जाती है जब हम अपना मूल्यांकन कर लेते हैं, जब भूल जाते हैं तो दुनियाकी चीजोंकी कीमत घट जाती है। आप खुद चोर-बेईमान होकर, चोरी-बेईमानी कर रहे हैं, यह आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है। आप जो मुहब्बतमें फँस जाते हैं, पक्षपात आजाता है, भाई-भतीजा, अपना-पराया। जब पक्षपातमें आप फँस जाते हैं, अन्याय, क्रूरता आ जाती है। यह आपके स्वरूपके अनुरूप नहीं है।

आप अद्वितीय हैं, दूसरा कोई है ही नहीं जिससे आपका संग हो। यदि तत्त्वरूपमें आप अद्वितीय हैं तो द्रष्टारूपसे आप असंग रहेंगे। जब आप द्रष्टारूपसे असंग रहेंगे तो आपके अन्तःकरणमें भी जो असंगता प्रतिविम्बित होती है वह वैराग्यके रूपमें मालूम पड़ेगी।

ब्रह्मात्मैक्य-बोध होनेपर अद्वितीयता, द्रष्टा-भावमें स्थिर होनेपर असंगता और उनका अन्तःकरणमें ठीक-ठीक प्रतिविम्ब होनेपर

वैराग्य। तो परमार्थतः आप अद्वितीय ब्रह्म हैं, व्यवहारतः आप असंग द्रष्टा हैं। वैराग्य आपका स्वभाव है। जीवनमें जो राग-द्वेषकी गड़बड़ी आगयी है वह तो आगन्तुक है और वैराग्य तो आपका स्वभाव है। हजारोंमें मिले, बिछुड़े, न कोई घसीटकर आपको ले गया और न किसीको आप बाँधके रख सके। मरनेवाले मरते रहे, जन्मनेवाले आते रहे! आप तो ज्यों-के-त्यों हैं।

वेदान्तका एक गुर—फार्मूला आपको बताता हूँ—अपनी ब्रह्मता ज्यों-की-त्यों सहज है। इसलिए वैराग्य भी सहज है। चाहे कितना भी जोरसे किसीको पकड़ो, हाथ ढीला पड़ जायगा। है कि नहीं? हमेशा कसकर कहीं पकड़ सकेंगे! आप अपने दाँतको मुचमुचाकर बैठिये। कबतक बैठे रह सकेंगे? देखिये। अस्वाभाविक स्थिति हो गयी न! तो जिस प्रकार दाँत, मुट्ठी दबाकर ज्यादा देर नहीं बैठ सकते, दुनियाकी किसी चीजको पकड़कर भी ज्यादा देर नहीं बैठ सकते। ढीला पड़ जाता है।

एक पार्टी गंगोत्रीकी यात्रा कर रही थी, भैरवघाटीके पास उनके सोलह वर्षके लड़केका रास्तेमें पैर फिसल गया। उसने हजार फुट नीचे गिरते-गिरते एक पेड़की डाली पकड़ ली। गिरनेसे वह बच गया, परन्तु वह डाली बिलकुल गंगाजीमें लटक गयी। उसके साथ उसके दादा, चाचा, बाप और छह भाई थे। उनमें-से किसीकी उस पेड़पर जानेकी हिम्मत न हुई। गाँवसे लोग बुलाये गये, रस्सा डाला गया, लेकिन वह भी उसतक न पहुँचा। चौबीस घण्टेतक वह लड़का बिना खाये-पीये, उस डालीको पकड़कर लटका रहा। अन्तमें लड़केने कहा, 'हम अब टँगे नहीं रह सकते।' डालको पकड़कर लटककर रहनेसे तो मर जाना अच्छा। उसने डाल छोड़ दी और गंगाजीमें गिर पड़ा।

तुम जो सोचते हो कि दुनियाको हम हमेशा पकड़े रहेंगे या

दुनिया हमको पकड़कर रहेगी। उसे छोड़कर तुम जिन्दगीभर नहीं रह सकते हो और पकड़कर तुम दो-चार दिन भी नहीं रह सकते। यह दुनियाका स्वभाव है। वह तो छूटेगी।

परसों एक सज्जन हमारे पास आये थे। उनके चार लड़के हैं। तीनके व्याह तो उन्होंने अपनी पसन्दसे किये थे। चौथेने अपनी पसन्दसे किया। तो जिसने अपनी पसन्दसे लवमैरेज किया, रजिस्ट्रीसे, उसका हो गया तलाक। वह चार बरसोंसे अकेला, विधुरका-सा जीवन बिता रहा है। जिन्होंने पिताकी मरजीसे किया, वे बड़े सुखी हैं। उनका प्रेम बढ़ गया है। हम यहाँ आपको वैराग्यकी बात सुना रहे हैं। व्याहकी नहीं।

संसारके सम्बन्ध, प्रेम, व्याह सब अस्वाभाविक हैं, टिकाऊ नहीं है। एक घोंघापन्थी-दकियानूसी बात सुनावें। हम तो उसे समातन धर्मकी बात मानते हैं। परन्तु दूसरे लोग घोंघापन्थी, दकियानूसी बताते हैं। ब्याह होनेपर जो प्रेम होता है, वह टिकाऊ होता है। बीचमें धर्म आजाता है। बीज धर्म और अंकुर प्रेम हो तो वह प्रेमको टिकाता है। परन्तु पहले हुई वासना-जाम माने आजकलकी भाषामें प्रेम और बादमें हुआ व्याह, तो बीचमें धर्म न होनेसे वासना पूरी होनेपर प्रेम ढीला पड़ जायगा। एक जगह वासनाका गुलाम है, वह ब्याह और एक जगहपर धर्मकी गुलाम है वासना। ये सब पुरानी बातें जिनकी दृष्टिमें निस्सार हैं उन्हें सुनाता हूँ कि उन बातोंमें कुछ तत्त्व था। लड़का कमाई करने लगेगा तब व्याह होगा, यह अर्थदृष्टि है। बड़ा हो जायगा तब ब्याह करेंगे—यह कामदृष्टि है।

बम्बई आनेके बाद कभी-कभी ज्ञान-भक्तिकी बातें तो मैं कर लेता हूँ। परन्तु धर्मकी बातें छूट गयीं। अब यहाँ किसको बतावें कि क्या खानेसे क्या हानि-लाभ होता है? आप यह समझिये कि

वेदान्तकी साधना वही है जो अपने सच्चे स्वभावका उन्मेष है। वैराग्य बनावटी नहीं है। कान छिदवाकर उसमें मुद्रा पहननेका नाम धर्म नहीं होता है। पंचाग्नि तापना तप है, वैराग्य नहीं है। किसी चीजको छोड़ देनेका नाम वैराग्य नहीं है, तप और त्याग बाहरी होते हैं। वैराग्य अन्तरंग है।

जबतक अज्ञान है, तबतक अज्ञानजन्य वृत्ति हैं। जब आँख खुल गयी, विवेककी दृष्टि जाग्रत हुई तो आप देखेंगे कि 'हमारी आँखें विरक्त हैं।' कितनोंको देखा, कितनोंको छोड़ दिया और कितनोंको सुना और फिर सुनकर कितनोंको छोड़ दिया, ज्ञान चाहे कहीं भी होगा हमारे कान विरक्त हैं। ज्ञान विरक्त और असंग ही रहेगा। ज्ञान यदि संगवान् हो जाय तो वह ज्ञान नहीं। यह बड़ी मौलिक बात है कि आप हैं वैराग्यवान्। आपने कितने नोटके बंडल, हीरा-मोती छोड़े हैं। कितने जेवर तोड़कर बनवाये हैं। डिजाइन पुरानी पड़ गयी। इसीमें सुनारोंका फायदा है। परन्तु आपने कितने जेवरोंसे प्रेम किया है और छोड़ दिया है। कितनी साड़ियोंसे और कितनी कमीजोंसे प्रेम किया है और छोड़ दिया है। आजतक उनका नाम भी सुननेको नहीं मिलता। वह अतलस और गजी। आजकल तो नायलोन टेरीलीन। आपने खादीसे कितना प्रेम किया और छोड़ दिया है। वह पगड़ी जो आपके बाप-दादा पहनते थे। अब भी उसका फोटो मिलता है। मारवाड़ी, गुजराती स्त्रियों और भाटियाओंके घरमें वह बड़ी-बड़ी पगड़ी जो बाप-दादाकी पुरानी पोशाक है, वह कहाँ गयी? स्त्रियोंका चालीस गजका लहँगा कहाँ गया? कितनी पोशाकोंसे अबतक आपने प्रेम किया और छोड़ दिया? आप वैराग्य ही करते रहे। आप विरक्त ही रहे, परन्तु आपने अपनेको नहीं समझा कि 'मै विरक्त हूँ,' 'मेरे अन्तःकरणमें वैराग्य है।' आपने अपनी आँख नहीं समझी, रूप नहीं

समझा, दिन नहीं समझा। दुनियाका रूप समझा। कहाँ आप फँसे? कहीं नहीं फँसे। इस वैराग्यमें बात क्या है? शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आप प्रवचनके पहले बोलते हैं 'ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः' परन्तु तनाव तो उस पकड़में है जिसे आप छोड़ते नहीं। छोड़ना पड़ेगा। भर्तृहरिका एक श्लोक है। बाल्यावस्थामें हमें वह बहुत अच्छा लगता था।

**वयं येभ्यो जाता चिरपरिगता यैव खलु ते।**

हम जिनसे पैदा हुए थे, बहुत दिन हुए वे चले गये।

**समं संवृद्धाः स्मरण-पदवीं तेऽपि गमिताः।**

जिनके साथ खेल-खेलकर हम बड़े हुए, उनकी याद अब कभी-कभी आती है।

**इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतनाद्**

अब हमारी यह हालत है कि मरनेका समय—क्षण-क्षण नजदीक आता जा रहा है।

**गता तुल्यावस्थ सिवातिलनदीतीरतरुभिः॥** (वैराग्यशतक ३७)

जैसे 'नदीके तटपर कोई पेड़ खड़ा हो, और अब लहर आयी और पेड़ गिरा' वैसी ही हमारी हालत है।

सबको जोड़ते गये, परन्तु देहके छूटनेका खयाल ही नहीं है। संसारकी ये जो चीजें हैं, वे एक दिन 'जरूर जायेंगी' भले दस दिन ज्यादा रह जायँ, परन्तु एक दिन जरूर जायेंगी। जब ये छूटनेवाली हैं तो ये हमें छोड़कर चली जायँ, इसकी जगहपर हम इन्हें क्यों न छोड़ दें? लोग बोलेंगे कि जब इन्हें छूटना ही है तो चाहे हम इन्हें छोड़ें या वे हमें छोड़ें इसमें फरक क्या है?

यदि वे स्वयं चले जायेंगे तो वे हमें दुःख देकर चले जायेंगे कि 'हाय! हाय!! चले गये।' यदि हम उन्हें छोड़ देंगे तो हमें शान्ति

मिलेगी। किसीने कहा, 'महाराज! मनमें बड़ी अशान्ति है।' मैंने कहा—'भाई, हम अशान्ति तो दूर कर देंगे, पहले बताओ, तुम्हारे मनमें क्या इच्छा है?' 'कोई इच्छा नहीं है महाराज!' तो फिर वह बेवकूफ है, नासमझ है। इच्छा न हो और अशान्त हो, ऐसा कैसे हो सकता है? या तो तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज आगयी है, जिसको हटानेके लिए तुम व्यग्र हो रहे हो अथवा किसी चीजको बुलानेके लिए व्यग्र हो रहे हो और उसे आनेमें देर हो रही है।

यदि तुम किसी चीजको हटाना-सटाना-बुलाना नहीं चाहते हो तो तुम्हारे मनमें बेचैनी किस बातकी? बेचैनीका कारण है—'मनमें प्रबल इच्छाओंका होना।' आप मनमें उन्हें रखना चाहते हैं और शान्ति भी चाहते हैं?

इच्छा नहीं है और अशान्ति है! सोचो तुम और गहराईसे सोचो। तुम कुछ ऐसा चाह रहे हो, जिस चाहके कारण तुम आह-आह' कर रहे हो। अशान्तिका हेतु बाहर नहीं, तुम्हारे मनके भीतर है। तुम्हारे मनसे गरमी-बरसात-जाड़ा कभी नहीं होगा। तुम तो एक अशक्यानुष्ठानकी बात कर रहे हो! तुम्हारे वशमें नहीं है, ऐसा करना चाहते हो! तुम्हारे मनमें इच्छा है, उसे छोड़कर, तान दुपट्टा सो जाओ।

कोई महिला बोलेगी—'हमारे पतिदेव गये हैं बाहर! वे तो चार बजे सुबहतक आयेंगे। तबतक मैं खाऊँ कैसे? सोऊँ कैसे? पातिव्रत धर्म ठीक है, वह तो यही कहता है! परन्तु रात आठ बजेसे सुबह चार बजेतक तुम्हारा जो जागना है, वह तुम्हें खोखला बना देगा। तुम किसी कामके नहीं रहोगे। रोनेका, चिढ़नेका, गाली देनेका और ताना मारनेका स्वभाव हो जायगा। अरे बाबा! तान दुपट्टा सो ज़ाओ। हम आपको पातिव्रत-धर्मकी शिक्षा नहीं

दे रहे हैं, आपके मनमें सुख-शान्ति आजाय, उसकी शिक्षा दे रहे हैं।

'उन्होंने हमको यह नहीं दिया,' आप निश्चय कर लीजिये कि वे तुम्हें नहीं देंगे, तब भी तुम्हारे मनमें शान्ति रहेगी। देखो, मनमें शान्ति आजायगी। समग्र दुःखोंका मूल तुम्हारी इच्छाएँ हैं, कामनाएँ हैं। क्रोध तो तभी आता है, जब तुम्हारी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। लोग कहते हैं—'लोग बड़े बेबकूफ हैं।' तो क्या तुम बड़े समझदार हो कि जिसे दुनियामें सब बेवकूफ ही दीखते हैं।

आपने सुना ही होगा, जब आदमी पागल होता है तब वह समझता है कि 'मैं ही अकेला समझदार हूँ, दुनियाके सब लोग पागल हैं।' तुम भी कभी-कभी उसीके नजदीक पहुँच जाते हो, जब सोचते हो कि 'मैं अकेला समझदार हूँ और दुनिया पागल है।' अशान्तिका कारण क्या है? जबतक तुम दुनियासे बेपरवाह बेख्वाहिश नहीं रहने लगोगे, तबतक कैसे तुम्हारा मन शान्त रहेगा और अपने स्वरूपमें शान्त रहेगा।

एकबार हमारी आँखमें मोतियाबिन्द आने लगा तो लोगोंने डराया कि 'अब क्या होगा?' मैंने कहा, 'होगा क्या? जिन लोगों-की आँख नहीं है वे कैसे रहते हैं? हमारे बड़े महाराज स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज हैं, वे कैसे हैं? बड़े आनन्दमें रहते हैं। उनको आँखकी कोई फिक्र नहीं है। शरणानन्दजी महाराज हैं, उनको आँखकी कोई फिक्र नहीं है। आँख होनेसे ही आदमी सुखी रहता है? नहीं तो नहीं सही? वह तो आँख न होनेपर भी, आँख कमजोर हो और देखने-पढ़ने, लिखनेकी इच्छा हो तो वह दुःखी है। नहीं तो चार व्यक्ति उसे पकड़कर चलेंगे। जो कभी सेवा नहीं करते थे, वे भी सेवा करेंगे। सारी चिन्ता मिट जायगी।' असलमें शान्ति मनमें तभी है जब हम कुछ नहीं चाहते। अपनी

पूर्णतामें कुछ चाहना गड़बड़ है और कुछ भी न चाहना सहज स्वभाव है।

आप बताइये, आपकी आँख अपने प्यारेको कबतक देखती है? फिर तो अपने प्यारेके बिना दुनिया ही देखनी पड़ती है न? सोते हो तब आँख बन्द रखते हो, चलते हो तब धरती देखते हो, रात होती है तो आसमान देखते हो! मतलबकी बात इतनी ही है कि अपनी जिन्दगीमें आँखोंसे देखनेका जितना मजा है, उतना ही मजा दुनियाको अपनी आँखसे न देखनेका है। बराबर तौलके देख लो, तराजूपर! छह घण्टेतक सोना है, आँख बन्द करके बैठना है, सोचते समय कुछ न देखना है। जितनी देर कृष्णपक्ष है, उतनी ही देरका शुक्लपक्ष भी होता है।

आपको खुली आँखका मजा तो आता है, बन्द आँखका नहीं आता है। यह आपके जीवनमें एकांगीपना आगया है। अच्छा, आपका हाथ कितनी देरतक काम कर सकता है? बारह घण्टे मशीन चलाते हैं? नहीं। आठ घण्टे? हाँ। अच्छा आठ घण्टे मशीन चलाते हैं तो सोलह घण्टे आप क्या करते हैं? जैसे हाथोंका चलना आपके लिए हितकारी है। 'चलनेवाले सुख'को तो आपने समझ लिया है, बन्द रहनेवाले सुखको नहीं! तो यही दुःख है। आपके पाँव चौबीस घण्टेमें कई घण्टे चलते हैं? ऐसी-ऐसी बातें हैं दुनियामें! लोग बोलते हैं, 'अरे चले बिना तो कैसे रहा जायगा?' जैसे बारह घण्टे रहते हैं, वैसे रहो! ये सब मनमें फालतू बातें आगयी हैं।

योगी लोग चाहते हैं कि दुनिया भूल जाय और तुम चाहते हो कि दुनिया बनी रहे। अब यही इच्छा तुमको दुःख देती है। एक महात्माकी आँखें कमजोर पड़ गयीं और अकेले रहते थे, तो मैंने पूछा—'आप अकेले कैसे रह सकते हैं? बिना आँखके कैसे आपका काम चलेगा?'

वे बोले—'अरे भाई! दुनिया दिखे नहीं इसलिए तो तीन-तीन घण्टे आँख बन्द करके बैठता हूँ। जबरदस्ती बैठता हूँ। यदि चौबीस घण्टे दुनिया दीखनी भगवान् बन्द कर दे तो यह तो उसकी कृपा है! हमारे मनमें जो बेकली-डर है, वह तो एकदम झूठा है। आदमी जंगलमें भटकता रहता है कई दिनोंतक तो पत्ते खा-खाकर रहता है। हम अपने अन्तःकरणको क्या करना चाहते हैं? बिलकुल ठप। दुनियाकी कोई बात न सोचे तब! मनमें इच्छाएँ न उठें—दुनियाकी किसी चीजके लिए उसका नाम शम है। हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर न दौड़ें, उसका नाम दम है। परन्तु यह बिना वैराग्यके नहीं हो सकता।

मैंने आप लोगोंको कई बार सुनाया होगा, सन् '२६ में पहले-पहल मैं वृन्दावन आया था। तब मैं जगतगंजी जूता पहनता था बनारसी, दो रुपयेमें आता था। लाल-लाल! मैं ठीक आँगनमें बिहारीजीके सामने आया और जूता निकालकर रखा। फिर ऐसे खड़ा रहा, जहांसे आँगनमें जूता भी दिखे और बिहारीजीके दर्शन भी हों। जब बोलने लगा—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव,' फिर जूतेपर नजर गयी और मुँहसे निकलता रहा, 'त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' आप शम-दम चाहते हैं, उसमें बिहारीजीके दर्शन-में आनन्द कहाँसे आयेगा? दुनियाको इकट्ठी करके बाहर कर दी और आँख बन्द करके बैठ गये! तो कबतक 'आँख बन्द करके बैठोगे?' खोलना पड़ेगा न; देखनेके लिए? यही तो है। बाहरकी वस्तुओंमें महत्त्वबुद्धि करके कोई चाहे कि हमारी इन्द्रियाँ शान्त रहें, दान्त रहें, सधी रहें तो कैसे सधी रहेंगी?

तितिक्षा—जरा-सी भी तकलीफ यदि नहीं सहोगे, तो कैसे होगा? एक साधु थे फक़ीर! मैं उनके पास जाता था तो बड़े प्रेमसे बात करते थे! और कभी-कभी मूड बिगड़ा रहता तो गाली भी देते

थे। और गाली भी बिलकुल देहाती प्रोग्राम ! माँ-ब्रहन-बेटीकी ऐसी गाली देते थे। एक दिन मैंने जब वे खुश थे तब उनसे पूछा- 'आप गाली क्यों देते हैं ?' फिर बिगड़ गये और दो-चार गाली दी। फिर शान्त हुए तब बोले, 'देखो अभी तो तुम बच्चे हो सोलह-सत्रह वर्षके। हमारी गाली तुम्हें बुरी लगती हैं। तुम हमें गुरु, साधु, फकीर, माता-पिताके समान मानते हो। अभी तुम्हारी जिन्दगी बहुत लम्बी है। न जाने तुम्हें कहाँ-कहाँ रहना पड़ेगा, किसका-किसका व्यवहार तुम्हें मिलेगा। यदि तुम हमारी गाली नहीं सह सकते तो दुनियाकी गाली कैसे सहोगे ? बरदाश्त करनेकी भी आदत चाहिए। जो बरदाश्त नहीं कर सकता, उसे दुनियामें कोई सिद्धि, कोई सफलता नहीं मिल सकती। बिना तकलीफ उठाये कोई सिद्धि मिलती है? पीडोद्भवाः सिद्धयः। सिद्धि-का उदय पीड़ासे होता है। जो पीड़ा-तकलीफ सहता है, उसे सिद्धि मिलती है।

भूख सह लो, इससे सिद्धि मिलेगी। सह लो तारीफ मिलेगी। गरमी-सरदी सह लो, सब जगह सुखी रहोगे। बरदाश्त करनेमें बड़ी भारी सिद्धि मिलेगी। आदमी अपने मनको महत्त्व देता है। वह गुरुमुख नहीं हैं, मनमुख है। महात्माको महत्त्व नहीं देता है, अपने चार-दोस्तको महत्त्व देता है तो भाई मेरे ! तितिक्षा करो।

**न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम्**

देखिये,चोरी, बेईमानी, जारी, झूठ तो किसीको नहीं करना चाहिए। लेकिन जो कर्म हमें आत्मचिन्तनसे विमुख बनाते हैं और कहते हैं कि 'तुम यह करोगे तो यह मिलेगा, तुम यह करोगे तो यह मिलेगा।' आपके ध्यानमें जितनी ही ऐसी बातें है कि तुम यज्ञ करो तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। आपको यह बात कैसी लगती

है ? यह ऐसा ही है, जैसे कोई बच्चेको कहे कि 'बेटा, तुम यह काम कर लो तो तुम्हें हम मिठाई खिलावेंगे !

एक हमारे मित्र बम्बईमें ही हैं। उनके तीन-चार छोटे-छोटे बच्चे हैं। उन्होंने उनको कहा कि 'तुम लोग रोज भगवान्के नामकी माला फेरा करो। जिसकी माला ज्यादा होगी उसे एक मालापर दो आना ज्यादा मिलेगा।' एक दिन एककी माला खूब बढ़ गयी। उसे पैसा मिला। किसीकी कम रह गयी तो उसे नहीं मिला। एकको मिले तो दोको न मिले। उन्होंने आपसमें सलाह की कि एक दिन एककी माला बढ़े तो दूसरे दिन दूसरेकी और तीसरे दिन तीसरेकी। तो सबको पैसा मिले। माँ-बापकी समझमें भी आगया। माला फेरेंगे तो पैसा मिलेगा। लालचसे जो काम कराया जाता है, उससे एक तो तुम्हारे आत्माका गौरव कम होता है, उसका गौरव बढ़ता है जिसको पानेके लिए तुम काम करते हो। दूसरे, तुम्हारे मनकी आदत बिगड़ती है, जिससे तुम काम करने लगते हो। अपने मनको तुम क्यों बिगाड़ते हो ?

लालच दे-देकर जो काम कराये जाते हैं वे विहित हैं। यज्ञ करो। अखबारमें छपता है इसके लिए। एकके घरमें कोई मर गया तो वह बोला—'स्वामीजी ! अब इस प्रसंगमें सब अखबारोंमें हमारा नाम छप जाना चाहिए। किस प्रकार अपनी इज्जत, अपना नाम बढ़ाना आप चाहते हैं ? यह मनुष्य लालचसे जो काम करना चाहता है, बात चाहे लोककी हो या परलोककी काम करनेमें यह देखना है कि हमारा दिल साफ है कि नहीं। तुम्हारा दिल साफ है तो काम ठीक है। गन्दा, कामनासे कलुषित हो तो छोड़ देना चाहिए। कामनासे किये जानेवाले कामको छोड़ देनेमें कोई कठिनाई नहीं है।

अब देखिये दुनियाकी ओरसे बेफिक्र होकर, बैठो गुरुके पास। यह साधन है।

ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं चिरं नित्यनिरन्तरं मुनेः।
( ७२ पूर्वार्ध )

आप बनावटीका ध्यान मत कीजिये। बरफका ध्यान करें या मोतीका? आइसक्रीमका ध्यान क्यों करें? खानेके लिए और मोतीका ध्यान क्यों करें? पहनने या तिजोरीमें रखकर धनी बननेके लिए। नहीं, जिस पानीसे मोती और बरफकी डली बनो है, उस पानीका ध्यान करो तो तुम्हारे मनकी कामनाएँ शान्त हो जायँगी। 'तत्त्व-ध्यान' चाहिए, सोनेके बने भस्मका ध्यान करोगे दवाके लिए और जेवरका ध्यान करोगे पहननेके लिए। ज्यादा सोना इकट्ठा करोगे अपने धनी बननेके लिए। तो जपसे क्या होगा? जैसे आपके शरीरपर पसीनेसे माटी हो जाती है, वैसे विराट्के शरीरमें पानीसे माटी बनती है। पानी कहाँसे आता है? जब शरीरमें गरमी लगती है तब गरमीसे पसीना आता है। आप तेजसे माटीका नहीं पानीका, पानीका नहीं, गरमीका ध्यान करो। गरमी कैसे होती है? हलचलसे। हलचल कैसे हाती है? वायुसे। वायुका ध्यान करो; वायु कहाँ होती है? आसमानमें। आसमान कहाँ मालूम पड़ता है? ज्ञानमें। तो ज्ञानका ध्यान करो। जबतक आप सुनेंगे नहीं—श्रवण चाहिए, क्योंकि आपकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। वे आपको छोटी-छोटी चीजोंमें फँसा रही हैं।

●

## : ३० :

३–७–७५

**न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ।**

वे कहते हैं कि जब आपको वेदान्त-श्रवण करना हो, तब शास्त्रीय कर्म-विस्तार जो आपको प्राप्त हैं, उसका भी परित्याग कर दीजिये। आप पहले एक बातपर ध्यान दीजिये। जब भौतिक अनुसन्धान करते हैं, तब उसका नया परिणाम प्राप्त होगा, यह

हमें मालूम नहीं है जो कुछ भी मिलता है, उसे ढूँढते-पाते हुए हम आगे बढ़ते हैं। असलमें यह संशयवाद आतमवाद नहीं है। ईश्वरवादमें, भूत-भौतिकवादमें संशयके लिए स्थान है। परन्तु स्वरूप-निश्चयमें यह नहीं है। प्रकारमें, सत्तामें संशय है, स्वरूपमें संशय नहीं है, यह 'कैसा है', यह तो हो सकता है, परन्तु है कि नहीं, यह संशय नहीं हो सकता।

संशयके दो भेद हो गये। ऐसा है कि वैसा है यह संशय प्रकारगत संशय हो गया। 'है कि नहीं'—यह स्वरूपगत संशय नहीं होता। पुकारगत संशय है कि सगुण है कि निर्गुण है ? कर्ता है कि अकर्ता, भोक्ता है कि अभोक्ता इसमें कोई संशय नहीं है। संशय-संशयमें भी अन्तर होता है।

जब हम दूसरेको ढूँढते हैं तो क्या मिलेगा यह मालूम नहीं रहता। क्योंकि वह है और उसीको पाना है। अब दूसरी बात देखिये। बाह्य अनुसन्धान लक्ष्यहीन होता है कि हमें कहाँ पहुँचना है, और अन्तर अनुसन्धानमें हमेशा लक्ष्य रहता है कि हमें क्या पाना है ? एक आदमी चला रहा है मोटर और उसे मालूम नहीं है कि उसे कहाँ जाना है ? वह कर्म तो कर रहा है, परन्तु उसे गन्तव्यका तो ज्ञान ही नहीं है कि उसे कहाँ जाना है ?

जन्म-जन्म-भर चलते रहो, क्या मिलेगा ? चाहे जो मिल जाय। एक वैद्य थे। वे कहते थे चाहे जिस किसी पेड़की जड़ तोड़कर ले आओ 'यस्य कस्य तरोर्मूलम्', चाहे उसमें कोई भी चीज मिला दो—'येन केन च पेषितम्', और चाहे किसी भी रोगीको दे दो 'यद्वा तद्वा भविष्यति' चाहे जो हो जाय।

इस बाह्य अनुसन्धानमें क्या नतीजा निकलेगा। खुदाई करते हैं और तेल निकलेगा कि नहीं, यह मालूम नहीं है, कोई मोटर चलावे और कहाँ पहुँचेगा यह मालूम न हो ? बाह्य अनुसन्धान

लक्ष्यहीन होता है और अन्तर अनुसन्धान अनुसन्धानके विषयका नहीं, आश्रयका अनुसन्धान है। यह अनुसन्धान किसमें किसको ढूँढ़ रहा है?

देखिये एक बात—मोटर चल रही है। कामनासे चलायी कि हम पूना पहुँचें और लक्ष्य है अपना बम्बईमें। लक्ष्य बम्बईमें हो और पूनाके लिए मोटर चलावें तो वह गलत होगा न? जिसके मनमें अकाम-पदमें स्थिर होनेकी इच्छा है और काम्य-कर्म करते जा रहे हैं, कि हमें स्वर्ग मिले, हमें बैकुण्ठ मिले, तो कर्म तो कर रहे हैं काम्य। तब उनकी गति तो होगी बाह्य परार्थकी ओर, स्थूलकी ओर, दूसरेकी ओर। चाहते हैं कि आत्म-ज्ञान, आत्मस्थिति हो जाय, आत्मानुभूति हो जाय। मोटर तो जा रही है, अनात्माकी ओर और चाहते हैं, आत्माकी प्राप्ति हो जाय। तो यह कैसे होगा?

निषिद्ध कर्मका त्याग, एक। विहित कर्ममें कामनाका त्याग दो, और विहित कर्मका भी त्याग, तीन। त्यागका त्याग, चार। बोलते हैं, तर्क! तर्क! हमने पहले सुना था—

**तर्के दुनिया तर्के बकवास तर्के मौला और तर्क-तर्क।**

मौलाका भी तर्क कर दो और फिर तर्कका भी तर्क कर दो। उर्दू भाषामें तर्क माने त्याग। त्यागका भी त्याग कर दो। जो पकड़ा है उसे छोड़ दो। हमने देखा है—एक आदमी था। उसे चार-पाँच व्यक्तियोंने चन्दनका टीका लगाया और बोल दिया, 'तुम अमुक गद्दीके आचार्य हो।' गद्दीमें तो कुछ न था। न जगह, न मकान। उनके पास पैसे थे। उन्होंने सिंहासन, छत्र, जमीन, खरीद ली। यह गप्प नहीं, सच्ची बात बताता हूँ और पचास-सौ आदमियोंको पैसे दे-देकर सिखाया कि तुम हमारे लिए ऐसे बोला करो कि अखण्डभूमण्डलाचार्यकी जय। अर्थात्, असलमें वे छोटे

थे। उन्हें बड़ी चीज मिली तो उसका अभिमान करके बैठ गये। बिखर गये।

एक आचार्यको हमने देखा। वे सम्प्रदायके शंकराचार्य थे, शंकराचार्यकी परम्परासे आये थे। जब मैं उनके पास गया, तो देखा, उनकी खटियाके पैतानेकी तरफ, केवल लंगोटी पहनकर बैठे हुए थे। हम लोग गये तो हमें बुला लिया। शरीरमें भस्म लगी है, लंगोटी पहने बैठे हैं। हमको देखकर वे बोले, 'अच्छा, आप लोग हमारे पास आये हैं तो हम अतिथिका कुछ-न-कुछ सत्कार करेंगे, उनको शंकराचार्यके पदमें बड़प्पन नहीं था। क्यों नहीं था ? उनको इतनी बड़ी चीज़ मिल गयी थी, सचमुच ! ब्रह्मत्वका ज्ञान कि उसमें शंकराचार्यका पद उन्हें तुच्छ लगता था। मामूली आदमीको शंकराचार्यका पद मिल गया तो ? हे भगवान् ! 'उनकी तो छाती कभी न झुके, सिर न झुके ! 'हम आचार्य', असलमें हीनको श्रेष्ठ मिलता है तो अभिमानका उदय हो जाता है। तादात्म्य हो जाता है। जब महान्‌को कोई छोटी चीज मिलती है तो वह चुटकी बजाने लायक होती है !

कहाँ अपना तादात्म्य है, उस बातपर विचार करना चाहिए। हम किससे मिल रहे हैं ? बड़ेसे या छोटेसे ? हमारे गांवका राजपूत कहता था 'हमें तुम क्या समझते हो ? हमने सम्राट् पञ्चम-जार्ज से हाथ मिलाया है।' वहाँ लम्बी गुड़गुड़ी हर समय चलती रहती और वह मसनदके सहारे बैठा रहता। यह अभिमानकी ही प्रणाली होती है 'त्यागका भी 'त्याग करके अपने स्वरूपमें बैठो।'

न्यासः-प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ( श्लो० ७१ )।

जो जो कर्म तुम्हारे सामने विहितरूपमें सामने आयें, उनका भी परित्याग करके। जब मालूम ही नहीं है कि मोटर चलाकर हमें कहाँ जाना है तो आओ, बैठो ! यह तो मिला-मिलाया है।

कहीं पहुँचनेके लिए मोटर मत चलाओ ! बड़ी मौजसे तुम बैठे हुए हो ! इसके बाद यह हुआ कि इससे होती है श्रुति—ततः माने उसके बाद। तदनन्तर। असलमें हमेशा कारणके बाद ही कार्य होता है। इसलिए उसके साथ बाद लगा हुआ है।

ततः माने तब होता है अपने आत्माके स्वरूपका निश्चय। जब हम पहले मोटरको बन्द कर लेते हैं; मोटरको बन्द कर लेना। तब सुन लो कि हम इस समय कहाँ हैं ? हमको जानना है कि हम कहाँ हैं ? मोटर तो एक तरफ दौड़ती जा रही है। तो कैसे मालूम करोगे ? यह है संन्यासका रहस्य।

न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम्।

तुम जो पकड़कर बैठे हो, उसे तो छोड़नेको तैयार नहीं और जो छोड़ चुके हो, उसकी यादमें डूब रहे हो ! जो मिला नहीं है, उसके बारेमें सोच रहे हो। अपना आपा ही गायब हो गया ! मालूम नहीं, हम कहाँ हैं ? पहले यह बताओ ! कभी ऐसा होता है कि जब हम रास्ता भूल जाते हैं—एक बार मैं रातको स्टेशनसे उतरा, साढ़े सातके करीबका समय था, और नव मीलके करीब घर था। हमने कहा, अबतक एक हजार दफा यह रास्ता पार किया है, चलनेमें क्या रखा है ? सब देखा हुआ है। क्या हुआ कि रास्ता ही भूल गये। धानों की क्यारी थी, निकल गये एक तरफ। चलते-चलते एक भोंपड़ी देखी तो पुकारा कि 'भाई, यह कौन गाँव है ? तो वह बोला—'अच्छा, आओ, यहाँ आगये हैं ?' हमने पूछा—'यहाँ रास्ता है ?' वह बोला—'हाँ है। सड़क पकड़ोगे तो पहुँच जाओगे !' हम तो भ्रममें पड़ गये कि भटककर कहाँ आ गये हैं ?

हम तो भटककर कामनाओंमें पड़ गये हैं ! विषयोंमें उलझ

गये हैं। देहमें आगये हैं! मालूम पड़ना चाहिए कि हम कहाँ आ गये हैं?

निश्चय होता है, तब अपने बारेमें निश्चय। श्रवण माने? आप बिलकुल श्रवण शब्दको बदल दीजिये। श्रवण माने सारे वेद-वेदान्तोंका, सद्गुरुके सारे उपदेशोंका, सारे शास्त्रोंका, 'खण्डन-खण्ड-खाद्य', 'अद्वैतसिद्धि' और 'प्रस्थानत्रयी'का परम तात्पर्य यह है कि 'आत्मा ब्रह्म है।' इस निश्चयपर पहुँचनेका नाम श्रवण है। गजल-किस्सा सुननेका नाम श्रवण नहीं है। गाने-संगीतका स्वाद लेनेका नाम श्रवण नहीं है। उसमें मजा आयेगा, आप लीन होंगे उसमें, बल्कि रसास्वादको तो उसमें दोष मानते हैं। चार प्रकार के दोष गिनाये हैं—

(१) बुद्धिकी कमजोरी।

(२) कुतर्कका होना।

(३) विपर्यय माने जो हम नहीं हैं उसको माननेमें दुराग्रह होना।

(४) विषयमें आसक्ति होना।

ये चार बातें जबतक होंगी, तबतक सुनी हुई सच्ची बात भी आपके अनुभवमें नहीं आयेगी।

ततः माने पहले दूसरी ओर चलना अर्थात् गलत दिशामें जाना बन्द करो। उसके बाद श्रुति—श्रवण करो। तुम भागे जा रहे हो और कहते हो कि 'हम कहाँ हैं?' संशय है तो संशयकी स्थितिमें भागो मत। भागना बन्द करो और पूछो कि हम इस समय कहाँ हैं?

ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्व-
ध्यानं चिरं नित्यनिरन्तरं मुनेः। ( ७२ पूर्वार्धं )

सुनकर मनन करो! सुनकर माने कानसे सुनकर नहीं। बोलना होता है कर्मेन्द्रियसे। जीभ कर्मेन्द्रिय है। श्रवण ज्ञानेन्द्रिय

है। जैसा सुनना, वैसा ग्रहण करना। कान बोल नहीं पाता, जीभ सुन नहीं पाती। जीभ बना-बनाकर बात बोल सकती है। नमक-मिर्च लगा दे! भूलसे जेंवर बट दे। उलट-पलट दे! जीभ बनाती है, कान बनाता नहीं।

आपको ज्ञान होगा, तो जीभसे नहीं, कानसे होगा। वह ज्यों-का-त्यों बता दे। बात यह रही कि ज्यों-का-त्यों बोलनेवाला चाहिए। बोलनेवाला तो 'कोई कुछ बोले।', बोले—'नहीं, ज्ञानका जैसा स्वरूप है, उसीके अनुरूप बोले'! ज्ञानका कैसा स्वरूप है? ज्ञान है 'ज्ञानमें न कर्म है, न कर्ता' ज्ञानमें कार्य और कर्ता है, यह कर्मके सम्बन्धसे है 'वास्तवमें नहीं है' यही आप देखिये। हाथके साथ आपका जो सम्बन्ध है, वह हाथके द्वारा किये गये पाप-पुण्यको आपके साथ जोड़ देता है। कर्मेन्द्रियकी उपाधिसे आप कर्त्ता और ज्ञानेन्द्रियकी उपाधिसे आप ज्ञाता हैं।

मनमें अनुकल-प्रतिकूल भावसे आप भोक्ता बनते हैं। आप स्वयंमें न कर्ता हैं न भोक्ता। मैंने एक कहानी सुनी थी। है तो बिलकुल दुनियादारीकी। एक कोई फ़ौजके अफ़सर थे और वे ट्रेनमें यात्रा कर रहे थे। वे जब बाहर निकले तो उनका डीलडौल देखकर एक औरतने उनका पीछा किया। जब वे चढ़ने लगे, तो उछलकर चढ़ गये! वह स्त्री भी चढ़ गयी। पहले तो वह बात कर रही थी, और फिर बोली, हमारी गाड़ी छूट रही है। अब वह उनके डिब्बेमें गयी तो ब्लैकमेल करना चाहा! उसने उनको धमकाया कि 'तुम हमें इतने रुपये दो! नहीं तो मैं जंजीर खींचती हूँ!' पहले तो उन्होंने उसे बहुत मनाया—'ले ले भाई, इतना ले ले'। तो वह 'और बढ़ती जाय', वे मनावें परन्तु वह न माने। अपना ही कपड़ा फाड़ डाला खींचकर! फिर जंजीर खींची। पुलिसवाले आये तो उसने बयान दिया।

पुलिसवालोंने उन्हें कहा—'इतने बड़े होकर ऐसा काम करते हैं? आपको शरम नहीं आती? ऊँची पदवीपर बैठकर ऐसा करना उचित था? हम अभी बन्द करते हैं।' पुलिसवालोंने उन्हें पकड़ते समय कहा—'तुम भी तो कुछ कहो।' वे बोले—'हम कुछ नहीं बोलते हैं। हमारे शरीरपर यह ओवरकोट पड़ा है न? उसका बयान लिख लिया गया था कि 'उन्होंने हमें दोनों हाथसे पकड़ लिया। हमारे कपड़े फाड़ दिये। हमारे तनको धरतीपर गिरा दिया।'

उन्होंने कहा, 'जरा हमारा ओवरकोट तो हटाओ।' ओवरकोट हटाया गया तो उनके दोनों हाथ ही नहीं थे। लड़ाईमें उनके दोनों हाथ कट गये थे। उनकी चिकित्सा हो गयी थी और वे तो ठीक-ठाक हो गये थे। बोलिये, अब क्या? श्रीमतीजी पकड़ी गयीं। क्यों? वह उनको व्यभिचारी बना रही थीं जिनके पास पकड़नेका साधन ही नहीं था।

हम लोग उस आत्माको उस ब्रह्मको कर्ता बनाते हैं, जिसके पास न कर्मेन्द्रिय है न ज्ञानेन्द्रिय। न अन्तःकरण है कि भोक्ता बना सकें। पुलिस भी नहीं पकड़ सकती तो यमराजके दूत कैसे पकड़कर ले जायेंगे। जब हाथ ही नहीं हैं? तो हम हाथकी उपाधिसे कर्त्ता होते हैं। पाँवकी उपाधिसे चलते हैं, जीभकी उपाधिसे बोलते हैं। यह तो सब मशीनरी है। मैं नहीं हूँ और ऑटोमेटिक चलती है। मैं चलाता भी नहीं हूँ। वह तो कम्प्यूटरमें जैसा मसाला डाल देते हैं।

पेपरमें अभी आया था, 'सांगलीमें जो परीक्षा हुई, उसमें परीक्षार्थियोंको गिनती कम्प्यूटरने की वह बिलकुल गलत थी। विद्यार्थीकी गलती न थी, कम्प्यूटरकी थी। यह तो ऐसा कम्प्यूटर है कि गलतीपर गलती! मशीन बिगड़ी हो तो? अपने स्वरूपको

समझो ! आप ये इन्द्रियाँ नहीं हैं, अन्तःकरण भी आप नहीं हैं। मात्र ज्ञानस्वरूप हैं। आप ज्ञाता भी ज्ञानेन्द्रियकी उपाधिसे हैं। कर्त्ता भी कर्मेन्द्रियकी उपाधिसे हैं, भोक्ता भी मनकी उपाधिसे हैं। आपमें न सुख है न दुःख ! यह देश-कालकी कल्पना भी आपके मनमें होती है। आपकी कितनी उमर है।

एकने कहा—'हमारी उम्र बहुत बड़ी है।' सुननेवालेने पूछा—'उसमें कई मन रूई लगी है जो बहुत बड़ी बताते हैं?' स्थूलमें बैठ गये। यह स्थूलका बना शरीर स्थूलमें जितना बड़ा होता है, सोनेमें, बैठनेमें उतना बड़ा नहीं होता। यही तो उसकी अन्तिम गति है। धूलमें से आया है, धूलमें रह रहा है, धूलमें जायगा। यही उसकी अन्तिम गति है। अपने स्वरूपके बारेमें निश्चय करना है। ऐसा समझो कि गाढ़ सुषुप्तिके समय तुम्हारे पास जो रहता है, तुम जो रहते हो, उसकी तरफ ध्यान दो ! और जो सुषुप्तिमें नहीं रहता है, वह तुम्हारे जाग्रत्के मनका विलास है। जब मन है तो वह है, मन नहीं है तो वह नहीं है !

आप क्या सोते समय मनमें पैसा-स्त्री-पुरुषको ले जाते हैं ? घर-द्वार वहाँ रहता है ? आप वहाँ देखिये, जहाँ कुछ नहीं रहता है। उस 'कुछ नहीं'को आप जानते हैं। जाग्रत् और स्वप्नसे विलक्षणताको कौन जानता है ? उस समय 'जाग्रत्-स्वप्नकी वस्तुएँ नहीं हैं,' उसको कौन जानता है ? मनमें जब देश पैदा होता है तब अपनेमें हम लम्बाई-चौड़ाई बनाते हैं। मनमें जब काल दीखता है, भौतिक सामग्री दीखती है तब हम अपनी उम्र की कल्पना कर लेते हैं, अपनेको साढ़े-तीन हाथका मान लेते हैं। यह मनकी सामर्थ्य है। उसमें उम्रकी कल्पना एक मिनट, दो मिनट, एक युग और उसमें जो मनका द्रष्टा है, उसमें देशकी कल्पना, व्यापकता; उसमें एक खास आकारकी कल्पना ! जो सुषुप्तिमें नहीं रहती। आपने अपने स्वरूपको न जानकर यह किया है।

यह स्वरूप 'अकाल' होनेसे अविनाशी है। पहले भी अविनाशी था, आगे भी रहेगा। यह स्वरूप अदेश होनेसे परिपूर्ण है, था और रहेगा। यह स्वरूप अवस्तु होनेसे चिन्मात्र है, था और रहेगा। असलमें यह अद्वितीय ब्रह्म है।

परन्तु जबतक आप यह बात सुनेगें नहीं, यह मनन नहीं करेंगे, वेद-वेदान्तका विचार नहीं करेंगे, कहीं-न-कहीं यह आपको मेंढक बनाकर रख देगा। फुदकते रहो! यदि वेदान्तका श्रवण नहीं करोगे तो—

**भजन बिनु बैल विराने होई!**

यह स्वामी शुकदेवानन्दजी बोलते थे। उनकी हलवाईकी दुकान थी। जब वे और भजनानन्दजी दोनों बच्चे थे, तब दुकानपर बैठते थे। एक बार उन्होंने देखा—'सड़क टूटी-फूटी थी और बैलगाड़ीमें खूब सामान लेकर वहाँसे कोई निकला। अब वह गाड़ी बैलसे खींची नहीं जाती थी बैलगाड़ीका पहिया अटक गया। बैल अपना घुटना लगाकर खींचना चाहे तब भी न खिचे! गाड़ी-वाला चाबुक-पर-चाबुक लगावे! अब तो शुकदेवजी महाराजके मनमें यही गाना आवे। यह पद है तो पुराना।

ये गाड़ीवानके बैल नहीं हैं, मालिकके हैं। पराये बैलको यह कैसा पीट रहा है? यदि तुम अपने स्वरूपको नहीं जानोगे तो कोई देवता बनाकर तुम्हें तुम्हारी पूजा नहीं करेगा वह तो अपना काम ही करावेगा। 'हे देवताजी! इतने रुपये हमारे घर भेज दो, एक बेटा हमें दे दो! पूजा पाकर तारीफ सुनकर भी बन्धनमें पड़ोगे।

मिश्राजी पहले जन्माष्टमीका बड़ा उत्सव करते थे। पाँच-सात साल पहले। हम सब लोग वहाँ जगह-जगहसे आते थे, बड़ी भारी भीड़ होती थी। मैं जब पहले-पहल उनके यहाँ गया तो वहाँ

तो सब लोग बिलकुल गुपचुप बैठे थे। मैंने तो वहाँ बैठकर हँसना शुरु किया, मसनदके सहारे बैठकर लटक गया। इनसे थोड़ी बात की। मिश्राजीको चाहे याद हो या न हो, उन्होंने कहा—'हमें तो आज मालूम पड़ा है कि सभामें बैठकर भी हँसते-खेलते रह सकते हैं। संसारमें कहीं गमगीन रहने का नहीं है। ईश्वरकी हँसीका नाम तो संसार है। ईश्वर जो जोरसे ठठाकर हँसा तो उसकी आवाज वेद बन गयी और हँसीका धक्का लगा, उससे दुनिया बन गयी। यह संसार तो ईश्वरकी हँसी है!

**स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः**

वाचस्पति मिश्रने लिखा है, 'सांसकी गड़गड़ाहटका नाम वेद है। आँख खुलनेपर तिरमिरे दिखे। उसका नाम संसार है। उसकी मुस्कान प्राणी है उसका सोना महाप्रलय है।

**निःश्वसितमस्य वेदाः वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।**
**स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥**

(भामतीमंगलाचरण)

भला, ईश्वरकी हँसीसे जो दुनिया बनी है, वह रोनेके लिए है? दीन-हीन, गम्भीर होनेके लिए है? अरे मुस्करानेके लिए है। मरते-मरते भी एक बार अपनी मुस्कानकी छाप छोड़ जाओ! सैकड़ों वर्षतक लोग गायेंगे कि मरते समय भी ये मुस्क-राते थे।' उनके लिए भी सामग्री छोड़ जाओ। ऐसी है यह सृष्टि। रोनेके लिए नहीं है। बिना श्रुतिके, अपने स्वरूपका निश्चय किये बिना यह बात नहीं हो सकती।

अब बोलते हैं कि 'आओ मनन करें।' झूठमूठ अक्कल लड़ाने-का नाम मनन नहीं होता। कोई कहता है, 'यह बौद्ध, जैन, सांख्य या न्यायका तर्क है।' मरे! फसेंगे ये।

मनन माने श्रुतिके अनुकूल युक्ति। देखो, यह आपको

सिद्धान्त-दर्शनकी बात सुनाते हैं। एक 'वेदान्त-दर्शन' है, एक 'सिद्धान्त-दर्शन' है। दोनों व्यासजीकी रचना है। यह हुआ कि जब व्यासजीने वेदान्त-दर्शन बना लिया तो सोचा कि इसमें-से सिद्धान्त ढूँढ निकालना बहुत मुश्किल होगा। इसमें तो बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हैं, बौद्धोंके, शास्त्रोंके खण्डन हैं। साधारण आदमी इसमें-से सिद्धान्त कैसे पकड़ेगा? तब उन्होंने सिद्धान्तकी रचना की। उसमें एक सूत्र है। सूत्र यह है कि 'जिज्ञासुके लिए प्रधान श्रवण है।' उस श्रवणके अनुसार मनन और मननके अनुसार निदिध्यासन और उसके बाद साक्षात्कार है। और जब साक्षात्कार हो गया तो उसके लिए श्रुति-श्रवण मुख्य नहीं है, निदिध्यासन है। निदिध्यासन न हो तो मनन, मनन न हो तो श्रवण! चढ़ते समय सबसे पहली निचली सीढ़ी होती है, वह उतरते समय आखिरी हो जाती है।

चढ़ते समय श्रवण-मनन-निदिध्यासनपर जाओ, साक्षात्कार हो जाय तब उतरते समय निदिध्यासन-मनन-श्रवण! श्रवण तो बाह्य व्यापार है। जिज्ञासुके लिए जो बहुत अन्तरंग है, वही ज्ञानीके लिए अत्यन्त बाह्य व्यापार है। मनन करना—यह भी वृत्तियोंकी दौड़-धूप है। वेदान्तकी एक बात सुनाते हैं। यह सिद्धान्त-दर्शनकी बात सुनायी।

'**क्रमविक्रमाभ्याम्।**' यह सूत्र है—क्रमसे चढ़ो, व्युत्क्रमसे उतरो! वेदान्त कहताहै—

**शृण्वन्तु अज्ञाततत्त्वास्ते, जानन् कस्मात् शृणोम्यहम्।**

जिनको आत्माका ज्ञान नहीं है, वे श्रवण करें। हमको सुनने की क्या जरूरत?

**'मन्यन्तां संशयवन्तः नाहं यतोहमसंशयः'**

जिनको संशय हो वह मनन करे। हमें संशय नहीं है तो मनन क्यों करें ?

**विपर्ययतो निदिध्यायेत् किं ध्यायो ऽ विपर्ययात् ।**

जिन्हें विर्पय हो, मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ, पापी-पुण्यात्मा हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ यह भी विपर्यय है। 'मैं अवधूत हूँ', 'मैं आचार्य हूँ' यह भी विपर्यय है। 'देहकी परिस्थितिको लेकर अपने आपमें आरोपित कर लेना'—इसका नाम विपर्यय है।

विपर्यय माने विपरीत। विपरीतम् पर्येति, विपरीतम् पर्ययनम्। जो तुम नहीं हो उसमें तुम्हारा 'मैं' हो गया। जिसको विपर्यय हो, वह निदिध्यासन करे। 'नाहं जीवः। शिवोऽहम्—मैं जीव नहीं हूँ, शिव हूँ, ठीक है'। करो। विपर्ययस्तु निदिध्यायेत्। किं ध्यानम् अविपर्ययात्। जहां विपर्यय नहीं, वहाँ ध्यान करनेकी जरूरत क्या है ?

**देहात्मत्वं विपर्यायं न कदाचित् भजाम्यहम् ।**

'हमको तो कभी यह देह आत्मा है' ऐसा विपर्यय होता ही नहीं। तो मनन माने श्रवणके अनुकूल चिन्तन करो। यह सुना है, वह सच है या झूठ है यह कुतर्क है। हमने श्रवण किया है उसके पक्षमें क्या-क्या युक्ति हैं ? श्रवणके पक्षमें युक्तियोंके संचयका नाम मनन है। मनन माने दुहराना नहीं होता। नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिके द्वारा नयी-नयी युक्तियोंका जो उदय है; उसका नाम मनन है। तन्मननम्।

•

## : ३१ :

४-७-७५

यह बात आपके ध्यानमें आगयी कि जब वस्तुको हम इन्द्रियोंसे अनुभव नहीं कर सकते, उस वस्तुके बारेमें, चाहे वह धर्म, उपासना, योगका फल हो, या ज्ञानका, श्रवण करना पड़ेगा। श्रवण करते-करते स्वर्ग-वैकुण्ठ आदिमें तो विश्वास हो जायगा। वैसी भावना बन जायगी। धर्म और योगमें सुनते-सुनते वैसा अभ्यास करनेकी प्रवृत्ति बन जायगी। तत्त्वज्ञानमें सुनते-सुनते आवरण-भंग हो जायगा। सुननेका फल सबमें एक ही नहीं होता है।

धर्मकी बात सुनेंगे तो अनुष्ठानमें प्रवृत्ति होगी, उपासनाकी बात सुनेंगे तो स्मरणमें और योग करेंगे तो अभ्यासमें प्रवृत्ति होगी। तत्त्वज्ञानके श्रवणसे मननमें प्रवृत्ति होगी। 'सोलहो धान बाइस पसेरी' नहीं होते हैं। सुननेसे कहीं विश्वासका उदय होता है, कहीं भावनाका, कहीं स्थितिका उदय तो कहीं आवरण-भंग। सब श्रवण एक-सरीखा नहीं होता है। आप पण्डितसे पुराण सुनते हैं न? मैंने अनेक पुराण लोगोंको पहले बहुत बार सुनाये हैं। पचास बार मैंने गरुड़-पुराण सुनाया होगा। बड़ा आदमी कोई मर जाय तो 'गरुड़-पुराण' सुननेकी प्रथा थी। उसके सुननेसे दान करनेकी इच्छा होती है। 'मरे हुएके कल्याणके लिए दान करो तो

वह स्वर्गमें जायेगा'—यह विश्वास होता है। वृषोत्सर्ग करो, नारायण बलि करो। अब गरुड़-पुराणका सुनना दूसरी चीज है और उपनिषद्का श्रवण दूसरी चीज है। माघ महीनेकी महिमा सुनना दूसरी चीज है। कार्तिक-महिमा, वैशाख-महिमा और पुरुषोत्तम-मासकी महिमाका श्रवण यह सब दूसरी चीज है। चलो पण्डितसे पुराण-कथा सुन आवें।

एक ब्रह्मविद्के संकल्पमें सृष्टि बनानेकी सामर्थ्य होती है। उसका श्रवण दूसरा होता है। ऐसा उपनिषद्में लिखा है—

**यं यं लोकं मनसा संविभाति**
**विशुद्धसत्त्वः कामयते तांश्च कामान्।**
**तं तं लोकान् जयते तांश्च कामान्**
**तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः॥**

(मुण्डक ३-१-१०)

एक ब्रह्मविद् पुरुषका संकल्प सृष्टि बना देता है। ऐसी सामर्थ्य होती है। एक नया ब्रह्माण्ड बना दे। ऐसे ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरेके साथ—श्रवणकी बात सुनावें जो सुनेंगे ब्रह्मकी बात और करेंगे भूत-भैरवकी पूजा। नहीं नहीं, आप ठीक-ठीक श्रवण करो और श्रवणमें खुचर मत निकालो। प्रत्येक श्रवण अनुभवपूर्वक—जो वचन उसका होना चाहिए—अपरोक्ष किये हुए पदार्थका जब वक्ता प्रवचन करता है, तब श्रोताको उसके श्रवणसे साक्षात्कार होता है। श्रवणका फल है अनुभव। अनुभवसे निकला हुआ वचन श्रुत होकर अनुभव उत्पन्न करता है। श्रवणके दोनों ओर अनुभव है।

श्रवण करानेवाले वक्ताका अनुभव वचनमें आरुढ़ होता है और श्रोताके कानमें प्रवेश करता है। आप जबतक विश्वासका खेल कर रहे हैं, तबतक अनुभवका स्पर्श आपको नहीं हो सकता। विश्वासके स्पर्शसे अनुभवका स्पर्श अन्तरंग है। उसमें मननकी

आवश्यकता पड़ती है। मनन माने अनुकूल विचार। सुनकर यदि तुम्हारे मनमें विरोधी विचारोंका उदय हो तो समझना कि अभी तुम्हारा अन्तःकरण शक्की है 'संशयात्मा विनश्यति।' शक्की आदमीको कभी स्थिरता भी नहीं होती। वह कभी व्यापार भी नहीं कर सकता, भोजन भी नहीं कर सकता। खाते-खाते उसे डर लग जाय कि कहीं इसमें जहर न हो! तो न होनेपर भी वह जहर हो जायगा, क्योंकि उसे उसका स्वाद नहीं आयेगा।

एक दिन एक व्यक्तिने रातको ग्यारह-बारह बजे हमको फोन किया—'मेरे पतिदेव कहीं गये हैं। अभीतक नहीं आये। मैं अकेली घरमें डर रही हूँ। उसका खयाल था कि मेरे पति कहीं मौज करने गये हैं। मैंने कहा—'बाबा, डर मत। कल आ जायेंगे। कल मालूम हुआ कि कहीं उसकी मोटर भिड़ गयी थी और पुलिसने उनको थानेमें बन्द कर दिया था। देखिये यह शंका कितनी दुःखद है।

एक सज्जन यहीं कहीं अपने ऑफिससे लौटे। रास्तेमें किसीने उनसे बात करते-करते उनकी नाकपर रूमाल रख दिया, तो वे बेहोश होकर गिर पड़े। उन्हें मोटरमें उठाकर ले गये। घरके लोग समझे कि यह कहीं गोवा चले गये हैं मौज करने! दूसरे दिन बेचारा लोणावलाकी घाटीमें कहीं था। पाँवमें न जूता, न हाथपर घड़ी, न कलम न पैसा! किसीने उसका सब छीन लिया था। अपना मन नहीं बिगाड़ना चाहिए। सबसे बड़ी सम्पदा मनुष्यके पास उसका मन है। अपने साथीके बारेमें शंका? अपने धर्मके बारेमें शंका, गुरुके बारेमें शंका, शास्त्रीय निश्चयके बारेमें शंका? भी उसके पक्षमें विचार करो कि ऐसा कहनेका क्या अभिप्राय है? शंका बहुत तकलीफ देती है।

शंका माने शं अर्थात् शान्ति, का अर्थात् काट दे। जो शान्तिको काट दे, 'शं कृन्तन्'—जिससे हम मूर्च्छित हो जायँ उसका नाम संशय। संशय माने बेहोशीकी दवा। इधर जायँ कि उधर जायँ? कुछ ख्याल ही न आवे। अपना घर ही भूल गया। संशय माने सं शयनम्—सम् उपसर्ग लगा। क्लॉरोफार्म सुँघाया गया। अनुकूल मनन करो। शास्त्रकी, हितैषीकी, गुरुकी और माँ-बापकी वाणी सुनकर अनुकूल पक्षमें विचार करना चाहिए।

मनन और उसके बाद तत्त्व-ध्यान—ध्यान कल्पनाका नहीं करना चाहिए। तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। एक सज्जन हमारे बड़े अच्छे मित्र थे। वे एक लेख लिख रहे थे। बड़ी सुन्दर लिपि, बड़ी सुन्दर भाषा! बादमें वे एक बड़ी युनिवर्सिटीके वाइस-चान्सलर हो गये थे। वे एक लेख लिख रहे थे। विषय था 'हड़ताल-तत्त्व'।

अरे, पृथिवीतत्त्व एक तत्त्व है, प्रकृतितत्त्व एक तत्त्व है, वायु-तत्त्व, आकाशतत्त्व, आत्मतत्त्व ये सब तो एक-एक तत्त्व हैं। तत्त्व माने जिसमें शकल-सूरत बनती है। परन्तु यह हड़तालका तत्त्व क्या होता है? अब यह तो लाक्षणिक प्रयोग हो गया। उसकी असलियत! 'तत्त्व' शब्दका प्रयोग हर जगह नहीं होता है। जिसमें 'तत्' और 'त्व' दोनों बनते हैं, उसका नाम तत्त्व है। इस पर आपने कभी ध्यान दिया है?

'तत्' माने परमात्मा। 'त्व' माने जीव। तत्त्व माने जिसमें जीवात्मा, परमात्माका भेद मिट जाय और दोनोंकी अद्वितीयता प्राप्त हो जाय। 'तत् त्वम्'। यह तत्त्व है, 'त्व' नहीं है। 'त्व' भी एक शब्द है। तत्त्व माने मैं-तुम; यह-वह क्या है?

तच्च अर्थात् ईश्वरतत्त्वम्। तच्च अर्थात् प्रकृतितत्त्वम्। तच्च माने जीवतत्त्वम्। तच्च, तच्च तच्च तानि। तेषाम् भावः

तत्त्वम् । स च, इदं च, त्वं च । इसका नाम है तत्त्व । वस्तुके परमार्थ स्वरूपको समझनेकी चेष्टा। लोगोंने योगियोंके मनमें एक ऐसी बात बैठा दी कि वे समझते हैं कि ध्यान माने मनका ठप्प हो जाना। मन कोई काम नहीं करता तो ध्यान हो गया। बच्चेलोग तो समझते नहीं कि ध्यान क्या होता है ?

हम गीताप्रेस-गोरखपुरमें गये थे तो वहाँ हमारे साथ एक अवधूत थे। 'हंडियावाला'। हनुमानप्रासदजीके दौहित्र थे। यह अवधूत उनके दौहित्रको अपने पास बुलाता और कहता, "बैठो हमारे पास।" फिर उनके पाँव ठीक-ठीक पद्मासनमें बिठा देता और कहता, "पीठकी रीढ़ सीधी करो ! आँख बन्द करो।" पाँच मिनट बैठाते। फिर पूछते—तुमने क्या किया ? मालूम है ?'

बालक—"नहीं मालूम"।

वे बताते—"तुमने ध्यान किया"।

जब वे बालक घरमें जाते तो लोग पूछते, तुम क्या कर रहे थे वे बताते—'हम ध्यान कर रहे थे।' तो आपने हाथ-पाँव बाँधकर पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठनेको ध्यान मान लिया।

दुनियामें बहुत-से लोग हैं जो ध्यानका रहस्य नहीं जानते। उनको ऐसा ही कुछ अंटसंट बता दिया गया है। न मनके ठप्प बैठनेका नाम ध्यान है, न पीठकी रीढ़ सीधी करनेका नाम ध्यान है। संस्कृत भाषामें ध्यानकी प्रकृति है चिन्तन। 'ध्यै चिन्तायाम्'। तो, जैसे आपको कोई चिन्ता होती है तब लगातार मन न होनेपर भी वहीं मन जाता है। 'यह रुपया नहीं मिला', 'वहाँसे रुपया नहीं मिला', 'घरवाली मायकेसे नहीं आयी'; श्रीमान् बाहरसे नहीं आये, बच्चा स्कूलसे नहीं आया'—ये सब बार-बार मनको वहाँ खींच ले जाते हैं। जब आपके मनमें कोई चिन्ता लगती है और बारबार वहीं ध्यान आता है तो उसका नाम ध्यान हो जाता है। आप उसे किम्भूत किमाकार मत बना दें।"

'ध्यै चिन्तायाम् ध्यानम्'—चिन्ता-परम्परा। एक ही वस्तुका बारम्बार चिन्तन होना। इसका नाम ध्यान है। ध्यान विक्षेपका दुश्मन है। चिन्तनाभावका नाम यदि ध्यान होगा तो वह विक्षेपका दुश्मन नहीं होगा। अभाव किसीका दुश्मन नहीं होता। अब ध्यानकी बात करें। सतत्त्व ध्यानम्। योगी लोग भी मनका ठप्प होना ध्यान नहीं मानते हैं। 'तत्रैकतानता ध्यानम्'। ( योगसूत्र ३·२ ) अर्थात् लक्ष्य वस्तुओंमें एक-तान हो जाना। वही ताना वही बाना। अपना लक्ष्य ही मनका ताना है और अपना लक्ष्य ही मनका बाना है। मनमें लक्ष्यका स्फुरण—इसका नाम ध्यान होता है। वेदान्तियोंका ध्यान विध्वंसात्मक नहीं है, रचनात्मक है। यदि रचनात्मक नहीं होगा तो अन्तःकरणको शुद्ध नहीं करेगा। मूर्ख लोग क्या करते हैं? मैं मूर्ख शब्दका प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। यह शब्द गीतामें है।

मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमायाति तत्क्षणात्।
समाध्यादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदा॥

ये मूर्ख लोग जब ध्यान-समाधि आदि कर्मसे उठते हैं, तब उनके मनमें जो मनोरथ, जो इच्छाएँ थीं, सम्बन्ध थे, वे ही फिर-के-फिर आ जाते हैं। फिर जहाँ-के तहाँ!

संस्कृत साहित्यमें एक 'न्याय' है। एक आदमी था, वह कहीं जा रहा था। रास्तेमें जो पुल लगता है, उस पर चुंगी देनी पड़ती है। उसके रास्तेमें बीचमें यह पुल पड़ता था। उसने सोचा, किसी ऐसे रास्तेसे चलें कि चुंगी न देनी पड़े। तब वह ऐसे रास्तेसे चला कि मूल रास्ता छूट गया। दूसरी तरफसे घूमकर आया तो वही घाट; फिर घूमकर आया तो वही घाट, फिर घूमकर आया तो वही घाट! सारी रात भटकते ही बीत गयी। परन्तु अन्तमें पुल परसे ही पार करना पड़ा। चुंगी चुकानी पड़ी। सारी रात बीत

गई और चुंगी भी देनी पड़ी। इसे घट्टकुटी-प्रभात-न्याय' बोलते हैं। ( घट्टकुटी = राजग्राह्य करस्थान ) फिर प्रातः काल आया, वही घाट मिलता, वही चुंगीघर मिलता। वही चुंगी चुकानी पड़ी। तो भटकते रहो! यह है भाई! अन्तमें आपको यहीं आना पड़ेगा।

यह ध्यान आपके मनमें जो वासनाएं हैं, जो विक्षेप हैं, उन्हें काटनेवाला होना चाहिए। काटनेके लिए तो समसत्ताक वस्तुका चिन्तन चाहिए। असंग लोगोंको मैं बहुत जानता हूँ! ध्यान करते समय तो वे असंग हो जाते हैं और ध्यानसे उठनेपर? उनकी असंगता रहती है? चोरी बेईमानी ब्लैक करते हैं! दूसरोंको ठगते और सताते भी हैं! क्यों जी? असंगता तो ऐसी हुई न? कैसे? जैसी हमारे बनारसमें होती है।

पहलेकी बात सुनाता हूँ, अबकी नहीं। लोग सुबह उठकर शौचालयमें जाते थे तो लाल गमछा पहनकर जाते थे। हाथमें लोटा रख लें और 'हर हर महादेव' करते गंगास्नानको जाते थे। तो फिर उसी गमछेको धोकर पहन लेते थे। स्नान करके फिर 'हर हर महादेव शम्भो' गा रहे हैं और विश्वनाथजीमें जाकर शंकरजी पर वह जल चढ़ा दिया? उसके बाद फिर घर गये! वह चुन्नट-दार धोती, लखनऊकी टोपी, और कुर्त्ता पहनते और फिर पान खाते हुए दुकानपर जाते और दूसरोंकी गाँठ ही काटते थे। वह गंगास्नान और वह 'हर हर महादेव!' यदि तुम ध्यान लगनेके बाद असंग रहनेके बाद, फिर वहीं-के-वहीं आ जाते हो तो ध्यान क्या हुआ? वह तो घूम-फिरकर वहीं जिसे 'घट्टकुटी प्रभात-न्याय' बोलते हैं। झट वहीं लौट आये! अरे भाई! रोकनेवाली दीवार होनी चाहिए। यह ध्यान ऐसा है कि जिसका ध्यान होता है, उसके प्रति प्रेम पैदा करना है! और प्रेम पैदा करके दूसरेसे

बचना है। असंगता है तो दूसरेसे बचनेका काम न करे? यह ध्यान कितना होना चाहिए। चिरकालतक और प्रतिदिन—

ततोऽविकल्पं परमेत्य विद्वा—
निहैव निर्वाणसुखं समृच्छति ॥ (७२ उत्तरार्ध)

इसके बाद विकल्परहित! अर्थात्—आप लोग कहीं कच्चे वेदान्तीसे 'निर्विकल्प' शब्द सुनके धोखेमें मत पड़ना। बात यह है कि एक ही शब्द वेदान्तमें दूसरा और योगदर्शनमें दूसरा अर्थ देता है। विकल्प, दुविधा, द्वैत। संस्कृत भाषामें एक शब्द है 'द्वैत' और एक शब्द है 'अद्वैत'। आप लोग अंग्रेजीमें जिसे डाउट बोलते हैं, वह संस्कृतके 'द्वैत' शब्दका बच्चा है। आप लोग अंग्रेजी ढंगसे बोलेंगे तो 'द' का 'ड' निकल आवेगा। 'त' का 'ट' निकल आवेगा और 'डाउट' हो जायगा तो यह जो 'निर्विकल्प' शब्द है, योगमें उसका अर्थ होता है—'निर्विकल्प समाधि।' और वेदान्तमें उसका अर्थ होता है 'निर्भ्रम अद्वैत'—भ्रमरहित अद्वैत।

कभी किसी महात्माकी समाधिका दर्शन करने गया। कबरको ही समाधि बोलते हैं न! अमुक महात्माकी समाधिपर जाना। लोक-व्यवहारमें समाधि माने कबर। मरे हुएको दफनाना। योगदर्शनमें समाधि माने सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका विकल्परहित, बीजरहित निरोध—असम्प्रज्ञात समाधि वेदान्तमें 'समाधि' शब्दका अर्थ बिलकुल निराला है।

'रस्सी जल गई ऐंठन रह गयी'—यह तो आप लोगोंको मालूम है न! कभी कोई रस्सी हो, उसमें आग लगी तो जल गयी परन्तु रस्सी राख हुई-हुई ऐंठनवाली ही दिखाई पड़ रही है। वह जली हुई है।

वेदान्तमें 'संज्ञावली' नामकी एक पुस्तक है। 'संज्ञावली' माने वेदान्तमें जो पारिभाषिक शब्द हैं उनका क्या अर्थ होता है

यह बतानेवाली पुस्तकका नाम। 'समाधि'का अर्थ क्या होता है ? तत्त्वज्ञान हो गया। आकाशके स्वरूपको जान लिया उसके लिए निलीमा क्या है ? आत्मा-परमात्माके स्वरूपको जाननेवालेके लिए प्रपञ्च क्या है ? बिलकुल वैसे ही—'वासनातृणपावकः'। जली हुई—भस्म हुई दुनिया दिख रही है। यह तो अर्जुनका रथ है। कर्णने ऐसे-ऐसे वाण मारे थे कि अर्जुनका रथ, घोड़े सब जल गये थे। परन्तु भगवान्‌ने अपनी शक्तिसे उनको अवस्थित कर रखा था। इससे रथ जैसे-का-तैसा रहा। रोज़ जब अर्जुन रथसे उतरता था, तब भगवान् उसको हाथ देते थे। जैसे ड्राइवर होता है तो वह खड़ा होकर दरवाजा खोलकर बैठाता है और उतरते समय भी। खड़ा होकर दरवाजा खोलकर खड़ा रह जाता है बल्कि मोटर स्टार्ट करके भी वैसा करता है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने सत्रह दिन तो वैसा किया, परन्तु अठारहवें दिन नहीं किया। बोले—'अर्जुन! पहले तुम उतरो! हम नहीं उतरेंगे।'

अर्जुन—'तुम हमारे सारथि हो—ड्राइवर हो!' देखो। हमारे यहाँ ड्राइवरका कितना महत्त्व है? जब भगवानके कहने पर अर्जुन पहले उतरा और फिर भगवान् उतरे तो रथ राखका ढेर हो गया। यह देख अर्जुन बोला—"अरे यह क्या ?"

रथ तो पहले ही जल चुका था। श्रीकृष्णने राखको जोड़ रखा था। जिस दिन तत्त्वज्ञान होता है, उस दिन यह शरीर और शरीरसहित सम्पूर्ण प्रपञ्च राखका ढेर हो जाता है। यह तो कहीं, किसी अनिर्वचनीय शक्तिसे; वेदान्तमें कहते हैं, प्रारब्धसे। नहीं, ईश्वर-संकल्पसे। नहीं, अनिवर्चनीय शक्तिसे। आप अपने वेदान्तके साथ इसको पटा लो कि क्या कहना ठीक है ? हम नहीं बोलते हैं। यदि आपको वेदान्तका संस्कार होगा, तो आपकी समझमें बात आजायगी।

वेदान्तमें समाधिका अर्थ है 'अद्वैतबोध'से द्वैतका भस्मीभूत होनेका भाव।

अविकल्प माने असन्दिग्ध, निर्विकल्प परमतत्त्वकी अनुभूति होती है। ऐसा क्यों कहते हो? इसी श्लोकमें है। दूर जानेकी जरूरत नहीं। इहैव माने यहीं, इसी जीवनमें। 'इहैव निर्वाण-सुखम्।'

'समश्नुते' माने समृच्छति। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्विकल्प परमतत्त्वकी उपलब्धिके बाद ज्ञानीका यह जीवन बना रहा, समाप्त नहीं हुआ। तब निर्विकल्प-अविकल्प। संसारका नाश नहीं हुआ, संसारका, अभानका और दुःखरूपताका अन्त हुआ।

इन तीनोंका अर्थ एक नहीं, भिन्न-भिन्न है। संसार दुःख-रूप है। यह अज्ञानदशामें ही मालूम पड़ता है। संसारका भान नहीं हो रहा है, यह भी अज्ञान-दशामें ही मालूम पड़ता है। क्योंकि भान अपना स्वरूप है। भानका लोप करो। होगा? समाधिका भान होगा। संसारके आनन्दका लोप अज्ञान है। भानका लोप भी अज्ञान है।

निरन्वय विनाश—प्रवाहरूपताको स्वीकार कर देना भी अज्ञान है। किसीके प्रभावमें नहीं आना। जो वेदान्तका जानकार है, उसके लिए हम एक वस्तु प्रस्तुत कर रहे हैं। यह ज्ञानका निचोड़ है।

**इहैव निर्वाणसुखं समृच्छति।**

वेदान्त स्वर्गमें, बैकुण्ठमें या समाधिमें जानेके लिए भी नहीं है। अगले जन्ममें हम महात्मा हो जायँ, इसके लिए भी वेदान्त नहीं है। इसी धरतीपर, इसी जीवनमें, इसी शरीरमें, इसी समय। आप चंडूखानेमें हैं कि गंगाकिनारे, उससे कोई मतलब नहीं। इसी स्थानमें। आप कलियुगमें हैं कि सत्युगमें,

इससे कोई मतलब नहीं। आपको इसी जीवनमें निर्वाण-सुखकी प्राप्ति होगी।

निर्वाण-सुखका आस्वादन होगा। कब ? निर्विकल्प परम-तत्त्वका ज्ञान होजानेपर। मैं आपको कई कारणोंसे उपनिषद्के वे मन्त्र नहीं सुना सकता, जैसा उसमें कहा गया है—

**एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।**

(बृहदारण्यक ४।४।२३)

ब्रह्मज्ञानीकी यह महिमा है कि कर्मसे उसकी उन्नति नही। **जक्षन् क्रीडन् रममाणः** (छान्दोग्य ८।१२।३) राजाके शरीरमें बैठकर वह खा रहा है, इन्द्रके शरीरमें बैठकर स्वर्गके भोगोंका भोग कर रहा है; रममाणः—विहार कर रहा है। एकके ज्ञानसे सर्वका विज्ञान-वैदुष्य। कितना बड़ा ज्ञानी है यह कि उसके लिए कुछ अज्ञात है ही नहीं। एकका–अद्वैतका ज्ञान उसे हो गया है। वह सर्वाधिपति है, सर्वभोक्ता है। विधिकिंकर नहीं है वह।

आप देखते हैं, एक कर्मकाण्डी है। वह सिला कपड़ा नहीं पहनता है और वह शरीरमें चन्दन और भस्म भी लगाता है। एककी जगह वह तीन यज्ञोपवीत पहनता है, दिनभरमें पचास बार वह हाथ धोता है, अग्निहोत्र करता है। वह समझता है, 'हमारे आगे साधु क्या होता है ?' परन्तु उसको यह मालूम नहीं है कि वह तो विधिकिंकर है, कानूनका गुलाम है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी ? 'न भवेत् विधिकिंकरः।'

**तस्य मे तत्र न लोक च मीयते** (कौषीतक्युप ३।१)—इन्द्रने कहा, मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। 'नाशं लोकस्य न विद्यते'—किसी भी प्रकार लोकका नाश नहीं हो सकता। यह बात कौषीतकी उपनिषद्में कही गयी है।

**इहैव निर्वाणसुखं समृच्छति।**

यहीं, इसी जीवनमें स्वर्ग है, बैकुण्ठ है और मोक्षसुख भी है। दूसरे जन्ममें नहीं है। इहैव। इसकी प्राप्तिके लिए—

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम्।
तदुच्यते मया सम्यक् श्रुत्वात्मन्यवधारय ॥ ७३ ॥

अब आपको उसके बारेमें वह जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। कौनसी ? आत्मा-अनात्माका विवेचन। आत्मा क्या है ? अनात्मा क्या है ? मैं क्या हूँ ? और, मेरे सिवाय क्या है ? आत्मा माने खुद। खुदी या खुदा भी नहीं ! खुदा माने परमेश्वर। खुदी माने अभिमान। आत्मा न खुदा है न खुदी है। तब क्या है ? खुद। आ लगा तो खुदा, ई लगी तो खुदी। कुछ न लगा तो खुद। कोई पंख लगानेकी जरूरत नहीं है। खुदामें एक सिफर लग गया तो जुदा हो गया। बस खुदा-जुदाका यही फरक है, एक सिफरका-नुक्तेका। यह उर्दू के लिखनेका ढंग है। विन्दी चाहे ऊपर है या नीचे, अर्थमें फरक पड़ जायगा। बस, एक विन्दीका फरक है। अपने आपको देखो। आत्मानात्मविवेचनम्।

मैंने पहले 'गुरुग्रन्थ साहब' पढ़ा था। 'जपजी-साहब' और 'सुखमनी-साहब', ये दो ग्रन्थ तो मैंने गुरुमुखसे पढ़े हैं। बाकी अपने आप बाँचा है। उसमें भी वेदान्तियोंकी टीका अलग है, भक्तोंकी अलग है। वेदान्ती सारे 'गुरुग्रन्थ-साहब' से वेदान्त ही निकालते हैं।

मैंने बचपनमें एक बात पढ़ी थी। क्या ? 'मैं' के बिना तो 'यह' नहीं होता है और 'यह' के बिना भी 'मैं' होता है। कैसे ? यह घडी है। यह घड़ी नहीं रहेगी तब भी मैं रहूँगा। जहाँ घड़ी है, वहाँ मैं हूँ। जहाँ घड़ी नहीं रहेगी, वहाँ भी मैं रहूँगा। दूसरी घड़ी आजायगी तब भी मैं रहूँगा। घड़ी, मेज, कुर्सी, कपड़ा ये तो अदलते-बदलते रहते हैं। कभी रहते हैं कभी नहीं रहते हैं।

लेकिन उनके रहने-न-रहने दोनों हालतमें 'मैं' रहता है। तो मैं हुआ नित्य, यह हुआ अनित्य। हो गया? साफ है न? तो ईश्वरको कहाँ ढूंढना? बचपनमें वह बात हमें अपील कर गयी। हमारी अकल पर असर डाल गयी। उसने कहा, 'तुम आने-जाने-वाली चीजोंमें ईश्वरको मत ढूँढ़ो। क्योंकि साफ दीखता है कि यह चीज तो आयी और गयी। आयी और गयी। उसमें परमेश्वरको क्या ढूँढ़ना? उसमें ढूँढ़ो परमेश्वरको जो आते-जाते रहनेपर भी नित्य रहता है। उस नित्यमें ढूँढ़ो परमेश्वरको। अनित्यमें कैसे मिलेगा? हमने यह बात जो बचपनमें पढ़ी; वैसे तो हमने भोजा भगतसे भी 'गुरुग्रन्थ-साहब'के बहुत अंश सुने थे। श्रीहरिबाबा महाराजने 'जपजी-साहब' और 'सुखमनी-साहब' पढ़ाया था। हाथमें किताब लेकर वे भी बैठते और मैं भी। हमको यह बात ऐसी जँची, ऐसी जंची! दयालदासजीसे मैंने भक्तिके बारेमें 'गुरु-ग्रन्थ-साहब'की बहु-सी बातें सुनी थीं! आपको यह बात बताते हैं कि ज्ञानकी चोरी नहीं करना। जहाँसे जो बात मिली हो, उसके प्रति कृतज्ञ होना। तो आपका दिल नरम रहेगा, नहीं तो कठोर हो जायगा। चोरी करके जो लोग ज्ञानी, व्याख्यानदाता बनते हैं, उनका माल चोरीका ही रह जाता है! चाहे टोन कैसा सुरीला हो, आपके कानोंको खींचता हो, माल चोरीका है, भला!

आप यह देखिये कि ईश्वरको 'यह-वह'में ढूँढ़ना है कि 'मैं'में ढूंढना है? 'वह' दिखता नहीं। 'यह' आता-जाता रहता है। 'मैं' नित्य रहता है। आखिर ईश्वरके बारेमें आपका खयाल तो यह है कि ईश्वर हमेशा रहता है; उसीको ढूंढ रहे हो? तो 'हमेशा रहनेवाली चीज' 'हमेशा रहनेवाली चीजमें' ढूँढ़ो! अपने आपको अपने आपमें ढूँढ़ो! परमेश्वरकी प्राप्ति होगी। इसको बोलते हैं खुद। खुदमें खुदा है। खुदमें खुदी है। खुदीको रखोगे तो मारे

जाओगे। खुदाको रखोगे तो सुख मिलेगा और स्वयं मिलेगा तो? स्वतन्त्रता का अनन्त पारावार खुदमें समया हुआ है।

'आत्मानात्मविवेचनम्'—मैं क्या और दूसरा क्या? उसका विवेचन—

**तदुच्यते मया सम्यक् श्रुत्वात्मन्यवधारय ॥**

अब मैं इस बातका वर्णन प्रारम्भ करता हूँ। आप इस बातको सुनिये। सुनकर अपने हृदयमें इसकी धारणा कीजिये, इसको समझिये। मैं एक आचार्यके पास गया। मैंने कहा, 'महाराज! आप क्या साधना बताते हैं? बताइये। तो बोले—'पहले साधन नहीं बतावेंगे।' 'तब?' पहले समझौती बतावेंगे?'। मैंने कहा—'यह समझौती क्या है?' उनके पन्थमें समझौती बोला जाता है। 'पहले हमारी-तुम्हारी समझ जब मिल जायगी तब हम करनेवाली बात बतावेंगे। जब हमारी-तुम्हारी समझमें फरक है, मत नहीं मिलता, राय एक नहीं होती, तो हमारी साधना तुम कैसे करोगे।' तो पहले समझौती करो समझौती।

जबतक बच्चा खिलौनेसे खेलता है, माँ उसे गोदमें नहीं उठाती। वह देखती है कि बच्चेको खिलौनेसे सन्तोष नहीं है, तब उसे उठाती है। बच्चा बैठकर रोये तो खड़ी हो जाती है उसे लेकर। खड़े होनेपर भी रोये तो उछालती है, उसे प्यार करती है, उसे दूध पिलाती है।

यदि तुम प्रपञ्चसे असन्तुष्ट हो तो तुम आत्मसन्तोषके भागीदार हो जाते। अवधारय!

**मज्जास्थिमेदः पलरक्तचर्म—**
**त्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरेन्वितम्।**
**पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकै—**
**रङ्गैरुपाङ्गैरुपयुक्तमेतद् ॥ ७४ ॥**

अहं ममेति प्रथितं शरीरं
मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः ।
( ७५ का पूर्वार्ध )

पहले शरीरकी बात देखो। शरीरको तुम 'मैं' समझते हो कि 'मेरा' ? असलमें आप खूनको 'मेरा' समझते हो। 'मैं' खून हूँ ऐसा नहीं समझते हो। मेरा चाम है, ऐसा समझते हो, मैं चाम हूँ ऐसा नहीं समझते हो। मेरी हड्डी है ऐसा समझते हो, मैं हड्डी हूँ, ऐसा नहीं समझते हो ! अच्छा, तो यह वेदान्तियोंके लिए भी ध्यान देने योग्य बात है। देहमें 'मैं' भाव कभी नहीं होता। जब हड्डी मैं नहीं मेरी, तो जो मैं नहीं है, मेरावाला हूँ। इसी प्रकार मैं पीव नहीं हूँ। हाथ, पाँव, आँख, कान, सिर, छाती, कुछ भी मैं नहीं हूँ, सब 'मेरा' है। बच्चुभाई ड्रेसवाला होता है, ड्रेस नहीं ! वैसे ही 'लादीवाला' लादीवाला है, लादी नहीं है। इसी प्रकार आप 'हड्डीवाले हैं, 'माँसवाले' हैं, हड्डी नहीं हैं, माँस नहीं है। तो यह देहमें 'मैं' क्या है ?

असलमें देहमें मैं—ब्राह्मणत्व, हिन्दुत्व आरोपित होता है। पहले हम कहते हैं,'यह ब्राह्मण है,'यह हिन्दू'है, 'यह संन्यासी' है। आपको क्या बतावें ? एक आदमी होता है। यह तो ईश्वरसृष्टि है। एक औरत है। वह भी ईश्वरसृष्टि है। परन्तु यह हमारा पुत्र है; पिता, पति, भाई, भाभी, ननद, नानी, माँ, बेटी, मौसी, चाची आदि न जाने कितने-कितने सम्बन्धोंका परिचय दिया जाता है। तो यह सब जीव सृष्टि है। यह सब क्या है ? बिलकुल आरोपित है। है ही नहीं। आप किसी भी पुरुषको ले लो ! चाचा है कि नहीं ? हाँ हाँ है, अपने भतीजेका चाचा तो है ही है। वह भतीजा है कि नहीं ? अपने चाचाका वह भतीजा भी है। तो फिर बताओ, वह क्या है ? चाचा है कि भतीजा ? बेटा कि बाप !

दोनों कैसे। कोई एक हो सकता है, लेकिन एक ही में गपड़चौथ कर दी गयी। एक ही मनुष्य बाप, बेटा, चाचा, ताऊ सब बन गया! कभी विचार करके देखो इस बातपर! असलमें है क्या? याता, माता, दुहिता, ननद, भाभी भाइयोंकी स्त्रियाँ आपसमें याता (मातृ) कहलाती हैं। एक स्त्री क्या है? वह फलाना है, ढिकाना है।

असलमें पहले इस शरीरमें ब्राह्मणत्व, हिन्दुत्व, संन्यासित्व आरोपित किया ज़ाता है। पहले संन्यासी नहीं थे तब? अब तो महाराज! कोई गाली दे तो ऐसे लगे, जैसे हमें ही दे रहा है। और पहले? सन् ३१ के पूर्व कोई संन्यासीको गाली दे तो ऐसा नहीं लगता था कि वह हमें दे रहा है। अब क्यों लगता है? अपनेको संन्यासी मान लिया तो संन्यासीको जो गाली दी गयी, वह मुझे दी गयी, ऐसा मान लिया। तो पहले, 'मैं देह हूँ' ऐसा भ्रम किसीको होता ही नहीं है। क्योंकि 'मैं मोटर हूँ' यह भ्रम कभी किसीको होगा! तुम पहिया हो, न धुरा। न तुम गद्दी हो, न इञ्जिन हो न पेट्रोल हो। तो तुम अपनेको मोटर कैसे मानोगे यदि तुम मोटरकी एक-एक चीज नहीं हो। तो सारी मोटर भी तुम नहीं हो।

इसका अर्थ यह होता है कि पहले अपनेको ब्राह्मण मानकर ब्राह्मणशरीर, हिन्दू मानकर हिन्दूशरीर, संन्यासी मानकर संन्यासी-शरीर मान लेते हैं और अपनेको मान लेते हैं—बाप-बेटा, भाई, चाचा, ताऊ, नाना! अरे महाराज! 'मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें।' हमारे गांवमे ऐसे गाते हैं। कचरा माने बाहर जो कूड़ा फेंकते हैं, इस कूड़ेमें हमारा हीरा खो गया। हमारा आत्मा कहाँ खो गया? कचरेमें। कहाँ? मज्जा, खून पीव, हड्डी, चाम, माँस, इनके भीतर हमारा 'मैं' खोया हुआ है।

एक बात है—आप जैसा अपने बारेमें मानते हैं; उसके आगे आप ईश्वरके बारेमें नहीं बढ़ सकते हैं! वह तो मान्यताकी अपेक्षासे ईश्वरके बारेमें बुद्धि बनती है। 'शरीरधीरात्मनि यावदस्ति' जबतक आप अपनेमें कल्पित हिन्दू, ब्राह्मण आदि मानेंगे, तबतक ईश्वरमें कल्पित आकार भी मानेंगे और वह भी तरह-तरहके मानेंगे। वह तो एक ही तरहकी बात होती है। यह छाती, भुजा, पाँव, हाथ, सिर, पीठ, अंग-उपांग हैं। इनसे जुड़के क्या क्या है? शरीर। शीर्यते—जो शीर्ण हो जाता है, सूख जाता है, फट जाता है, जीर्ण हो जाता है। जैसे आपका कपड़ा जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, सड़ जाता है। वैसे शरीर भी शीर्ण हो जाता है।

इस शरीरकी जो पूँछ है, चमचे हैं, पिछलगुएँ हैं; वह भी आप नहीं हैं। पूँछ माने चापलूस, हाँ-हजूर! आपको एक बात सुनावें—ये पण्डित लोग आपके घर आते हैं तो बोलते हैं, 'जय हो यजमान! सकुशल हो, मंगल हो!' शास्त्रमें लिखा है कि 'यदि यजमानके प्रणाम करनेसे पहले ब्राह्मण आशीर्वाद दे, तो वह आशीर्वाद उसे वज्र होकर लगते हैं।' वैसे बड़ा अच्छा लगेगा कि देखो, पण्डितजी देखते ही आशीर्वाद देते हैं। आशीर्वाद देते हैं कि शाप देते हैं? प्रणाम करनेवालेको आशीर्वाद लगता है, न करनेवालेको तो 'जय हो यजमानकी' का उलटा ही लगता है। तो यह चापलूसी, चमचागिरी, जी-हुजूरी! इससे परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती। आओ, डटकर देखो कि आपका 'मैं' कहाँ है? कचरेमें है, कचरेमें।

●

## : ३२ :

५–७–७५

अहं ममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः ।

यह शरीर है 'शरीर' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ होता है, 'जो जीर्ण-शीर्ण हो जाय ! बुड्ढा हो जाय, सड़ जाय। संस्कृत भाषामें मात्र इशारेके लिए शब्द नहीं होते। कोई-कोई शब्द ऐसे होते हैं जो अपना मतलब लगानेके लिए होते हैं। शरीरका अर्थ होता है; जो सड़-गलकर सूख जाय, जो बुड्ढा हो जाय। उर्दू भाषामें तो जो शरारत करनेवाला आदमी होता है न, उसे 'शरीर' कहते हैं। शरारत शरीरसे ही बनती है; जो बहुत ढीठ हो !

हम कहें, 'हे शरीर। तू जवान बना रह' और वह हमारी बात न माने और बुड्ढा हो जाय, तो उसका नाम हुआ शरीर ! यह शरीर क्या है ? क्षण-क्षण छीज रहा है। बच्चा था, जवान हुआ। जवान था, बुड्ढा हुआ। हम तो थोड़े नाम लेते हैं, वैसे उसकी नव अवस्था शास्त्रमें बतायी हुई हैं। पहले माँके पेटमें आता है, 'निषेक' उसे बोलते हैं। गर्भाधान होता है। वहाँसे यह जन्मना, बढ़ना होता है। 'इत्यवस्थास्तनोर्नव।' शरीरकी नव अवस्थाएँ होती हैं। इनको हम बोलते हैं मैं और मेरा ! इसमें हो जाता है

मोह—इतना जबरदस्त कि न गुरुको मानें न ईश्वरको, न देवको न आत्माको। जो कुछ है वह बस, यह शरीर ही है।

एक बात आपको पहले सुनाता हूँ कि जो सत्यका प्रेमी नहीं होता, उसे वेदान्त-ज्ञानमें रुचि नहीं होती। उन्हींको रुचि होती है जो सत्यके प्रेमी होते हैं। वे कहते हैं, 'हम झूठको छोड़ेंगे, सत्यको पकड़ेंगे। जैसे-जैसे सत्यका ज्ञान होता जायगा, वे झूठको छोड़ेंगे और सत्यको पकड़ते जायँगे। अब महाराज! पैसेके लिए, परिवारके लिए, मजहबके लिए झूठको पकड़े और बोले कि सत्य-ज्ञानमें हमारी निष्ठा होगी। अरे, जब बेटा, मजहब, परिवार, पैसा, आमदनी—इनके खिलाफ जायगा तो तुम वेदान्तके सत्यको भी छोड़ दोगे। हम इन बातोंको अच्छी तरह जानते हैं। अपना-पराया, मैं-मेरा! पैसा ले-लेकर जाना मरनेके बाद! वहाँ जायगा तुम्हारे साथ! यह मैं और मेरा, इसीका नाम संसार है।

जो दुनियामें किसी चीजको मेरा समझकर पकड़ बैठता है, वह उसीके साथ बँध जाता है। जो दुनियामें किसी शक्तिको मेरा समझकर पकड़ बैठता है, वह उसीके साथ बँध जाता है। 'मैं' के साथ बँधना और है और 'मेरा'के साथ बँधना और। ऐसा समझदार अपनेको मानते हैं, सिखाते हैं?—अपनी जो मूर्खतापूर्ण मान्यताएँ हैं, वही दूसरेको सिखाते हैं और समझते हैं कि इसीमें दृढ़ होकर बैठ जाओ। अपनेको तो मालूम नहीं, और दूसरेके बन जाते हैं शिक्षक!

अहं ममेति प्रथितं शरीरम्।

दुनियाकी कोई चीज मेरी नहीं है। यह सत्य है। कोई दिखनेवाली, बदलनेवाली चीज मैं नहीं हूँ, यह भी सत्य है। एक आदमी पूछ रहा था कि यह आत्मा क्या है?

एक फकीर थे। भजन करनेके लिए रोज एक रास्तेसे जाते

और भजन करते। 'रोज ठीक समयपर निकलें और भजन करनेके लिए जाँय,'। एक देहाती आदमी रोज उनको देखता था। कभी उनके नियममें फर्क नहीं पड़ता था, चाहे गरमी हो, वर्षा हो, ठंड हो। उसने पूछा—'तुम कौन हो जी? कहाँ जाते हो?' वे बोले—'बस, यही तलाश हमारी है कि 'मैं कौन हूँ और कहाँ जा रहा हूँ?'

यही तो हमारी तलाश है। अपनेको तो जानते नहीं और दूसरोंको जाननेका दावा करते हैं। यदि तुम्हें मालूम नहीं है कि तुम क्या-क्या झूठ बोलते हो और ऐसी आदत पड़ गयी है, तो दूसरा क्या झूठ बोलता है यह भी तुम्हें मालूम नहीं पड़ सकता वह तो, अपने बारेमें तुम्हारी जितनी जानकारी होगी, उतनी ही दूसरेके बारेमें तुम्हारी जानकारी हो सकती है। ईश्वरके बारेमें भी यही बात है। उसके आगे कुछ नहीं। सब दावा झूठा है। सब अभियान झूठा है।

जो 'यह 'दिख' रहा है, उसे तो तुम समझते हो 'मेरी' घड़ी मेरी। घड़ीने तो तुम्हें अपने साथ बाँधा नहीं! वह तो किसीके भी साथ जानेको राजी है। संसारकी जो वस्तुएँ हैं, वे सामान्य रूपसे गणिका हैं माने वेश्या हैं। सामान्य गणिका माने कोई भी उसको ले सकता है, उसका उपभोग कर सकता है। अब उसको जो मेरी समझता है वह उसके साथ बँध गया। इसीका नाम बन्धन है। लोग चिल्लाते हैं—'हाय! हाय! मेरी घड़ी खो गयी।' क्या बोलते हैं? संस्कृत भाषामें शरीरका नाम पहले 'घट' रखा था। घड़ीको घटी। पेंडुलम होता था न, घूमता था। एक छोटा बर्तन बनाते थे। इतने तौलका होवे और उसमें इतना बड़ा छेद होवे। उसे पानीमें डाल देते थे। उसमें निशान बने हुए थे। एक घण्टा, दो घण्टा, तीन घण्टा! वही बर्तन घड़ीका काम देता था

कि कितनी देरमें उसमें पानी भर गया। उसको बोलते हैं घटी-घटीयंत्र। वह घटी भी समय बताती थी और यह घड़ी भी समग बताती है।

घटके बारेमें आप जानते हैं न? घटका लक्षण यह है कि 'पेट उसका बड़ा हो,'—नैयायिकोंसे पूछो, ऐसा ही उसका लक्षण है—'पेट बड़ा ऊपरकी ओर मुँह।' तो यह शरीर घड़ा है कि नहीं? 'पृथु ब्रध्नोदराकार'—गोल हो और बड़ा पेट हो उसका नाम घड़ा। जिसमें आप माल-मसाला डालते रहते हैं, ऐसा है यह घड़ा।

'यह' मेरा है? तो मेरे काबूमें रहना चाहिए। 'यह' मैं हूँ? 'यह'को मैं समझना भूल है और 'यह'को मेरा समझना भी भूल है। 'वह' तो सामान्य-गणिकाकी तरह है। उसे तो कोई भी मेरा कहेगा! तुम्हारा क्या नाम है? रुपया, मोटर, कपड़ा-जिसके हाथ लग जायगा वह कहेगा मेरा! और यह शरीर? 'मैं' 'मैं' सब दुःख इसीको होता है। जाड़े, गरमी और सरदीका दुःख, बढ़ने-घटनेका दुःख, बीमारीका दुःख—सब इसीके सम्बन्धसे अपने साथ जुड़ते हैं और बड़े गौरवके साथ बोलते हैं, 'यह मैं हूँ'। हमें क्या समझते हो?

**अहं वै अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः।**

अर्जुनने कहा, तुम मुझे क्या समझते हो? मेरे पास गांडीव धनुष है। जब अपनी एक न चली तो बोले—'चितामें कूदकर अब मर जायेंगे'—जयद्रथके प्रसंगमें। भगवान्‌ने सूर्य दिखा दिया। अर्जुन ब्राह्मणके बच्चे वापस न ला सके तो तब भगवान् ले आये और उन्हें बचाया। बोले—'मैं अर्जुन हूँ, अर्जुन।'

**वंचक भगत कहाय रामके, किंकर कंचन, क्रोध, कामके।**

ये ठग लोग! भक्त कहलाते हैं रामके! लेकिन काम-क्रोध,

लोभके किंकर हैं। 'यह' को मैं-मेरा समझे और विद्वानोंकी सभामें बुद्धिमान् होनेका दावा करे। इसीसे महात्मा लोग हँसते हैं।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि 'मोह एव हि कारणम्'— हम जो संसारमें दुःखी हैं, इसका कारण प्रकृति या ईश्वर नहीं है, दुश्मन या दोस्त नहीं है, कर्म नहीं है; इसका कारण है अपने मनका मोह ! वेदान्तका कहना है कि मोह छोड़ो मोह ! मोहका घर कहाँ है ? जब मैंको शरीर और शरीरको मैं मानने लगते हैं, तब दोनोंका अलगाव मिट गया। मिट गया तो मोह ! 'मोहास्पदम्'। इस शरीरमें हो रहा है मोह। है क्या इस शरीरमें ?

हमने एक फकीरसे कहा—'आज मेरे मनमें यह आया, या वह आया। बड़ी बुरी बात है मेरे मनमें ! ऐसा आता है ?'

वे बोले—'आज एक गधेके मनमें आया कि रेंके ! मच्छरके मनमें आया कि काटें ! साँपके मनमें आया कि डँसें ! चोरके मनमें आया कि चोरी करें ! बदमाशके मनमें आया कि बदमाशी करें ! तुमको उनके लिए दुःख क्यों नहीं हुआ ? यह गधा, मच्छर, साँप, चोर मेरा तो नही है तकलीफ किस बातकी है ? गधेके रेंकनेकी तकलीफ नहीं है, गधेको मेरा माननेकी तकलीफ है !'

हम लोग पहले कचौड़ी गलीकी सैर करते थे, जब काशीमें पढ़ते थे। वहींसे मुर्दे गुजरते। कितने शव निकलते। 'राम-नाम सत्य है,'—खाते समय कोई तकलीफ ही नहीं होती। मानों कोई चिड़िया बोल रही है 'राम नाम सत्य है।' जहाँ यह मालूम होता कि यह 'राम नाम सत्य'वाले कोई अपने हैं, तो खाते-खाते निकल जाते थे कि 'ये तो कोई अपने हैं'। और कोई रिस्तेदार निकल आते, तब ? वहीं पटक दिया, बिलकुल फेंक दिया खाना !

बुड्ढे लोग चाहते हैं कि 'मेरी रहनी बेटेमें आवे।' उसके लिए उन्हें तकलीफ़ होती है कि नहीं ? बेटा कहता है कि ये बड़े बुड्ढे

समझते ही नहीं। इसकी अकल सठिया गयी! इसकी अकलको मेरी अकल मानते हैं। तो तकलीफ तो सारी-की-सारी इस मोहमें है कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है'। नहीं तो छल, कपट, झूठकी क्या जरूरत होती? यह तो 'मैं'-'मेरा' बनाने-बढ़ानेके लिए! सारा मोह इस शरीरका आश्रय करके रहता है। मोह उगता है। है क्या इस दुनियामें?

मिट्टी-पानी-आग-वायु-आकाश! आकाश-वायु-आग-पानी-मिट्टी। दुनिया क्या है? यह सूक्ष्म भूत है। हम लोग शक्ल सूरत-को ज्यादा पकड़ते हैं, धातुको नहीं पकड़ते हैं। एकने कहा कि राजाके पास कोई एक फकीर गया। राजाकी किसीसे दुश्मनी थी। उसने कहा, 'राज्यमेरे बेटेको मिले।' दोनों राज्यका राजा बनाने के लिए वह चाहता था कि दूसरे राजापर आक्रमण करें! दूसरे राजाने फकीरको पूछ लिया। फकीरने राजासे पूछा—'क्या चाहिए?' राजाने कहा—'हमारे दुश्मनके बेटेका सिर ले आओ?'

फकीर बोला—'बहुत अच्छा' और चले गये दूसरे राजाके पास!

उस राजाने पूछा—'कैसे हो महाराज! कैसे पधारे?' आजकल भी सेठ लोग पूछ लेते हैं—'कहीं चन्दा लेने तो नहीं आये?' ये समझते हैं, हमसे कुछ ले जानेके लिए आये हैं। ये हमें कुछ दे सकते हैं, यह तो समझते ही नहीं, बिलकुल! हम तो धनी हैं, हम तो देनेवाले हैं, बड़े हैं!'

राजाने पूछा—'महाराज, क्या सेवा करें?'

वे तो वरदान देकर आये थे। वे बोले—'हमें तो तुम्हारे बेटेका सिर चाहिए।'

राजा—'अच्छा महाराज! बेटेका सिर चाहिए? बुलाओ

बेटेको।' उसकी गरदन पकड़ी और महाराजके पाँवमें डाल दिया और बोले—'महाराज! आप केवल सिर लेकर क्या करेंगे? पूरे बच्चेको ही ले जाइये। यह आपका ही है।'

साधु—'अरे, यह तो बहुत बढ़िया!' हम तो केवल सिर लेने आये थे, तुमने तो पूरा ही दे दिया! बहुत बढ़िया! आशीर्वाद दिया 'खुश रहो बेटा!' अब, जिसने सिर माँगा था, उसके पास उस बच्चेको लेकर गये। वे तो बड़े खुश हुए हमारे तो आ गया! साधुने उससे पूछा—'तुम्हारे भी कोई बच्चा-वच्चा है कि नहीं?

राजा—'एक बेटी है महाराज!'

साधु—'जरा बुलाओ तो।' बेटी बुलायी गयी! दोनोंको साथ-साथ खड़ा कराके देखा और बोले—'यह जोड़ी तो बहुत अच्छी लगती है। अब तुम हमारा हुकुम मानो। दोनोंका ब्याह कर दो!'

देखिये, दोनों राज्यकी दोस्ती हो गयी। दोनों राजा एक दूसरेपर जल रहे थे। एक चाहता था, 'उसके राज्यपर आक्रमण करके राज्य ले लें! वह चाहता था—'इसके बेटेका सिर ले लें।' दोनोंमें हो गयी दोस्ती। मोह बड़ा प्रबल है। इतना प्रबल है कि हम वस्तुको नहीं देखते। हम सिर तो काटना चाहते हैं, परन्तु धड़पर हमारी नजर नहीं जाती। हम दुनियाकी एक-एक चीजको पकड़ना चाहते हैं, परन्तु सारी दुनिया क्या है, इस बातको नहीं समझते मिट्टी-पानी-आग-हवा-आकाश, हम प्रकृति नहीं समझते हैं। हम मोटर तो चलाना चाहते हैं, परन्तु मशीनरीको नहीं समझते। मशीनरीको तो समझते हैं, परन्तु किस मेटरसे मशीनरी बनती है, यह नहीं समझते। यही तो मामला है!

एक आदमी एक चीज बेचता है। मैं जानता हूँ, वह लाखों रुपयाको चीज बेचता है। खरीदनेवाले खरीदते हैं। माँग है और

वह इतनी सस्ती चीज है कि बिकती है लाखों रुपयोंमें। दस-पांच रुपया खर्च करनेपर वह चीज मिल जाती है। कोई व्यापारी हमसे पूछे तो हम नहीं बतावेंगे। क्योंकि उसके व्यापारकी पोल खोल देना तो हमारे मानकी, हमारे कामकी बात नहीं है। दस-बीस रुपयामें चीज आती है और लाखों-हजारों रुपयोंमें बिकती है। वे बोले—'बाबाजी! तुम्हीं यह व्यापार कर लो!' तो हमलोग तो वह व्यापार कर नहीं सकते। लोग बड़ी चीजको पकड़ते ही नहीं हैं। छोटी चीजमें फँस जाते हैं। तो सूक्ष्म भूतको पकड़ो। शरीरको नहीं।

हम आपसे सीधी बात करते हैं। आप ब्राह्मण या संन्यासीको, हिन्दू या मुसलमानको मत पकड़िये। मनुष्य-मनुष्यको मत पकड़िये प्राणीमात्रको पकड़िये। यह जो राग-द्वेषसे प्रेरित सृष्टि है, यह मोहका जखीरा माने राशि-ढेर है, उसमें तुम जमुरा ही बन गये हो बिलकुल।

**नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः**
**सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ॥७५॥**
(उत्तरार्ध)

**परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा**
**स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः।** (७६ का पूर्वार्ध)

जिस मैटरसे यह शरीर बनता है, उसपर ध्यान दीजिये। सबमें वही है। हमलोग अपना-पराया समझते हैं। एकबार एक सन्तने हमें सुनाया—'ये जो सामने आकर बैठे हैं, उनमें और तुममें मेल कितना है यह समझो! दोनोंके कान अगल-बगलमें एक-सरीखे। आँख, नाक एक सरीखी बोलनेका मुँह, हाथ-पाँव, खाना-पीना! हम सबमें कितनी समानता है। परन्तु हम लोग कितनी विषमताकी सृष्टि कर लेते हैं।

जब आपमें 'ठूँस-ठूँस कर' मजा—देखनेमें कभी-कभी आता है कि इसमें कितनी बातें ठूँस दी गयी हैं ! यह अध्यारोप कितना प्रबल है ? बचपनमें जो बात ठूँस दी गयी दिमागमें, वह अध्यारोप अपना क्या-क्या करिश्मा दिखाता है । मोह कैसा प्रबल है ?

असलमें जिन चीजोंसे हमारी इन्द्रियाँ बनती हैं आँख, कान आदि, उन्हीं चीजोंसे मन भी बनता है। मन-इन्द्रिय इनको अध्यात्म बोलते हैं और जो संसारके विषय हैं, उनको अधिभूत बोलते हैं। इनमें जो अनुग्राहक देवता हैं, उन्हें अधिदैव बोलते, हैं। जिस शैलीमें हम लोग इसपर विचार करते हैं, वैसे अगर करोगे तो नतीजा एक निकलेगा और यदि शैली बदल दोगे तो ? हम लोग ऐसे बोलते हैं—'जाननेके पाँच साधन हमारे पास हैं; जैसे कानसे शब्द सुनायी पड़ते हैं। जाननेका एक साधन कान है ! हमारे ही तो हैं न ?'

स्पर्श कठोर-कोमल कैसे मालूम पड़ेगा ? त्वचासे । रूप काला या लाल आँखसे मालूम पड़ेगा। कड़वा-खट्टा स्वाद जीभसे, सुगन्ध-दुर्गन्ध नाकसे मालूम पड़ेगा। इसमें आदतका भी प्रभाव है। चमार चामका काम करते हैं, तो उन्हें चामकी दुर्गन्ध नहीं आती है। चामके कारखाने कानपुरमें हैं। गंगा-किनारे निकलते हैं तो उनके पनालोंमें-से दुर्गन्ध निकलती है। काम करनेवाले हजारों। उनको तो मालूम ही नहीं पड़ता।

गंगाकिनारे पुल है। एक बार हम पैदल निकले, तब मालूम पड़ा। नाक तो हमने दबायी नहीं; ले मजा भाई। इसका भी एक बार मजा ले ले। नाक बन्द कर देनेसे कैसे पहचान होगी कि चामकी गन्ध कैसी होती है ? ओ हो ! चमारको चामकी गन्ध नहीं आती ! तो हम कैसे सोचते हैं ? पाँच इन्द्रियाँ हैं हमारे शरीरमें और उनमें पाँच तरहकी चीजें मालूम पड़ती हैं। तो उन

चीजोंके मूल कारणके रूपमें और उन इन्द्रियोंके मूल कारणके रूपमें पाँच ही धातुएँ होनी चाहिए और पाँच ही भूत होने चाहिए। यह तो हमारे सोचनेका तरीका है!

साइन्सका तरीका यह है कि वह चीजोंको मशीनपर तौलता है। आसमानमें कुछ वजन नहीं है तो मशीनकी नोकपर तौलनेपर वह कोई तत्त्व नहीं निकला। परन्तु हमारे शरीरपर जो मशीनरी इन्द्रियाँ हैं, उनसे तौलनेपर पाँच चीज निकल आयीं।

पाँच चीजें हैं, उन्हें पाँच इन्द्रियों द्वारा ले जाकर मनमें मिला देते हैं। मनमें भी पाँचों हैं। बाहरकी चीजोंमें तो पाँचों एकमें मिले हुए होते हैं। जैसे आप एक फूल ले लो! नाक तो बतावेगी कि इसमें सुगन्ध है। जीभपर डालो तो मालूम पड़ेगा कि इसमें स्वाद कुछ है। आँख न हो तो रंग न मालूम पड़ेगा। जीभपर न डालें तो स्वाद मालूम न पड़ेगा। आँख न हो तो रंग न मालूम पड़ेगा। जीभपर न डालें तो नाकसे स्वाद न मालूम पड़ेगा।

फूलमें तो, कोमल स्पर्श भी है, लाल-सफेद रंग भी है। स्वाद है मीठा-कड़वा। फूलमें तो पाँचों मिले हुए हैं, परन्तु हमारी देखने सूँघने-सुनने, चखनेकी शक्ति है। उनमें एक-एक है और मन भी ईश्वर-कृपासे एक ही है। एक समय एक गुणको वह ग्रहण करता है, फिर बदलता है, बदलता रहता है। तो विषय भी बदलते हैं, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयके ग्रहणमें बदलती हैं और विषय बदलते हैं परिवर्तनसे। देश-कालमें परिवर्तन। परन्तु अपना जो आत्मा है, वह कभी बदलता नहीं है।

**मात्रास्तदीया विषया भवन्ति**
**शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः॥** ( ७६उत्तरार्ध )
**य एषु मूढा विषयेषु बद्धा**
**रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन।**

आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः
स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥७७॥

संसारके मनुष्योंकी क्या दशा हुई ? अपने भीतर क्या है यह भूल गया। मैं क्या हूँ यह भूल गया। एक सेठ था बनारसमें। उसके सिरपर आता था जिन्न। बड़ा सेठ था। आजसे पचास वर्ष पहले वह करोड़पति था। आजकलके करोड़पति खुदरे हैं। उस समयके करोड़पति तो बड़े ठोस थे। तो क्या हुआ ? जिस समय जिन्न उसके सिरपर आता, कुरानकी आयत बोलने लगता। वह नाचता, गाता, कव्वाली बोलने लगता। ऐसा धर्मात्मा था महाराज़ ! जब होश-हवासमें रहे तब शंकरजीकी पूजा करे, वैदिक धर्मका पालन करे। बड़ा भारी सदाचारी और जिन्न आवे तो नाचे-गावे-बजावे, कुरानकी आयत बोले। फिर न गंदगीका खयाल। तो होशमें आनेपर वह अपने मुनीमको हाथ जोड़े कि यह बात बाहर न जाने पावे ! किसीको मालूम न हो ! मुनीमको वह दो सौकी जगह चार सौ दे।

यह जो पागलपन है न ! था तो शंकरजीका भगत, सदाचारी, परन्तु पागलपनमें अपनेको जिन्न मानने लगता था। 'मैं कौन हूँ ?' तो मूढ़ हो गया न ? विषयोंके साथ हम लोग बँध गये। हमको तो बस, यही चाहिए। गरम रोटी खानेकी जिनको आदत पड़ गयी है,—हमने दो-तीन बार अपनी आँखोंसे देखा, रोटी उठाकर फेंक देते हैं। मेरे लिए इतनी ठंडी रोटी ! हमने एकको देखा, चाँदीकी थाली थी। उठाकर ऐसा फेंका कि वह थाली तो विचारी मुड़-मुड़ायके, दुर्गत हो गयी उसकी ! गरम रोटीके लिए ऐसा गुस्सा आता है कि अपना दिल जलने लगे।

विषयके लिए मूढ़ हो गये। अपना नुकसान किया। हमने देखा है, 'अपने हाथसे अपना सिर पीट रहे हैं। अपने बाल नोंच

रहे हैं। किचकिचाके अपने दाँत पीस रहे हैं। हम वह बात नहीं बोल रहे हैं जो तुम सुन रहे हो! अरे! देखो न, दुनियादारी छोटी-छोटी चीजोंके लिए अपने दिलको खराब कर दिया। इसको मूढ़ बोलते हैं।

**य एषु मूढा विषयेषु बद्धा रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन।**

रागका बड़ा भारी फन्दा गलेमें फँस गया और उसे काट नहीं सकते। उसके साथ फँसे हुए कहाँ जायेंगे। यह चीज हमें क्या मिलेगी? हम एक साधुकी बात सुनाते हैं। वह चुनारकी हँडिया रखता था। चुनारमें खास तरहकी हँडिया बनती है। वह, जो कृष्णके पांव लगनेसे हंडियामें-से पानी गिरता है। वे सब खिलौने वहीं बढ़िया-बढ़िया बनते हैं। उस समय एक-दो रुपयामें हड़िया आती होगी। उनकी हंड़िया फूट गयी। वह लाहौरमें था और 'हमें वैसी ही हंडिया चाहिए।' वह हमारा प्यारा अवधूत है। अब भी जिन्दा है। सेठ ट्रेनमें बैठकर चुनार आये और दो रुपयेकी वैसी हँड़िया खरीदी और फिर ट्रेनपर बैठकर लाहौर आगया। हजारों मीलकी यात्रा की! पेरिसमें जायेंगे तो यह मजा आयेगा। ये दुनियादार लोग अपनेको अक्लमन्द समझते हैं। अपने दिल-दिमागको तकलीफ देना तो तकलीफ ही नहीं समझते हैं। पैसा पर कोई दबाव न आवे, दिल-दिमागपर भले पड़ जाय। अक्लमन्द लोग हम लोगोंको सिखाने आते हैं। क्या पूछना?

'रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन'—रागके फन्देमें फँसे हुए कहीं भटक रहे हैं। कहीं आंखको तर करनेके लिए चले जाते हैं। कहीं जीभ-को तो कहीं कानको तर करनेके लिए चले जाते हैं। मन तो गरम ही गरम है न? दूसरा कोई गरम करे तो अच्छा नहीं लगेगा। यह ठंडा करनेके लिए जाते हैं। ठंड-ठंड-ठंड।

**आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः॥**

कभी स्वर्गमें गये कि यहाँ मिलेगा भोग ! यहाँ खूब धर्म-कर्म जमा किया। अब महाराज ? वहाँके मेनेजरने जो देखा कि इनका तो जमा किया धर्म-कर्म खतम ! तब बोले—'निकलो होटलसे।' कई लोग ऐसे आते हैं, जो बम्बईमें होटलमें कई दिन रहते हैं और बोलते हैं—'स्वामीजी ! अब हम जेलमें चले जायेंगे, क्योंकि उसका पैसा हमपर हो गया ज्यादा ! स्वामीजी ! हमारे लिए कोई-न-कोई बन्दोबस्त करवाओ।'

तुम तो मौज करके आये, और हम तुम्हारे लिए माँगने जायँ ? तुम मौज करो, हम मँगता बनें ! बेवकूफोंकी समझमें तो कुछ आता ही नहीं। ये विषय-भोगसे सुख माननेवाले, अपना-पराया माननेवाले कभी दुनियामें नीचे गिरते हैं कभी ऊपर उछलते हैं। नशेमें दोनों काम होते हैं कभी ऊपर उछलते हैं, कभी नीचे गिरते हैं। यह स्वर्ग और नरक दोनों नशेकी चीज है। मनका उछलना स्वर्गमें जाना है। अपना मन ही स्वर्ग-वैकुण्ठ, नरक-कुम्भीपाक, रौरव-नरक बनता है।

**आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥**

'यमराजके दूत नरकमें ले जाते हैं—'ऐसा बोलते हैं। नहीं यमराजके दूत नहीं ले जाते, तुम्हारा मन ही ले जाता है। कर्म-दूत माने कर्म तो किया और मिट गया। जिस क्षण कर्म किया, उसी क्षण मिट गया। कर्मकी जो रूपरेखा बनती है, जैसे स्वप्नमें नरक हो आये, स्वर्ग हो आये। हमलोग कल एक मजहबकी चर्चा कर रहे थे। रातको हमको सपना आगया। एकदम नकली-नकली फौजी पोशाक पहने हुए, हाथमें बन्दूक लिये हुए, हजारों-हजारों लोग ! हम लोगोंने पूछा—'ये कौन हैं ?' बोले—'हम फौजी हैं, सैनिक हैं।'

फौजी बनकर लोगोंको मार रहे हैं, सता रहे हैं, सब नकली !

सिर्फ फौजी ही नहीं, वर्दी भी नकली और बन्दूक भी चुरायो हुई ! ये आदमी जो हैं—

स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः
शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥७८॥

अब कहते हैं कि 'देखो, जरा ! अपनी हालतपर विचार करो ।' कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गाः ।' एक भौंरा था, गन्धसे अन्धा था । जब किसी फूलकी गन्ध आगयी, चला गया । एक कमलके फूलपर जाकर बठा । रात आगयी । परन्तु वह फूलको छोड़े नहीं । कमल बन्द हो गया तो भौंरा कैद हो गया । वह बड़ा खुश हुआ कि हम अपने प्यारेकी गोदमें कैद हुए । बड़ा भारी प्यार ! अब सोचने लगा—'रातभर तो उसकी गोदमें सोऊँगा । प्रातःकाल होगा, सूर्योदय होगा, कमल खिलेगा, फिर मैं इसकी गोदसे निकलूँगा ।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

हाथी आया । उसने देखा कि यह कमल है । उसने उसे अपनी सूँड़से उखाड़ा और उखाड़कर धरतीपर डाल दिया, अपने पैरोंसे उसे कुचल दिया । तो जो भौंराराम अपने प्यारेकी गोदमें सो रहे थे, रातको, वहीं उसका अन्त हो गया । मुहब्बती लोग यही कहेंगे कि यह भी सौभाग्य है कि वह कहीं बाहर नहीं मरा, अपने प्रेमीकी गोदमें रहते-रहते मरा । धन्य है भाई ! तुम्हारे सौभाग्यपर धन्य है । यह तुम्हींको मुबारक हो ।

मछलीने देखा, 'ओ हो ! क्या मांसका टुकड़ा लगा हुआ है

कँटियामें। जानते हो न ? नदीके किनारे वंशी लगाते हैं। इधर रिवाज कम है। बंगालमें जाओ तो बड़े बाबू वंशी और कँटिया लगाकर किनारेपर खड़े हैं। मछलीने समझा कि इतने बड़े बाबूके हाथमें तो यह बांसकी शाखा। उसने न जाने कौन-सा मांसका टुकड़ा जो कँटियामें लगा था, उसे खा गयी। बाबूजीने उसे झट निकाला और ले गये घर।

केवल एक विषय—गन्धके कारण भौंरा मारा गया; केवल स्वादके कारण मछली मारी गयी; केवल रूपके कारण फतिंगे दीयेमें जल मरे। शमा-परवाना। वे दीयेकी लौसे बहुत प्यार करते हैं।

वे दीवाने लोग! देखते हैं रूपकी शमा और उसपर ऐसे फिदा होते हैं कि उसपर कूद पड़ते हैं, और जल जाते हैं। हाथी हथिनीके साथ घूमता है और गड्ढेमें जाकर गिरता है। हरिन आवाज सुनता है और पकड़ा जाता है। एक-एक विषयमें जिनका प्रेम है उनकी यह दशा होती है और यह मनुष्य! मनुष्यके मनमें तो पांचों विषयोंका स्वाद है। उसके सिरपर तो पाँचों ओरसे मौत आ रही है। हमको तो शब्द चाहिए। रूप और गन्ध भी चाहिए, स्पर्श और स्वाद भी चाहिए। यह श्लोक गरुड-पुराणमें है। दूसरी तरहसे है, परन्तु है। गरुड-पुराणने तो इनसे लिया नहीं होगा, इन्होंने ही गरुड-पुराणसे लिया होगा, क्योंकि वह ज्यादा पुराना है। थोड़ा ही फरक है—

**कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा हता पञ्चभिरेव पञ्च।**
**एकः प्रमादी स कथं न घात्यो यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥**

(गरुड पु० ११५ २१)

फँस गये, पांच तरहके जालमें फँस गये। अपने आपको तुम समझोगे नहीं, तो दूसरा कोई तुम्हें निकालनेवाला नहीं है। इस जालमें-से तुम्हीं अपने आपको निकाल सकते हो। ●

: ३३ :

६-७-७५

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥७८॥

एक विषयमें जब मनुष्यकी आसक्ति हो जाती है तब वही आसक्ति मरनेके लिए काफी होती है। जैसे हरिणकी शब्दमें आसक्ति होती है और शिकारी तीर मारता है उसपर। हाथीकी

स्पर्शमें आसक्ति होती है तो हथिनीके साथ सटा-सटा जाकर गड्ढेमें गिरता है। फतिंगेकी रूपमें आसक्ति हुई तो जाके शमाका परवाना हो गया माने आगमें गिर गया। मछलीकी स्वादमें आसक्ति हो गयी और वह मारी गयी।

कई विषय तो हमने देखे हैं। ये तो पशु-पक्षीके उदाहरण हैं। विषयमें आसक्ति हुई कि मरना पड़ता है। हमने तो मनुष्योंमें देखा है, एक-एक विषयमें आसक्ति हुई तो मरना पड़ा।

हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब थे। उन्हें जलोदरका रोग हो गया था। पेटमें पानी भर गया था। शरीर उनका पीला पड़ गया था। उनको डॉक्टरने दवा करके अच्छा कर दिया था और कह दिया था कि अब मछली मत खाना। मछली खाओगे तो मर जाओगे। उनको मालूम पड़ गया था कि 'मछली खाऊँगा तो मैं मर जाऊँगा।' वे अच्छे हो गये, चलने-फिरने लगे। बड़ा भारी साफा सिरपर बाँधने लगे और म्यानमें तलवार लटकाने लगे। ऐसे चलते थे! शरीरपर वह कलंगी और पगड़ी।

अच्छे हो गये, तो एक दिन रातको मछली खालिये और मर गये। उसी दिन मर गये, जिस दिन मछली खाये। मालूम होनेपर भी ऐसा हुआ।

अमुक स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध रहेगा तो लोग मार डालेंगे, यह स्त्रीको भी मालूम होता है और पुरुषको भी। फिर भी फँसते हैं, तो उनको मौतकी परवाह नहीं रहती। यह बात देखनेमें आती है। संसारके विषयोंकी जो आसक्ति है, वह एक भी हो तो मौत आती है। दा-पाँचके लिए हो जाय तो कहना ही क्या?

**दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।**
**विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥७९॥**

यदि तुलना की जाय, तराजूपर तोला जाय कि विषय और

काले साँपका विष दोनोंमें कौन मारनेमें तेज है, तो ये कहते हैं—हमारा फैसला यह है कि—

**दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।**

काले नागके ज़हरसे भी ज्यादा तीव्र है, दोषोंकी दृष्टिसे 'विषय।' विषयमें भी तो विष है न? देखिए, क्या बढ़िया शब्द बनाया है? विषम् याति इति विषयः। जो ज़हर तक पहुँचा देता है। माने इनकी कला बढ़ते-बढ़ते विषतक पहुँच जाती है। एक शास्त्रमें लिखा है, 'वृद्धस्य तरुणी विषम्।' यदि बुड्ढा आदमी जवान औरतसे ब्याह करले तो वह उसके लिए ज़हर हो जाती है नीतिशास्त्रका यह एक वचन है।

वासना बड़ी प्रबल होती है, जिसका परिणाम विष होता है। विष उसको कहते हैं, जो अन्त्येष्टि-कर्मतक पहुँचा दे। 'विशेषेण स्यति'—मार डाले, उसका नाम ज़हर। इसमें भी कई बातें हैं। जैसे कोई काम ऐसा होता है, वह इज्जतको मारता है। कई चीजें ऐसी होती हैं जो शरीरको मारती हैं तो कई चीजें मनको और कई चीजें बुद्धिको ही मार देती हैं। कई चीजें ऐसी होती हैं जो हमारे यशको मार देती हैं तो कई सुखको ही मटियामेट कर देती हैं।

लोभसे यश मरता है। ज्यादा लोभी आदमी होगा तो उसका यश मर जायगा, बढ़ेगा नहीं। राग-द्वेषसे दिलका चैन, मोहसे समता मर जाती है। ये अलग-अलग हैं। नशासे बुद्धि मरती है। धीरे-धीरे, क्या हो रहा है, पता ही नहीं चलता।

**विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्॥ ७९॥**

**विषयाशा महापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात्।**

**स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि॥ ८०॥**

विष खानेवालेको मारता है। विषय जो आँखसे देखते हैं,

उनको भी मारता है। ऐसे बोलते हैं, 'अजी ! देखनेमें कौन-सा पाप लगता है ?' नहीं, यह ठीक नहीं है। पाप तो नहीं लगता है, परन्तु पापका रास्ता खुल जाता है। देखनेमें मोटर चलती नहीं, परन्तु स्टार्ट हो जाती है। देखनेके बाद कहते हैं, 'दो-दो बात करनेमें क्या पाप लगता है ?' फिर बोलते हैं, 'छूनेमें क्या पाप लगता है ?' यह इसकी मानसिक परिणति है।

आपका मन आपको आँखमें-से ज़बानपर ले आया। ज़बानमें-से स्पर्शमें ले आया। स्पर्शमें आया तो बस, नारायण ! आखिरी नतीजा उसका स्पर्शमें निकल आता है। विष उसके खानेवालेको मारता है, विषय उसे आँखसे देखनेवालेको भी मारता है। यह आँखके रास्ते कलेजेमें घुसता है; फिर कलेजेको तदाकार बनाता है। कलेजेमें जैसा विषय होता हैं, उससे मिलनेकी इच्छा होती है। अर्थात् सजातीयसे मिलनेकी इच्छा होती है। इसमें उमरकी कोई बात नहीं होती। वृद्ध पुरुषकी वृद्धा स्त्रीसे और वृद्धा स्त्रीकी वृद्ध पुरुषसे आसक्ति हो जाती है।

ऐसे भी वेदमन्त्र मालूम पड़ सकते हैं, जो आजतक किसीको मालूम नहीं हैं। धर्मकी वह बात भी मालूम पड़ सकती है, जो आजतक किसीको मालूम नहीं है।

साधनाके तो बहुत सारे पन्थ हैं। हम किसीको काटना-कूटना नहीं चाहते, न किसीकी निन्दा करते हैं। किसीका भाव बिगाड़ना तो नहीं चाहते। परन्तु जो लोग चमत्कार ढूंढने जाते हैं वे धर्मके नामपर ठगीके शिकार होते हैं।

एक सेठानीजी बहुत हठ कर रही थीं। उनके सिरपर आगयी देवी। उसको झाड़नेके लिए आया ओझा ! वह बोला—'सब लोग हट जायं। सब हट गये तो उसने पूछा—'सेठानीजी ! बात क्या है ?'

सेठानी—'सेठजीसे पचास हजार रुपया लेना है।'

पचास हजार रुपया लेनेके लिए देवीजी आगयी। ऐसे देवी-देवाको आगमें मिर्च डालके ठीक कर लेना चाहिए। आग जलाकर उसमें लाल मिर्च डालो और उनको अकेले धुएंमें छोड़ दो! उनकी देवीजी भाग न जायँ तो आप हमसे जवाब तलब करना।

जो लोग चमत्कार लूटने जाते हैं, बधनाका पानी पीने जाते हैं—मुसलमानोंका जो बधना होता है—'पीयेंगे तो हम ठीक हो जायेंगे।' तुम्हारे पवित्रता-सम्बन्धी जो नियम हैं, वे इससे भ्रष्ट हो जायेंगे। और, कोई चमत्कार होनेवाला नहीं है। बहुत शान्ति-से, आनन्दसे ईश्वर अगर अपने भीतर नहीं है, तो वह कहीं नहीं है। वह तो तुम्हारे अन्दर ही है। ईश्वरका निवास-स्थान अपने भीतर है।

ये जो विषयकी आशाएं हैं कि 'हमको यह मिले—वह मिले'—शंकराचार्यने क्या बढ़िया कहा है।

**अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्**
**दशनविहीनं जातं तुण्डम्।**
**वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्**
**तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्॥**

अंग गल गये, सिरपरके बाल सफेद हो गये। शरीर काँपने लगा। मुँहमें दाँत नहीं रहे! डंडा या छड़ीके सहारे चल रहे हैं। परन्तु मनमें ऐसी आशा बनी हुई है। अपनी अमरताका आरोप देहपर हो गया। ऐसी भूल हो गयी कि आत्मा है अमर और देह-को समझ लिया, मैं! जैसे, कभी मरेगा ही नहीं। देह है मरने-वाला। आत्मा है अमर! जब देहका मृत्युधर्म अपनेपर आरोपित करने लगते हैं, तो मरनेको डरने लगते हैं। जब आत्माकी अमरता

देहपर आरोपित कर लेते हैं तो मरनेका खयाल ही नहीं रहता। तो बाबा ! यह तो ऐसा है—

> **मरोगे, मर ही जाओगे, कोई न लेगा नांव।**
> **कूजर जाइ बसाओगे छांड़ि बसन्ता गांव॥**
> **हाड़ जरै जस लाकड़ो, केस जरै जस घास।**
> **सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास॥**

अगर आप एक मुट्ठी चना भी अपने साथ ले जा सकते कि रास्तेमें खायेंगे, कलेऊ करेंगे तो क्या ही अच्छा होता ? बेईमानी की, किसके लिए ? भाई-भतीजेके लिए, बेटेके लिए, पति-पत्नीके लिए, अधर्मका भाँडा इकट्ठा किया। अधर्म साथ जाता है। धर्म, उपासना, योगाभ्यास साथ जाते हैं। ज्ञानमें कहीं आना-जाना नहीं पड़ता ! मनुष्यको सावधान होकर अपना व्यवहार करना चाहिए। भले कोई बड़ा भारी पण्डित हो, शास्त्रवेदी, शतशास्त्र-वेदी हो। बड़े भारी-भारी पण्डित होते हैं। अब यह सच है कि झूठ है, यह तो भगवान् जाने ! काशीमें एक समय था जब बड़े भारी पण्डित थे। दुनियामें उनकी बड़ी भारी प्रसिद्धि थी !

ये पण्डित ऐसे थे कि एक मुकद्दमामें उन्होंने एक पक्षसे पाँच सौ रुपया लिया और लिख दिया, 'इदम् परमसत्यम्'। हस्ताक्षर कर दिया, 'यह बिलकुल सत्य है'। दूसरा पक्ष आया तो उन्हें भी लिख दिया—'इदम् परमसत्यम्'। हस्ताक्षर कर दिया। लोग कहते, पण्डितजी हजार रुपया ले लीजिए। आपकी गवाही बहुत कीमती है।

जजको यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा पण्डित, चारो वेद, छहो शास्त्रोंका जो मूर्धन्य विद्वान् है, उसके हस्ताक्षर दोनों पक्षोंके कागजोंपर ? तो उनको तलब किया, अदालतमें गये। फिर मोलतोल हुआ। जिस पक्षने ज्यादा पैसा दिया, उसके लिए

बोले—'इदम् परम-सत्यम् ।' यह बिलकुल ठीक है। जिसने ज्यादा पैसा नहीं दिया, उसके लिए बोले—'इदम् परम् असत्यम्। 'यह बिलकुल असत्य है।'

क्या करेगी पण्डिताई ? ईश्वरके दरबारमें चलनेके लिए केवल पण्डिताई काफी नहीं है। काशीके पण्डितोंमें—हमारे पढ़नेके दिनोंमें—जब विवाद होता, कि एकादशी आज है कि कल ? तो दो-दो रुपया देना ही पर्याप्त था। चाहे इस पक्षमें व्यवस्था दो, चाहे उस पक्षमें। पढ़ने-लिखनेसे आदमी ईमानदार और सच्चा हो जाता है, यह बात झूठी है। जो यह सोचता है कि हम सबको शिक्षित कर देंगे और सब ईमानदार हो जायेंगे तो गलत है। उनको मालूम नहीं है कि ये पढ़े-लिखे लोग कितना अनर्थ करते हैं। कुछ कॉमरेड भाई कहते हैं, दुनियामें जब सब लोग धनी हो जायेंगे; तो सब लोग ईमानदार और सच्चे हो जायेंगे।

परन्तु धनी लोग क्या-क्या करते हैं और कितने गले काटते हैं ? धनी होनेसे कोई ईमानदार और सच्चा हो जायगा यह कल्पना बिलकुल अनुभव-विरुद्ध है। न इसमें धन काम देगा न शिक्षा। क्या काम देगा ? यह भी बता दें। नहीं तो चर्चा एक पक्षमें रह जायगी। जब आप खुद चाहें कि हम ईमानदार बनें माने हमारी अन्तरंग इच्छा होगी, तब आप ईमानदार और सच्चे हो सकेंगे। नहीं तो न धन आपको ईमानदार बनावेगा, न शिक्षा और न अच्छा खानदान।

बड़े बापके बेटे ! ऊँचे ओहदेपर जायेंगे तो ईमानदार बन जायेंगे। उन्हें तो और बेईमानी करनेका मौका मिल जायगा। इसके लिए आपका ही दिल ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि संकल्प बने कि 'हम अच्छे होवें।'

**"अमृतस्य स्तु नाशास्ति वित्तेन'** ( वृहदा० २.४.२ )।

याज्ञवल्क्यने कहा—धनसे अमृतत्वकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती है। उनकी पत्नीने कहा—'जिस धनकी प्राप्तिसे मैं अमृतत्व-लाभ नहीं कर सकती, वह धन लेकर मैं क्या करूँगी ?'

यह देखिये, वृहदारण्यक उपनिषद्। ऐसी महिमा। आप लोगोंने दुनियाका इतिहास पढ़ा होगा। इस भारतीय नारीकी बराबरीकी नारी आपको दुनियामें नहीं मिलेगी। अपने पति द्वारा दिया हुआ धनका हिस्सा इसने नहीं लिया—'पहले बताओ, इस धनसे क्या होगा, क्या मिलेगा ?'

**आपातवैराग्यवतो मुमुक्षून् भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान्।**
**आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥८१॥**

जिनका वैराग्य ढीला होता है, आपात-वैराग्य यह आपात स्थिति माने संकटकालीन स्थितिको आपत् बोलते हैं। 'आपात' माने जो अमुक परिस्थिति बदलने तक बनी रहे, पात-पर्यन्त जो स्थिति बनी रहती है। जैसे, देखिये, आपको बिलकुल खुलासा करके बोलते हैं। पति-पत्नीका संभोग कबतक अच्छा है ? शास्त्रमें उसको बोलते हैं, 'आपात-रमणीय। जबतक वीर्यपात नहीं होता, तबतक वह रमणीय ज्ञात होता है, आपात-रमणीय—संस्कृतमें यही शब्द है।,

अब यह वैराग्य-टूटनेवाला है। जिनका कच्चा, ढीला, टूटने-वाला वैराग्य होता है और जो संसार-सागरसे पार होना चाहते हैं,—जो नैमित्तिक वैराग्य होता है, श्मशान-वैराग्य ! श्मशानमें जाते हैं तो क्या बढ़िया वैराग्यकी बातचीत करते हैं आपसमें ! 'संसार तो अनित्य है, उसकी तो यही हालत है, एक दिन हमारी भी यही हालत होगी।' यह श्मशान-वैराग्य है !

एक होता है 'मर्कट-वैराग्य।' मर्कटोंकी जैसी स्थिति होती है। एक पुराण-वैराग्य होता है। कहीं कथा-पुराण सुनने गये, उस

समय मनमें आया बहुत बढ़िया वैराग्य कि 'संसारमें क्या है ? कौन अपना है ?' और किसीकी जेबमें ज्यादा नोट दिख गये तो ? क्या उपाय करें तो ये हमारी जेबमें आजायँ।'

यहाँ जो बड़े-बड़े धनी लोग होते हैं वे हमारे सामने तो बड़ी छाती फुलाकर फिरते हैं। बिलकुल खम्भे एकदम ! वे ऐसे बद-किस्मत हैं कि उनको प्रणाम करनेके लिए भी दुनियामें कोई वस्तु नहीं मिली। ये ही लोग जब अमेरिका जाते हैं और वहाँके धनियों-को देखते हैं तो इनके मनमें दीनता-हीनताका भाव उदय हो जाता है। अपना बड़प्पन नहीं चलता। साधु-ब्राह्मणके सामने बड़प्पन है, विद्वान्के सामने, यहाँके गरीबोंके सामने बड़प्पन है। वहाँ जाने-पर उन्हें मालूम पड़ता है कि हम कितने गरीब हैं।

छोड़कर तो सन्त लोग चलते हैं,—हमारे एक पलटू साहब हैं। वे बोलते हैं—'लग्यो मन त्यागमें'। घर-गृहस्थी छोड़कर चले। क्या हुआ आगे ?' बीच ही माया मिली रहे लपटायके।' बीचमें ही माया मिल गयी तो उससे लिपट गये—

हा-हा रे पलटू गिरे नरकमें जाय महन्ती पाय के।

यह स्थिति है। जहाँ कोई आशा बँधी कि 'यह चीज मिल जायगी।' हम ऐसे बहुत लोगोंको जानते हैं जो तय कर लेते हैं कि हमें संन्यासी होनेके बाद महन्ती मिलेगी, तब संन्यास लेते हैं। हम नाम बता सकते हैं। बड़े-बड़े आचार्यों, मठाधीशोंमें यह होता है कि भाई, तुम संन्यासी हो जाओ तो हम तुम्हें इस गद्दीके महन्त बना देगें। तो वे क्या वैराग्यसे संन्यासी हुए हैं ? उनके अन्दर ज्ञान-वैराग्यकी कोई सम्भावना है ? वहाँ बैठकर भी गाली देगें। सत्संग किया नहीं, कोई विचार किया नहीं, वैराग्य किया नहीं, उपासना की नहीं। अनुभव किया नहीं। पाण्डित्यके बलपर बैठ गये गद्दीपर।

बीचमें आशाका ग्राह आता है। ग्राह माने मगर। यह ग्रह नहीं है, 'मगर' है। संसार-सागर पार करने जा रहे हैं, मुमुक्षु हैं, वैराग्य ढीला है। इसीमें लग गयो आशा।

**आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥८१॥**

वह तो गला ही पकड़ लेता है। यह आशा भूत है, पिशाची है, ग्राह है।

'आशा-पिशाची परिमर्दितानाम्'—आशा एक पिशाची है। वह आकर लग जाती है। फिर? भवसागरमें डूब जाती है?

**विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हृतः।**
**स गच्छति भवाम्बोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥८२॥**
**विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः**
**प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि।**
**हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या**
**प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥**

इस संसार-सागरके पार कौन जाता है। जिसने वैराग्यकी तलवार लेकर 'असंग-शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'—( गीता १५.३ ) दृढ असंग शस्त्रके द्वारा किसने इस विषयग्राहको मार दिया है।

प्रत्यूहवर्जितः = विघ्नवर्जित होकर, असंदिग्ध होकर। असलमें संशय ही सबसे बड़ा विघ्न है। लक्ष्यकी प्राप्तिमें संशय हो जाय कि मिलेगा या नहीं? अगर यह संशय आपके मनमें हो कि भगवान्‌का दर्शन होगा कि नहीं तो आपका भजन ढीला पड़ जायगा।

'इस भजनसे भगवान् मिलेगा कि नहीं?' भजनसे मिलेगा परन्तु 'इस' भजनसे भगवान् मिलेगा कि नहीं?' भजनमें शंका हो जाय, भगवान्‌के भजन और दर्शनमें, भगवान् मिलनेमें, गुरुमें, मन्त्रमें शंका हो जाय, अपने अधिकारमें शंका हो जाय तो प्रत्यूह आ

गया—विघ्न आगया। सोचते-विचारते हुए हम किधर बढ़ रहे हैं? अपने मन, भावना और विचारसे जिस दिशामें आगे बढ़ रहे हैं उसके उलटे एक आँधी शंकाकी आयी, बवण्डर उठा आपके मनमें। वह आपको आगे बढ़ने नहीं देगा।

**विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः**
**प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि।**
**हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या**
**प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८४॥**

ये संसारी जीव ऐसे रास्तेसे चल रहे हैं जो ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ है, विषम है। इसमें इतने मोड़ हैं और इतना ऊबड़-खाबड़ रास्ता है यह कि चलनेवाला भटकेगा, गिरेगा।

चार कोनेका खेत होता और हम अपने पितामहके साथ चलते तो उसकी दो रेखा पार करनेसे सीधे कोनेपर पहुँचते थे। हम बचपनमें थोड़े चपल थे, तो कहा—'ये दो किनारेपर क्यों चलें? सीधे चलें तो जल्दी रास्ता पार कर लेंगे।' हम दौड़ते थे परन्तु हमारे पितामह मना करते थे। पैरमें अरहरकी वह खूँटी बिलकुल त्रिशूल-सरीखी गड़े। ज्वार-बाजरेकी खूँटी भी गड़ती थी। कितना डर था! बेचारे डरते थे और डाँटते थे हमें कहीं लग न जाय। धानके खेतमें-से निकलते। कहीं ऊँचा तो कहीं नीचा! वे हमें कहते—'नहीं, सीधे रास्तेसे चलो! अनजाने रास्तेसे जाओगे तो भटक जाओगे।'

एकबार मैं चित्रकूट गया। मैं बहुत बार गया हूँ चित्रकूट। इस युगमें तपोभूमिकी दृष्टिसे चित्रकूट बहुत उत्तम है। कामदगिरि-परसे मैंने देखा—'वह चित्रकूट गाँव दीख रहा है।' और सोचा, हम सीधे उतरकर चले चलेंगे। हमारे साथी तो सड़कसे आये। हमने कहा—'हम सीधे पहुँचेंगे।' जबतक ऊँचाईपर थे, तब

तक तो गाँव दीखता था। जब नीचे उतरे तो नालेपर आगये। गाँवका दिखना बन्द हो गया। दिशाभ्रम हो गया। पूर्व-पश्चिम मालूम ही न हो। भटक गये तो बहुत घबराये। एक भील वहाँका जंगली आदमी मिला, परन्तु हमारी बोली उसे नहीं आती थी। न बोल सके, न समझ सके। उसने हाथसे इशारा किया। उसका मतलब था—'जिधरसे आये हो, उधर लौट जाओ।'

फिर लौटकर पहाड़पर गया। फिर सड़कसे चलकर चित्रकूट नगरमें गये। मेरे साथी तो बहुत पहले आ चुके थे। मैं तो कई घण्टे देरसे पहुँचा।

**प्रथम मुनिन्ह हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम अति भाई॥**

महापुरुष जिस रास्तेसे चलते हैं, उस रास्तेसे चलना चाहिए। ऊँचा-नीचा, ऊटपटांग, बड़े-बड़े मोड़वाले अनजान मार्गपर कहीं भटक नहीं जाना चाहिए।

हमारे आँख, कान, नाक कहते हैं, 'इधर-उधर चलो।' जब आँखका स्वाद आता है तो उधर ही देखने लगते हैं, और पाँवमें ठोकर लग गयी तो? पटसे गिर पड़ते हैं। शहरी लोगोंको तो नहीं मालूम होगा। लेकिन ड्राइवर देखे दूसरी तरफ और गाड़ी चलावे दूसरी तरफ तो एक्सीडेन्ट होगा कि नहीं? साइकिल चलाते हैं तो देखें इस तरफ और चलें उस तरफ तो साइकिल मुड़ जायगी कि नहीं?

हमारे सामने जो तरह-तरहके विषय हैं—जीभ कहती है,—आज तो सवेरे-सवेरे किसीने इडली-साँभर खानेका निमन्त्रण दिया। 'देखो तो क्या मजेदार है?' 'आजकल तो लोग पर्समें पूरी रखकर जाते हैं और चुपकेसे खा लेते हैं।' डाक्टरने मना किया है तो 'क्या हरज है?' इस प्रकार मनुष्यकी जीभ उसे एक ओर खींचती है तो कान दूसरी तरफ, नाक एक ओर तो मूत्रेन्द्रिय दूसरी तरफ। जैसे

एक पतिकी अनेक पत्नियां हों और इधर-उधर खींच रही हों उसके हाथ-कान आदि पकड़कर—वैसे ही हमारी ये इन्द्रियाँ हमें किसी एकरास्तेसे चलनेकी प्रेरणा नहीं देतीं।

यह जो विषयाशविषका, विषयभोगका मार्ग है, वह बड़ा दुर्गम है। हम इसीपर चल रहे हैं। बुद्धि भी स्वच्छ नहीं है। निर्मल बुद्धिसे सच-झूठ मालूम पड़ जाता है। जिससे अपनी मुहब्बत हो, उसका सब काम अच्छा लगने लगता है जिससे अपनी दुश्मनी हो, उसका सब काम बुरा लगने लगता है। कारण कि विवेक नष्ट हो जाता है। असलमें दुनियामें कोई दोस्त-दुश्मन नहीं होता। जिस कामसे हमारी मुहब्बत है, वह करे तो दोस्त और जिस कामसे हमारी दुश्मनी है, वह करे तो दुश्मन। यह सब अपने मनका खेल है। बड़े भयंकर और बीहड़ मार्गसे मनुष्यको चलना पड़ रहा है। आप अपनी वासनाको छाँटकर सच-झूठका निर्णय कीजिये।

**अनच्छबुद्धे: प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि ॥ ८४ ॥**

अपना बेटा गलत काम करे तो हम उसका समर्थन करते हैं, कि नहीं ? अपनी माँ गलत काम करे तो उसका समर्थन करते हैं कि नहीं ? एक ऐसा युग था जब अपनी माँ गलत काम करती तो लोग उसका समर्थन करते थे। अब बेटा गलत काम करे तो माँ बाप समर्थन करते हैं। तो इसमें अच्छा-बुरा कहाँ है ? उसमें तो अपनी ममता है, अपनी वासना है। बचपनसे अपने मनमें कोई ऐसी बात भर दी गयी है।

●

## : ३४ :

७-७-७५

सिरपर पट्टा नहीं लगा है, मनपर पट्टा लगा है। एकबार शास्त्रार्थ हुआ, 'हिन्दूकी क्या पहचान है ?' आपके ध्यानमें जल्दी नहीं आवेगा। 'जो चोटी रखे सो हिन्दू !' हमने अपना सिर दिखाया, 'जरा देखो तो' ? बिना चोटीका हिन्दू है कि नहीं ? 'जिसको जनेऊ हो, सो हिन्दू !' है कहीं जनेऊ ? अरे, सारे हरिजन आदिवासी, जन-जातियाँ ! बहुत-से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें जनेऊ नहीं पहनते। तो बनाओ उनकी और कोई परिभाषा !

'गाय की पूजा करे, सो हिन्दू', 'गोमांस न खाय सो हिन्दू ?' हमारे चमार हिन्दू हैं कि नहीं ? चमार लोग मांस खाते हैं। गोदावरीके तटपर जो महानुभाव-पन्थी लोग बसते हैं, वे किस धर्मके हैं ? आप जानते हैं ? ऐसे पहचान नहीं बनती है।

जो भारतीय आचार्यके द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदायका अनुयायी हो, वह हिन्दू। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, शैव, शाक्त किसीके अनुयायी नहीं हैं वे ? ईसाई-मुसलमान नहीं है वे ? जो कम्यूनिस्ट हों और ईश्वरको ही न मानते हों वे ? देखो तो, हिन्दू कौन हैं ? हम उसकी सच्ची परिभाषा सुनाते हैं जो कटे नहीं, सो। 'जो अपने दिलमें अपने आपको हिन्दू मान बैठा है, मानता है कि 'मैं हिन्दू हूँ'। जो हिन्दुत्व-विषयक अभिमानसे आविष्ट है, उसका नाम हिन्दू होगा। अब आपको बतावें ? एक—पापी पुण्यात्मा कौन है ? दो—जीव लोक-परलोकमें आनेजानेवाला कौन है ? सीखते-सीखते और लोगोंके सिखाते-सिखाते जो मान गया है कि 'मैं जीव हूँ' उसका नाम जीव है। जीवकी और कोई परिभाषा नहीं है। न सत्रह तत्त्वोंसे बने लिंग शरीरवाला, न लोक-परलोक माननेवाला।

हम तो ऐसे हिन्दूको जानते हैं जो वेदशास्त्र जानते ही नहीं कि वे क्या हैं ? उन्हें रामायण-महाभारतका पता नहीं है कि राम-कृष्ण भी कोई हुए हैं ! ऐसे हमारे आदिवासी जंगलोंमें रहते हैं। जिसने अपनेको जीव मान लिया, उसीका नाम जीव है। जबतक वह अपनेको जीव मानता रहेगा, तबतक वह जीव है। उसे अपने जीवपनेकी मान्यता कहाँसे मिली ? बापसे, दादासे, गुरु, सम्प्रदाय, शास्त्रसे मिली। उसको कैसे तोड़े ? उसको तोड़नेके लिए प्रमाण चाहिए। और, असलमें ऐसा प्रमाण चाहिए, जिससे हमें अनुभव हो जाय। उसी प्रमाणका नाम है वेदान्त। उसी अनुभूतिका-नाम है ब्रह्मानुभूति जिसके एक बार हो जानेपर फिर कभी 'मैं जीव हूँ' यह भ्रान्ति होती ही नहीं।

ब्रह्मज्ञानकी पहचान क्या है ? यह कि 'मैं जीव हूँ' ऐसी भ्रान्ति कभी अपने दिलमें होती ही नहीं। बड़े बीहड़ रास्तेसे—जिसमें लुभावनी चुड़ैलें मिलती हैं। हमने बंगालकी जादुगरनी भी देखी

है। आप ईश्वरकृपासे देखो, आपके सामने मौत आ रही है। वह आपको चोंथ रही है, नोंच रही है, आपको इधर-उधर भटका रही है। क्या-क्या खयाल आपके मनमें पैदा करा रही है? मौत है मौत'। आपने सुन तो लिया। आप ऐसे बात करते हो, जैसे आप मौतको जानते हैं कि मौत क्या है? आप लोग बुरा मत मानना। मौतको भी लोग कम पहचानते हैं।

मौत शेरकी तरह आकर किसीको सफाचट नहीं करती। मौत माने प्रमाद। 'सनत्-सुजातीय' नामका महाभारतमें एक पर्व है। उसमें बिलकुल साफ बताया है। विदुरने सनत्कुमारजीका आवाहन किया और सनत्कुमारने आकर धृतराष्ट्रजीको उपदेश किया। इस सनत्-सुजात-पर्वपर शंकराचार्यका भाष्य है।

**प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।** ( उद्योगपर्व ४२.४ )

मृत्यु प्रमाद है, अपनेको भूल गये, दूसरेको याद कर रहे हैं। अपने द्रष्टा-स्वरूपको भूल गये, दृश्यको याद कर रहे हैं। अपने ब्रह्मस्वरूपको भूल गये, अपनेको जीव मान रहे हैं। इसीको प्रमाद बोलते हैं। जैनधर्ममें प्रमादको ही मृत्युका कारण माना जाता है। बौद्धधर्ममें अविद्याका सबसे कठोर रूप प्रमाद है। होश-हवास खो गया। जो असलियत थी, वह भूल गयी। 'मेरा हीरा हेराया गयो कचरेमें।'

कहाँ बैठे हो? वैकुण्ठमें। यह है! कहाँ गया? कैलासमें। रमैयाकी दुलहिन लूटा बाजार। यह महामाया बाजार ही लूटकर ले गयी यह वेदान्त जप करनेसे नहीं, राम-रामकी तरह सोऽहं, सोऽहं जपनेका नाम वेदान्त नहीं है। यह किसी पोथीमें लिखी विद्या नहीं है। हमारी संस्कृत भाषामें पोथीको, श्लोकको या अक्षरको विद्या नहीं बोलते हैं। जो असलियत है, उसे समझनेको

विद्या बोलते हैं। ब्रह्मविद्या ? विद्या अन्तरंग है जो हृदयमें रहती है ! देखो, लोग न मौतको समझते हैं, न विद्याको।

**हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्थ युक्त्या**
**प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥**

आपका कोई हितैषी दुनियामें है कि नहीं ? बोले, 'है तो सही, परन्तु थोड़ा-थोड़ा शक होता है ! कभी-कभी ! हितैषी क्या करेगा ? बोले, 'शायद इसके मनमें कोई स्वार्थ हो !' पहलेके साधु बड़े फटक संसारी होते थे, फटकार दे ! एक हमारा मित्र था साधु ! वह एक बार हमारे पास आया ! बोला, 'महाराज ! आप हमें ब्रह्मज्ञान दीजिये ! भगवान्‌का दर्शन करा दीजिये।

मैं उससे बोला—'देखो भाई ! जिन्दगीभर हमने एक ही तो कमाई की है। हमें भगवान् मिले हैं। वह तो हमारी पूँजी है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो तो तुमने जिन्दगीमें जो कमाई की है, वह हमको दो, हम तुम्हें भगवान्‌का दर्शन करायेंगे।

वह बोला, 'अरे बाप रे बाप। भगवान्‌के लिए कुछ देना भी पड़ेगा ?' ढूँढ़ना पड़ेगा। ये तो मुफ्तमें भगवान्‌को चाहते हैं। मुफ्तमें मिल जाय तो लेनेमें राजी। एड़ी-चोटीका पसीना पैसा कमानेके लिए एक ! तो माफ करो भाई ! तुम्हारा ऐसा कोई हितैषी है, जिसपर तुम शंका नहीं करते ? दोषदृष्टि नहीं करते ? जिसको तुम परमात्माका—सत्यका अनुभवी मानते हो, ऐसा कोई तुम्हारा हितैषी है ? कोई सज्जन-गुरुजन है ? तो उसकी बात मानो। जिस रास्तेसे चलनेको वह कहे, उस रास्तेसे चलो और चलनेमें भी जगह-जगहपर उसकी बातको कार्यान्वित करनेके लिए युक्तिकी जरूरत पड़ती है—

**प्रभवति फलसिद्धि सत्यमित्येव विद्धि**

फलसिद्धि ऐसे ही नहीं होती है ! अपनी अकलकी टोकरी,

जिसमें कूड़ा-कचरा भरकर लोगोंने आपके सिरपर रख दी है, प्राचीनर्बाहिने नारदजीसे कहा—भागवतमें ( ४.२५.९ ) यह प्रसंग है—'महाराज, आप जो चीज बता रहे हैं, वह हमारे पुरोहितोंको मालूम थी कि नहीं ?'

नारदजीने कहा—'जरा ऊपर नजर उठाकर देखो।' 'वहाँ तो बड़े-बड़े जानवर हैं, और बड़े क्रोधमें हैं ! वे अपने हाथमें तलवार लेकर देख रहे हैं ! ये कौन हैं ?' प्राचीनबर्हिने पूछा।

नारदजी बोले—'तुमने यज्ञमें जिन पशुओंको बलि चढ़ाया था, वे स्वर्गमें खड़े हैं, हाथमें तलवार लेकर कि जब तुम स्वर्गमें जाओगे, तो वहीं तुम्हें काट-कूटकर रख देंगे !'

प्राचीनर्बाहि—'तब हमारे पुरोहितोंने यज्ञ क्यों करवाया ? क्या उन्हें मालूम नहीं था ?'

नारदजी बोले—'यह अध्यात्म-विद्या दूसरी चीज है !' जो मुल्ला-मौलबी, पादरी,पुरोहित, ग्रंथी लोग होते हैं, यह उन लोगों-को चीज नहीं है। यह फक्कड़-फकीरोंकी चीज है। यह ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे लोगोंकी चीज नहीं है !

**हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या**
**प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥**

**मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।**
**पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जवप्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥८४॥**

अच्छा, आपके बारेमें हमारा यह खयाल है कि आप मोक्ष चाहते हैं। कभी-कभी लोग ऐसी चीज चाहते हैं—नाम सुन-सुन-कर कि यह चीज बड़ी अच्छी है। तारीफ सुन-सुनकर। हम लोग अपनी-अपनी पसन्दकी तो चीज बताते हैं। कई बार ऐसा होता है कि लोग आकर कहते हैं कि, 'स्वामीजी ! यह चीज खानेमें बहुत स्वादु है। आप जरूर खाइये' और मुँहमें गलनेपर हमारे मुँहका

जायका ही बिगड़ जाता है। वे समझते हैं कि 'हमें जो अच्छी लगती है; वह इनको भी अच्छी लगेगी।'

उनकी समझ तो अच्छी है, परन्तु स्वाद तो सबका निराला-निराला होता है। आप जिसको खिलाना चाहते हैं, अपनेको जो अच्छा लगता है, सो ही खिलाना चाहते हैं न? यह भी सम्भव है कि वह भी उसको पसन्द न आवे और बिलकुल 'ना' कर दे। उसके फायदेका हो, उसको पसन्द आवे; वह उसे खिलाइये।

मोक्षके बारेमें आपकी पसन्दगी क्या है? एक मुसलमानसे पूछो—'मोक्ष क्या होता है?' तो वह कहता है—'बिहिश्त मिलता है'। 'इतनी हूर वहाँ मिलती हैं।' 'हूर माने वेश्या।' एक एक आदमीको कितने जिल्में मिलते हैं जिल्में? शराबके चश्में बहते हैं। यह मुसलमानका मोक्ष है। आपको मोक्ष चाहिए तो कहीं हूर, शराबके चश्में, जिल्में, बिहिश्त—इनका खयाल तो नहीं आता है कि मोक्ष मिलेगा तो ये सब मिलेगा? तो आप माफ कीजिए, मोक्षके रास्तेपर मत चलिए। मोक्ष उसको नहीं कहते! स्वर्ग, अप्सरा, इन्द्र इनका नाम मोक्ष नहीं है। पराधीनताका नाम मोक्ष नहीं है।

पहली बात—यदि आप चाहते हैं कि हमें मोक्ष मिले—बेवकूफी, नासमझीसे छूटनेका नाम मोक्ष है। इसको आप याद कर लीजिए। यह वेदान्तियोंकी परिभाषा है। 'अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः' अर्थात् बेवकूफी मिट जाय उसका नाम मोक्ष है।

**'अविद्यानिवृत्ति-उपलक्षित आत्मा मोक्षः।'**

वेदान्तमें दो ही परिभाषा है मोक्षकी—

(१) 'अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः'—माने जिसमें अविद्या पृथक् वस्तु नहीं है। अविद्या माने नासमझी, बेवकूफी। जबतक बेवकूफी है, तबतक बन्धन है। नासमझी मिट गयी तो मोक्ष। अपना ही नाम

बद्ध है और अपना ही नाम मोक्ष है। वेदान्तकी प्रक्रियामें जो सबसे ऊँची बात मानी गयी है, वह हम आपको सुनाते हैं।

ब्रह्मसे एक होनेका नाम, परमानन्दकी प्राप्तिका नाम, अनर्थ-की निवृत्तिका नाम मोक्ष नहीं है। किसीसे मिल जानेका या अलग हो जानेका नाम भी मोक्ष नहीं है। मोक्ष माने 'बेवकूफीका मिट जाना ऐसा मिट जाना जो अपने आत्मासे जुदा नहीं होता'।

आप मोक्ष चाहते हैं? आपको बेवकूफी मालूम नहीं पड़ती। आपको पैसेका खोना तो मालूम पड़ता है न? अपने स्वजनका परदेश जाना, पहिचाने हुएका मरना—यह सब दुःख मालूम पड़ता है, परन्तु जो बेवकूफी आपको चिपकी हुई है, वह बेहोशी आपको मालूम नहीं पड़ती। जबतक यह नासमझी नहीं मालूम पड़ती, तबतक मोक्षका मार्ग कहाँसे दिखेगा?

त्यजातिदूराद् विषयान् विषं यथा।

हमारे एक मित्र हैं दिल्लीमें। उनके पड़ोसमें एक साहब हैं। उनके पास बहुत बढ़िया कुत्ता था। हम उनसे बहुत प्रेम करते हैं। वह कुत्ता पड़ोसी मित्रके यहाँ घूमते-फिरते आ जाय तो वे उसे थोड़ा गुड़, मिठाई खिला दें। वह तो बारम्बार आये, रोज आये! आकर बैठ जाय। उन्होंने जब वह बंगला छोड़ा, तब वह कुत्ता जिस साहबके पास रहता था, उनका बंगला छोड़कर अब वहाँ रहता है। वह कुत्ता हमको मिलता है। उसने अपने पहले मालिक-को छोड़ दिया। यह संसार ऐसा ही है।

जो विषय हैं, स्वाद हैं, वे बिना रस्सीके आपको बांधते हैं। वहाँकी जंजीर-रस्सी-पट्टा आपको नहीं बाँध सका। गुड़ ले गया। इसका नाम बन्धन है। संसारके ये विषय गुड़ हैं। वे आपके मन-इन्द्रियको बांध लेते हैं, पराधीन बना लेते हैं। आपकी बुद्धिको पक्षपाती बना देते हैं। अतः पहली बात है—विषयोंके त्यागकी

सामर्थ्य आपमें है कि नहीं ? आप मीठा जहर तो खाते नहीं जा रहे हैं ? अंग्रेजीमें जिसे Poison कहते हैं—वह खानेमें मीठा भले हो, परन्तु ऐसा फँसाता है ! यदि आप मोक्ष चाहते हैं तो—

**प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥ ८४ ॥**

यदि आपके मनमें मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषयकी तरह छोड़ दीजिये और सद्गुणोंको धारण कीजिये। तोष, क्षमा, दान्ति, शान्ति, दया—आदरके साथ इनको अपने मनमें बैठाइये। सन्तोषसे अनुत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। 'ऐसा मिल जाय !'

**पीयूषवत् तोषदयाक्षमार्जव—प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥**

'हमको यह मिलेगा तब सन्तोष होगा'—तो आपका सन्तोष झूठा है कि नहीं ? हमें यह मिलेगा तो हमें सन्तोष होगा ! सन्तोष वह चीज है जो पराधीनतासे हमें मुक्ति दिलाता है। 'सन्तोषाद् अनुत्तमः सुखलाभः' (योगसूत्र २.४२) सन्तोष कहाँ है ? सबसे बड़ा सुख सन्तोष है। यदि हम दूसरेमें परिवर्तन चाहते हैं, दुनियामें, अपने स्वभावमें परिवर्तन चाहते हैं, तो अपने आपमें बैठो !

आदमीको गुस्सा कब आता है ? हमारे कॉमरेड भाई लोग हैं न ? उनका तो नारा ही है—'असन्तोषमें ही सिद्धि है।' आप यदि दुनियाका राज्य पाना चाहते हैं तो असन्तोष चाहिए। आत्माका राज्य पाना चाहते हैं तो ?

शराब पीनेमें असन्तोष हुआ तो और पीयेंगे, और पीयेंगे, और पीयेंगे। दुनिया यदि चाहेंगे, तो शराबकी तरह और प्यास बढ़ती जायगी। यदि आप अपने आपको चाहेंगे तो दुनियादारीकी प्यास आपको नहीं सतायेगी। देखो, मैं उपनिषद् बोलता हूँ ! वह उपनिषद् है जो मैं बोलता हूँ—

**किं प्रजया करिष्यामः ?**
**येषां नोऽयम् आत्मा अयम् लोकः।** ( बृहदा० ४.४.२२ )

उपनिषद् बोलती हैं—'हम सन्तान लेकर क्या करेंगे ? हम जनता लेकर क्या करेंगे ? संस्कृत भाषामें 'प्रजा' के दोनों अर्थ हैं—( १ ) बेटा-बेटी। ( २ ) दुनिया जो तारीफ करती है, पीछे चलती है, जयजयकार करती है !

**किं प्रजया करिष्यामः ?**

**येषां नोऽयम् आत्मा, अयम् लोकः ।**

हम यह प्रजा, यह सन्तान लेकर क्या करेंगे ? क्यों भाई, तुम्हें क्या मिल गया ? बोले—'अयम् लोकः अयम् आत्मा।' हमारा आत्मा ही परिपूर्ण है, संतृप्त है ।

आपके ध्यानमें यह बात जरूर होगी, आपने रामायणमें जरूर पढ़ा होगा, सुना होगा। मेघनादने हनुमानको ब्रह्मास्त्रसे बाँध दिया। वह ब्रह्मास्त्रकी मर्यादा रखनेके लिए, बेहोश होकर लंकामें पड़ गये। इसी बीचमें मेघनादके मनमें शंका हुई कि 'इनके शरीरमें ब्रह्मास्त्र तो कहीं दिखता नहीं कि कहाँ लगा है ? कहाँ बाँध रहा है ? कहीं वह छूट न जाय।' उसने रस्सी मँगाकर ब्रह्मास्त्रसे हनुमानजीको बाँध दिया। ब्रह्मास्त्रने कहा—'बस, इसके मनमें शंका है। मेघनाद खुश रहो ! हम जाते हैं ! जब तुम्हें हमपर विश्वास नहीं है; तुम रस्सीपर विश्वास करते हो ? हीनपर, नीचपर जब तुम्हारा विश्वास चला गया—रस्सीपर विश्वास कि वह तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेगी, हम नहीं कर सकेंगे, तो जाओ बेटा ! रस्सीसे बाँधो हनुमानको। मैं जाता हूँ।'

हनुमानने एक अँगडाई ली और रस्सी चूर-चूर ! हीन शरणागति कभी सफल नहीं होती। कैकेयीने मन्थराकी शरण ली तो व्यर्थ गयी न ? बोली, 'तुम जो कहो, सो करूँगी !' उसे विधवा होना पड़ा। दशरथने कैकेयीकी शरणागति ली तो मरना पड़ा। रामने समुद्रकी शरणागति ली ! बिलकुल गलत ! वह तो एक

राजनीति थी, दिखानेके लिए! शरणागति सफल नहीं हुई। बाण लेकर खड़ा होना पड़ा। शरणागति क्या हुई? शरणागत हो तो हो जाओ! बंधे चाहे न बंधे। अपने मनका धनुष-बाण ले के? यह शरणागति हुई? हीनकी शरणागति कभी सफल नहीं होती है। शरणागति उत्तमकी होनी चाहिए।

ये आत्मदेव जो हैं, वे हर तरहसे उत्तम हैं! दुनिया जड़ है, आत्मा चेतन है। जीव-जगत् अनेक हैं, आत्मा एक है। दुनिया अधूरी है, आत्मा पूरा है। सन्तोष करना है तो चेतनमें सन्तोष करो। जड़में सन्तोष मत करो! सन्तोष करना है तो एकमें सन्तोष करो, अनेकमें सन्तोष मत करो। नित्यप्राप्त अपने आपमें सन्तोष करो, आने-जानेवाले नित्य आगमापायी पदार्थोंमें मत करो। यह तोष है। अमृत यही है।

एक बात है—'दया-दया' कहते है न? चींटियोंकी माँदपर जाकर आटा डालते हैं। बोलते हैं, 'हम चींटियोंपर दया करते हैं, उनके लिए आटा-शक्कर डालते हैं। चिड़ियोंको चना डालते हैं।' बोलते हैं, 'बड़ी दया करते हैं।' 'हे कबूतरके देवता! हमारा दुश्मन मर जाय! हम तो तुमपर दया करते हैं न!'

दया माने? चींटीपर आटा देना, कबूतरको चना छिड़कना दया नहीं है। दया माने दुनियामें किसी भी व्यक्तिको पराया मत समझो। जैसे तुम्हारा शरीर, तुम्हारा बेटा, पत्नी, माँ-बाप, वैसे सारी दुनिया अपनी-परायी नहीं है। भेद-भाव-लक्षण है। दयाकी पहचानका। भागवतमें है—

**एतावान् अव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपास्यते।**

सबसे बड़ा अविनाशी धर्म क्या है? दूसरोंके सुखको भी अपना सुख और दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख समझना। अपने व्यक्तित्वको खो देना, सबके व्यक्तित्वके साथ अपने आत्माको

मिला देना। राम भगवान्ने दयाकी यह पहचान दी। वे दयालु थे। आप जानते हैं?

जटायुकी धूल जटान सों झारि।

जटायु रावणके बाण लगनेपर धरतीपर गिर गया था। रामचन्द्र भगवान्ने उसे उठाकर अपनी गोदमें लिया, अपनी जटासे उसके शरीरपर लगी धूलको झाड़ा। सबसे बड़ा योग यही है। जैसा अपना शरीर, वैसा ही दूसरेका। हिन्दू मुसलमान नहीं है—

मुसलमाँ पारसी सीख जैन ईसाई, यहूद।
सबके सीनेमें धड़कता है एक-सा दिल मेरा॥

'व्यसनेषु मनुष्याणाम् भृशं भवति दुःखिनः।' दूसरेका दुःख देखकर रामचन्द्र दुःखी हो जाते हैं।

'एतावान् अव्ययो धर्मः।' यह अव्यय-अविनाशी धर्म—इसका नाम सनातन धर्म है। 'तू गिरस्ती, मैं साधु'—इसका नाम सनातन धर्म नहीं है। 'तू अछूत, मैं ब्राह्मण'—इसका नाम सनातन धर्म नहीं है। गीतामें यही बताया है—

**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥** (६.३२)

जैसे अपनेको सुख-दुःख होता है, वैसे दूसरेको भी सुख-दुःख होता है। अपनी समतासे जो दूसरेको देखता है, सब काल, सब देश सब जातिमें जो देखता है। आँख बन्द करना, पीठकी रीढ़ सीधी करना, दम घोंटनेका नाम योग नहीं है। उष्ट्रासन, सर्पासन, मयूरासन—ऊँट, साँप, मोर बननेका नाम योग नहीं है। वह तो अमेरिकामें नुमाइश करनेके लिए है।

जो लोग योग जानते नहीं हैं, उनको बतानेके लिए यह योगा है—दमघोंटू योग। सबके साथ आत्मत्वका अनुभव करनेका नाम योग है। उसका नाम है दया—अपरित्याग लक्षणा दया। ●

: ३५ :

८-७-७५

आचार्यंका, ग्रन्थका कहना है—'यदि तुम्हारे मनमें निश्चित रूपसे मोक्षकी आकांक्षा है, तो जैसे विषको दूरसे ही छोड़ देते हो, वैसे ही विषयासक्तिको भी दूरसे ही छोड़ दो। विषय छोड़ना दूसरी चीज है, भोजन भी विषय है। बस ! आर्डर मत दो कि आज यह बने। और मालूम भी मत करो कि आज क्या बना है ? जब भोजनके समय थाली सामने आजाय, तो जैसा आये वैसा खा

लो ! फिर उसकी याद मत करो। फिर कल क्या खायेंगे, उसकी कल्पना मत करो।

असलमें बारम्बार याद आनेसे आसक्ति होती है। आसक्ति मनका धर्म है। जब कोई बात बारम्बार याद आयेगी, तो उससे आसक्ति हो जायगी। आसक्ति माने मनका सट जाना। सक्ति-आसक्ति माने चिपक जाना। जिसकी बार-बार याद करोगे, चाहे दोस्त हो या दुश्मन, उसके साथ मन चिपक जायगा। हमारा मन संसारके विषयोंमें आसक्त न हो। क्योंकि यदि एक जगह चिपक जायगा तो आत्मा-परमात्माका, परमार्थका विचार ही नहीं होगा। बार-बार उसीका विचार आयेगा।

दूसरी बात बतायी—'पीयूषवत्'। जूस आपके घरमें बनता है कि नहीं ? पी + जूस = पीयूष। यह दवाई है, यह अमृत है। औषध है। इसमें एक तो प्रपञ्चकी विस्मृति है। दूसरे रोगकी निवृत्ति है। तीसरे आनन्द है। जिस आनन्दका वर्णन करने जा रहे हैं, उसे यदि आप पीओगे तो दुनिया भूल जायगी। भवरोग मिटेगा। परमानन्दकी प्राप्ति होगी। अमृतमें ये तीन गुण हैं।

नशेमें केवल दुनिया भूलती है, रोग नहीं मिटता। मधुसे दुनिया भूलती है, रोग नहीं मिटता। आसवसे रोग मिटता है, परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। अमृतसे दुनिया भी भूलती है और रोग भी मिटता है साथमें परमानन्दकी प्राप्ति भी होती है। यह है मधु, आसव और अमृत तीनोंकी तुलनात्मक समीक्षा। तीनोंको तौल दिया। तो अमृत क्या है ? गीतामें एक जगह बताया—'यदि आपके मनमें सन्तोष रहेगा तो आपकी बुद्धि स्थिर हो जायगी—

**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥२.५५॥**

जिसके मनमें असन्तोष है, 'यह भी चाहिए,' 'वह भी चाहिए'

उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होगी। यह कैसे मिले, ? अक्ल लगायें चाहे ईमानदारीसे या बेईमानीसे। उसको पानेका प्रयत्न करेंगे। असन्तोषीकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। रोटी-दाल खानेको दिया तो बोलेंगे, 'साग भी हो तो अच्छा! थोड़ी-सी इसमें मिठाई जरूर चाहिए। दहीबड़ेके बिना इसमें क्या स्वाद ? भिखारीका पाँव फैलता है। संस्कृत भाषामें इसे बोलते हैं—'भिक्षुपादप्रसारण-न्याय।'

एक जगह कोई साधु आया। उसने कहा 'भजन करेंगे। भजन करनेके लिए थोड़ी जगह चाहिए।' उसने थोड़ी बालू बिछा दी। बालू बिछानेके बाद चारों ओर ईंट रख दी! कहा कि 'रोज भजन करेंगे'। फिर एक दिन लाकर छाता गाड़ दिया। फिर बोले-'बैठे-बैठे पाँव फैलता नहीं है', तो ईटोंका घेरा बढ़ानेकी कोशिश की। बोलते थे, 'बैठेंगे, भजन करेंगे' और कब्जा ही कर लिया उस जगहपर। यह है 'भिक्षुपादप्रसारण-न्याय'। आदमीका मन भिखारी हो जाता है तब उसको असन्तोष होता है। वह धनी नहीं है। ईश्वरकी ओरसे उसे जो मिला है वह, बुद्धि स्थिर नहीं होगी तो 'कैसे मिलेगा' ? नयी-नयी अक्ल निकालेगा। ऐसे लोगोंपर विश्वास नहीं करना चाहिए। आज तो दो रुपया माँग रहे हैं, कल पाँच माँगेंगे। फिर परसों दस चाहिए। अब दस रुपया निकालनेके लिए दस और देंगे। मामला बढ़ जायगा। इसलिए असन्तोषीकी बुद्धिपर विश्वास करना उचित नहीं होता।

**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते** ( गीता )।

अपने ही मनमें अपने मनको स्थिर करके बैठोगे तो बुद्धि डावाँडोल नहीं होगी। गीतामें एक और बातपर ध्यान दो—

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येवात्मना तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥** गीता ३.१७

जबतक तुम्हारे मनमें असन्तोष है, तबतक तुम्हारा कर्तव्य है। यदि मनमें असन्तोष नहीं रहेगा तो पूरा सन्तोष हो जायगा तो 'यह करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा यह करेंगे तो नरक से बचेंगे।' खुश होगा सामनेवाला 'हें-हें दारी करनेकी जरूरत सन्तोषीको क्या है ? अपने आपमें बैठेंगे।' 'सन्तोषी सदा सुखी'—यह हमारे गाँवमें कहावत है।

देखो, 'हम यह मकान बनाकर सुखी होंगे'—यह बात बड़ी मेहनत चाहती है। इतना पैसा कमाकर हम सुखी होंगे, ब्याह करके हम सुखी होंगे इन बातोंमें बड़ी मेहनत जरूरी है। सबसे बड़ा सुख क्या है यह देखिए। हम हैं। हैं न ? 'हम मानते हैं', 'हम होश-हवासमें हैं'। हमें दुनियाकी कोई चीज नहीं चाहिए। हम मरे नहीं हैं, हम मर सकते नहीं हैं। हम पागल नहीं हैं, होशहवासमें हैं। हमें दुनियाकी कोई चीज नहीं चाहिए।

**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।**

अब आपको दुनियामें कोई चीज, कोई कार्य नहीं है। सन्तोष तो बड़ी भारी चीज है। अब कोई कार्य नहीं है। इसमें न विनाश है, न मूर्खता है। न पराधीनता है न भय है। अपने आपमें बैठिये। वेदान्तमें जिसे ब्रह्म बोलते हैं, उससे मनमें ज्यादा दिन जीनेकी इच्छा नहीं है। ये डॉक्टर लोग कब परेशान करते हैं ? जब ज्यादा दिन जीनेकी इच्छा होती है। 'लो सूई'। अरे इतने दिन जीकर तुमने कौन-सा बड़ा काम किया है कि दो-चार वर्ष और जिन्दा रह जाओगे ? जितनी उमर मिली, उसमें तो तुमने कुछ करके दिखाया नहीं; और उमर पानेके लिए कितनी तकलीफ उठा रहे हो ? सारी तकलीफ इसी बातकी है—'जीनेकी इच्छा, भोगकी इच्छा !' यह भोगेंगे, वह भोगेंगे। पहले घी-दूध खानेकी इच्छा मनमें हुआ करती थी। डॉक्टरोंने उस इच्छापर ऐसा पानी फेरा

है--'मत घी खाओ, मत दूध पीओ।' देखो न! भोगकी इच्छा। कभी यह शान्त होगी बढ़ती हो जायगी।

कहते हैं कि एक धनी सेठ थे, उनके मनमें सम्भोगकी बहुत इच्छा थी। उन्होंने बन्दरकी मूत्रेन्द्रिय अपने शरीरमें लगवायी, परन्तु क्या उनकी सम्भोगकी इच्छा पूरी हुई?

**नालमेकस्य तृप्त्यर्थम् यत् पृथिव्यां व्रीहि-यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।**

(आदिपर्व ८५.१३)

दुनियाका सारा भोग एक मनुष्यको तृप्त करनेके लिए काफी नहीं है।

**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।**

(मनु० २.९४; आदिपर्व ८५.१२)

जितनी आहुति डालोगे, उतनी आग बढ़ेगी। वासनामें जितनी-जितनी विषयोंकी आहुति डाली जाती है, 'उतनी-उतनी बढ़ती जाती है। इसलिए सन्तोष, दया। ब्रह्ममें अपनी उमर बढ़ानेकी

**सन्तोषाद् अनुत्तम-सुखलाभः।** (योगसूत्र २.४२)

इच्छा नहीं है क्योंकि पूर्ण है। अपना आनन्द बढ़ानेके लिए विषय-भोगकी इच्छा नहीं है। क्योंकि उधार लिया हुआ आनन्द काम देनेवाला नहीं है। पहले, मेहनतकी कीमत चुकाते हैं और फिर आनन्द लेना चाहते हैं। जो आनन्द लेते हैं वह उधार दूसरी चीजोंसे लेते हैं। घी, दूधका आनन्द बदल गया। जानते ही हैं आप कि इन्द्रियाँ असमर्थ हो गयीं, मनकी रुचि बदल गयी, निरन्तर भोक्ता नहीं रह सकते। चार बातें हैं--(१) विषयमें परिवर्तन (२) इन्द्रियोंकी असमर्थता, (३) मनकी रुचिका बदल जाना और (४) अपना भोक्तृत्व कायम न रहना। सुषुप्तिमें तो कायम ही बदल जाता है।

**नात्र किञ्चित् भोग्यम् उत्पश्यामः।**

हमको तो इस दुनियामें भोगके लायक कोई चीज मालूम नहीं पड़ती। 'तोष' और 'दया'--क्या तुम अपराधको छोड़ सकोगे ? चुनौती इस बातकी है कि ऐसा दुनियामें कोई नहीं हुआ है, न है, न होगा जो अपराधको छोड़ सकता हो। क्या आप स्वयंमें अपराधी नहीं हैं ? आपके तनसे, वचनसे, मनसे क्या कभी कोई अपराध नहीं हुआ है ? या नहीं होता है ? आप जिन्दा रहेंगे तो आपसे कभी कोई अपराध न होगा ? आप दूसरेके अपराधको तो पकड़ते हैं, कि यह अपराधी है, इसको जातिसे बाहर कर दो, इसके घर खाना-पीना बन्द कर दो, इसके साथ मिलना-जुलना छोड़ दो। इसे जेलमें डाल दो। इसे देशसे निकाल दो। परन्तु वही अपराध जब आप करते हैं तो आप अपने तन-मन-वचनको क्या दण्ड देते हैं ?

जैसे तुम स्वयं अपनी अशुद्धिको माफ करते हो, अपने बच्चेकी गलती हो तो वह कोई गलती नहीं है, उसकी ओरसे लड़ने जाते हैं। अपनी माँकी गलती हो तो बिलकुल पच जाती है। अपनी गलती हो तो हवा नहीं लगती है और दूसरेके पापी होनेका तुरन्त फतवा दे देते हो कि 'यह पापी है, यह अपराधी है।' मेरे गुरुने एक बहुत अच्छी बात कही।

मेरे गुरुने कहा कि 'बेटा ! जब तुम पाप करते हो, तब मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम तो भले उसका पाप करके मजा भी ले लो। मैं तुम्हारा पाप देखकर दुःखी होता हूँ ! तुम जो कुछ करते-सोचते हो, जहां-कहीं जाते हो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। मैं तुम्हारे आत्मामें हूँ।' हमारा गुरु कभी हमें छोड़कर जायगा ? जबतक मुक्ति नहीं होगी, लिंग-शरीरका भंग नहीं हो जायगा, हमारे हृदयमें बैठा गुरु अपना शरीर छोड़ देता है, हमारा दिल नहीं छोड़ता वह तो कहता है, 'बेटा जबतक तुम मुक्त नहीं होओगे, हम मुक्ति स्वीकार नहीं करेंगे। हम मुक्त नहीं होंगे। हम तुम्हारे दिलमें बैठेंगे,

रोयेंगे, हँसेंगे। अच्छा-बुरा करेंगे तुम्हारे साथ-साथ। तुमको छोड़ नहीं सकते। तुम जेलमें तो हम भी जेलमें जायेंगे। यह अपरित्याग इसका नाम 'दया' है।

क्षमा--हम अपनेको कितना माफ करते हैं इसपर ध्यान दो। दूसरेको अपराधी न समझना है, दूसरेसे अपराध हो जाय तो उसका खयाल नहीं करना। हम एक-दो घरका आपको सुनाते हैं।

महात्मा गान्धी गोरखपुरसे वर्धा आ रहे थे। वे थर्ड क्लासमें यात्रा करते थे। उनके साथ दूसरे लोग भी थे। एक भलेमानुष उसी डिब्बेमें आये। वे सुरती-पान खा रहे थे। उन्होंने गाड़ीके एक कोनेमें थूंक दिया। गान्धीजी पढ़ रहे थे अखबार। उन्होंने अखबारका विज्ञापनवाला एक कोना फाड़कर थूंक पोंछ दिया और बाहर फेंक दिया। फिर गांधीजी अखबार पढ़ने लगे। उस सज्जन-को आश्चर्य हुआ। फिरसे उसने थूंक दिया। गान्धीजोने फिरसे पोंछ दिया। देखें भी नहीं उसकी तरफ बोलें भी नहीं। और वह पहचानता नहीं था कि वे गान्धोजी हैं। जब बनारस आया और 'भारतमाताकी जय हो, गान्धीजीकी जय हो' के स्वरसे प्लेटफार्म गूंज उठा, वह भी देखने लगे। उनको सूतकी माला पहनायी। वह भौचक्का रह गया और लज्जित हुआ, 'अरे ये तो गान्धीजी हैं।' वह उनके चरणोंमें गिर गया और बोला, 'क्षमा करो'।

गान्धीजी बोले—'देखो, मैंने तो कुछ नहीं किया। जहाँ मैं बैठा हुआ था, वहाँ साफ रहे यह हमारा फर्ज है, कर्तव्य है। जैसे हमसे कोई गन्दगी हो जाती तो मैं साफ करता, वैसे तुमसे हुई तो साफ कर दिया। इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं।'

वह सज्जन तो गान्धीजीके चरणोंपर गिरे और गिड़गिड़ाये कि 'हमको कोई सजा दीजिए।'

गान्धीजो—'सजा क्या दें तुमको ? अभी तुम बहुत बार यात्रा

करोगे। उस समय जब जो कोई गन्दा कर दे तो तुम भी वहाँ सफाई कर देना।'

यह देखिये ! अपने दिलको बिगाड़ना नहीं चाहिए। यदि उस थूकको आपने अपने दिलमें ले लिया और बाहरवालेको चार गाली सुना दी कि तुम बहुत गन्दे हो, तो जीभ भी आपकी गन्दी हुई, दिलमें वह थूँक आया और बहुत देरतक उसके बारेमें आप सोचते रहेंगे। आपके दिलमें गन्दगी घुस जायगी। क्षमा करना चाहिए।

इसके बारेमें थोड़ी सिद्धान्तकी बातें—यह सब ऐसे ही ऊल-जलूल नहीं होता। हम सार्वजनिक रूपसे विद्रोह करते हैं, दूसरोंके खिलाफ काम करते हैं। उसका नाम होता है 'द्रोह'। जब किसीको मारते हैं तो उसका नाम होता है 'हिंसा'। दुःख पहुँचाते हैं—मारनेकी बात छोड़ दो तो उसका नाम होता है हिंसा। हम कुछ नहीं करते, परन्तु दूसरा हमपर आक्रमण करता है, उसको हम मारते हैं। तो उसका नाम होता है 'प्रतिहिंसा।' हनते को हनिये।

द्रोह बड़ा अपराध है। उससे कम हिंसा और उससे भी कम अपराधकी मात्रा है प्रतिहिंसामें। सबसे ऊँची चीज है अहिंसा। मारते हुएको—दुःख पहुँचानेवालेको दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। प्रतिहिंसा माने बदला लेना, प्रतिशोध।

'क्षमा' अहिंसाकी अभिव्यक्ति है उसमें द्रोह है, न हिंसा, न प्रतिहिंसा। क्षमा 'अहिंसा'का जाहिरा रूप है। जैनधर्ममें अहिंसाको बहुत महत्त्व देते हैं। उनके यहाँ क्षमापन-क्षमावणी है। एक दूसरेसे जाकर क्षमा माँगते हैं और एक दूसरेको क्षमा करते हैं व्रत है क्षमावणी। अहिंसा मुख्य धर्म है, क्षमा मुख्य कर्तव्य है।

किसी नौकरसे प्लेट या प्याला टूटा तो ? अपने हाथसे टूटा

तो ? दोनों प्रसंगोंमें अपने मनके भावमें फरक है कि नहीं ? जैसे नौकरके हाथसे टूटा वैसे तुम्हारे हाथसे भी टूटनेकी सम्भावना थी कि नहीं ? नौकरको तो तुम जुर्माना करते हो, चार बात सुनाते हो ! तुमसे यदि यही काम हो जाता तो क्या करते ? दूसरे-को क्षमा करना चाहिए और हमसे हो तो दंड देना चाहिए। परन्तु व्यवहारमें उल्टा हो रहा है। दूसरेको दण्ड देते हैं और अपनेको क्षमा करते हैं। अपने सौ-सौ अपराध माफ, दूसरेके बिलकुल नहीं।

हमको एकने बताया था, 'हमारे घर एक अघोरी महात्मा आये थे।' हमारे गाँवकी ओर अघोरी महात्मा रहते हैं। हमारे पितामहसे जान-पहचान थी इसलिए वे आया करते थे। अपने साथ वे खप्पर रखते थे और श्मशानमें जाकर ज्यादा रहते थे। वे सब कुछ खाते थे, ना-नु करनेकी जरूरत न थी। पन्थ उनका अघोरी ! जब जाने लगे तो एकदम ऊँचाईपरसे कहने लगे— पण्डितजी ! बाबाजी ! गुरुजी ! इधर आओ, देखो बाबाजी ! यह धरती अघोर है कि नहीं ? उस पर थूँक दो, गड्ढा खोदो, काट लो, पीट लो, यह धरती अघोर है कि नहीं ? वह क्षमा करती है कि नहीं ?' पृथिवीका एक नाम क्षमा है।

'जल अघोर है कि नहीं ? सारा नाला समुद्रमें गिरता है, मना ही नहीं करता है ! अग्नि अघोर है कि नहीं ? कुछ भी डाल दो ! चाहे रखो या शान्त कर दो। वायु अघोर है कि नहीं ? सब जगह जाता है, सब जगह छूता है। आकाश अघोर है कि नहीं ?'

'आपकी इन्द्रियाँ सब जगह देखती हैं कि नहीं ? अथवा अच्छी-अच्छी चीज छाँटके देखती है ? कान अच्छी-अच्छी चीज छाँटकर सुनते हैं। मन आपका अघोर है कि नहीं ? वह अच्छी-बुरी दोनों जगह जाता है कि नहीं ?'

'अघोरेभ्यो घोरेभ्यो घोरतरेभ्यः।
सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥
(मैत्रायणी सं. २.९.१०)

'ये सबके सब भगवान्के रूप हैं। हम उनको हाथ जोड़ते हैं। अब इन्हें हम व्यक्तिकी दृष्टिसे नहीं, तत्त्वकी दृष्टिसे देखें तो सृष्टिके सब तत्त्व क्षमाशील हैं। अमुक मजहब क्षमाशील न हों, यह हो सकता है। परन्तु संसारमें जो तत्त्व है, वे सब एकरस, एकसरीखे हैं।'

वे बताकर गये कि क्षमा तात्त्विक है—स्वाभाविक है। मनुष्यके निसर्गमें यह है—नेचर! जब हम उबलते-उफनते हैं, तब प्रकृतिके विरुद्ध काम करते है। दूध शान्त बहता है। वह आँच लगने पर उफनता है। वह तो आगन्तुक है।

आपको क्या सुनावें? हमने ऐसी-ऐसी क्षमा देखी है—'अच्छा, ऐसे ही सही। एक महात्मा थे। आप लोगोंको नहीं मालूम। किसीने आकर उनसे कहा—'आपके पास अमुक सेठ आते हैं, उनसे कह दें हमें इतना रुपया दे दें!' उन्होंने कहा—'हम किसीको कहते नहीं, कि इसको इतना रुपया दे दें।' माँगनेवाला जिद्दपर आगया। उसने आकर उनकी नाकपर चाकू मारा। नाक उनकी कटी नहीं, छिन गयी। महात्माके भगतने उसे पकड़ा कि 'मारेंगे हम इसे।'

महात्माजीने कहा—'सब लोग इसे छोड़कर अलग हो जाओ! छातीसे लगाओ, दूध पिलाओ। इसने होश-हवासमें थोड़े ऐसा किया है।' फिर उन्होंने स्वयं उसे अपनी छातीसे लगाया। जब लोग न माने तो वे बोले,—'अच्छा, किसीने इसे कुछ किया, मारा या बोला तो हम यह देश छोड़कर चले जायेंगे। फिर कभी नहीं आयेंगे।' यह सुनकर सब चुप हो गये।

एक आये सेठ। वे हाथरसके थे। उनका नाम राधेश्याम सेक्सरिया था। उस भलेमानुषको क्या सूझा कि अपना कोट निकालकर बाबाकी कुटियामें टांग दिया और चले गये कहीं वह घंटे-दो-घंटेके बाद आये तो बोले—'हमारे कोटमें एक सौ पचीस रुपया रखा हुआ था। कोई निकालकर ले गया।'

बाबाकी कुटियामें कौन आया? चोर पकड़ा गया। उसने एक सौ पचोस रुपये दे भी दिये। लोगोंने कहा--'बाबा! अब आप इस आदमीको निकाल दीजिए। यह आश्रममें रहने लायक नहीं है। इससे आश्रम बदनाम होता है।'

बाबा क्या बोलते हैं कि—'यही आश्रम हमारा थोड़े है। सारी धरती हमारी है। वह जहाँ जायगा हमारी दुनियामें रहेगा। वह तो हमारी ही कुटिया, हमारा ही मकान और हमारा ही आश्रम होगा। अच्छा, हम यहाँसे चले जाते हैं। आप इसे रख लें।'

आपने सुना होगा, बंगालमें एक हरिदास नामके महात्मा थे। तीन लाख नामका रोज जप करते थे, 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।' लोगोंसे यह सहन नहीं हुआ। लोगोंने उनके पास एक वेश्या भेजी। वह आयी तो वे बोले--'अभी हमारा नियम पूरा नहीं हुआ है, तीन लाख नामका जप करना है, आप बैठ जाइये। हमारा नाम पूरा होगा तो बात करेंगे। तबतक आप भी भगवान्का नाम लीजिए।' जप करते-करते रात बीत गयी। सुबह चार बजे तो वह माताजी भी उठके चली गयी।

दूसरे दिन वह फिर आयी। तीसरे दिन फिर आयी। तीन-तीन रात बीत गयी। तीन दिनमें तो महात्माकी यह निर्विकारता और ब्रह्मचर्य देखकर कि उन्होंने शाप नहीं दिया, गाली नहीं दी किसीको बताया नहीं। माताजीका मन ही बदल गया। वह बोली—'आपकी निर्विकारता, ब्रह्मचर्य और आपका सद्भाव

देखकर मैं खुश हो गयी। अब मैं वेश्याका जीवन नहीं बिताऊँगी, साधुका जीवन बिताऊँगी।'

महात्मा हरिदास बोले—'बहुत बढ़िया' और तुरन्त दीक्षा दे दी—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'। रोज तीन लाख जप करो।

वह बोली--'अब मैं अपने घर नहीं जाऊँगी! मैं तो यहीं इसी आश्रममें रहना पसन्द करूँगी।'

वे बोले—'बहुत बढ़िया। तुम रहो।'

उन्होंने अपनी कुटिया दे दी। जिस अपराधपर दण्ड देना चाहिए था, उसके बदलेमें अपनी कुटिया ही दे दी। वे कहीं चले गये।

बात तो सुन्दर हुई है, परन्तु कभी-कभी चर्चामें बात आजाती है। बिरलाजीके घरमें एक नौकरसे कोई गलती हो गयी। नयी पीढ़ीके लोग हैं, उन्हें अच्छा नहीं लगा तो उसपर जुर्माना कर दिया। जब जुगलकिशोर बिरलाके पास बात पहुँची—यह बात 'श्रीकृष्ण-सन्देश'में छपी है बिरला-स्मृति अंकमें। उन्होंने अपने लड़केको बुलाया फिर पूछा—'इस आदमीने कभी अच्छा काम भी किया है कि हमेशा गलती ही करता है?'

लड़केने बताया—'इसने बड़े अच्छे-अच्छे काम किये हैं।'

बिरलाजी—'अच्छा काम करनेपर कभी उसे पुरस्कार दिया है?

लड़का—'नहीं, वह तो उसका फर्ज था।'

बिरलाजी—'अच्छा काम करना उसका फर्ज था तो काम करनेवालेसे कभी गलती भी होती है। यदि तुमने इसे अच्छे काम-के लिए कभी पुरस्कार दिया हो तो गलती होनेपर जुर्माना करनेका तुम्हें अधिकार है। अन्यथा नहीं। उन्होंने उसे माफ करवा दिया।

मनुष्यका हृदय कैसा होना चाहिए ? इस ब्रह्मकी छातीपर महामायाने ऐसा जाल फैलाया है। अधिष्ठान ब्रह्म छाती ही तो है न ? कितना अध्यास फैलाया है ? जने-जनेकी बुद्धि उसमें तरह-तरहका भ्रम ! यह ससंर्गाध्यास ! अर्थाध्यास ! ज्ञानाध्यास ! कैसे-कैसे भ्रम फैलाये हैं ? 'यह चीज मेरी है।' जो चीज मेरी नहीं है, उसे मेरी बताते हैं, मानते हैं, 'मेरी है'। रुपया तुम्हारा है न ? 'मेरा है', 'मेरा है।' पाँच दिन पहले दूसरेकी दुकानमें था। तब वह कहता था, 'मेरा है' पाँच दिन बाद दूसरेके पास जायगा तो वह कहेगा—'मेरा है।' मायाने ब्रह्मको छातीपर वह जञ्जाल फैलाया है कि सब 'मेरा है' मानते हैं। यह संसर्गाध्यास है।

सब चीज झूठी है, है ही नहीं। बुद्धि कहती है, यह सच्ची है। देखो, अर्थाध्यास हो गया। चीज है ही नहीं, और हो रहा है भ्रम कि है। ज्ञानाध्यास हो रहा है—'मैं ब्रह्म नहीं हूँ मैं जीव हूँ।' यह जाल, यह प्रपञ्च किसने फैलाया है ? माया-महामायाने। लेकिन ब्रह्म मना नहीं करता। यह है क्षमा। अधिष्ठानका स्वभाव है क्षमा।

स्वरूप है अद्वितीय। जब तुम अपनेको अधिष्ठानसे एक समझते हो या समझनेकी कोशिश करते हो, तो तुम्हारी साधना है क्षमा और समझ लिया है तो तुम्हारा स्वरूप है क्षमा। तुम्हारे ब्रह्म-स्वरूपमें, निष्क्रिय-स्वरूपमें न कहीं अपराध है, न निरपराधता। यह है क्षमा। ब्रह्मसे लेकर व्यवहारतक क्षमा है। इस क्षमाके बोधको मनमें ठीक-ठीक बैठा लो।

एक बात आपके सोचनेके लिए, निर्णय करनेके लिए—विवेकसे-निर्णय होता है। निश्चय होता है अनुभवसे। निर्णय और अनुभवमें फरक है। दो चीजें हों तो यह ठीक कि वह ठीक, इसका निर्णय कर लिया। अनुभवसे होता है निश्चय। सबका निचोड़ अपने अनु-

भवमें होता है। आप देखिये, एक आदमीने अपराध किया। दूसरे आदमीने अपराधके बदले और अपराध किया, गाली दी। तीसरा आया। उसने कहा—'अरे, इसने हमारे दोस्तको गाली दी, इसको मारेंगे।' अब इसका दोष हुआ। दंगा ऐसे ही होता है।

हम जब बनारसमें थे, तब हिन्दू-मुसलमानका दंगा ऐसे होता था। दंगेका युग था। एक गुंडा दस गुंडे बना देता था। अपराधके बदले अपराध करनेसे अपराधकी वृद्धि होती है और अपराधके बदले क्षमा कर देनेसे अपराध वहीं समाप्त हो जाता है। अपराधकी वंशवृद्धि करनी हो तो अपराधपर अपराध करो। अपराधकी प्रवृत्तिको समाप्त कर देना हो तो क्षमा कर देना चाहिए।

किसीको तुम कहो कि वह बुराईको निरन्तर धारण करे। चुनौती है। 'जब बोलो तब झूठ ही बोले' तो क्या कोई दुनियामें ऐसा कर सकता है? विलायतमें एक क्लब है। ऐसा सुना है कि उसमें शर्त यह है कि 'भीतर घुसनेके बाद कोई सच बोले; पूछते हैं कि क्यों भाई! तुम झूठ बोलते हो? उत्तरमें 'हाँ' कह दिया तो नम्बर कट जाय! वह बोलता है झूठ और कहता है 'ना'। लेकिन दुनियामें कोई ऐसा नहीं है जो निरन्तर झूठ बोल सकता हो। जीवनभर 'झूठ न बोलने'का निर्वाह हो सकता है। कोई जीवनभर चोरी करके रह सकता है? सोयेगा कि नहीं? चोरी छोड़कर ही तो सोयेगा। दुनियामें निरन्तर चोरी नहीं कर सकता; परन्तु हमेशाके लिए चोरी छोड़कर रहा जा सकता है। दण्ड हमेशा नहीं दिया जा सकता है। परन्तु क्षमा हमेशा दी जा सकती है। तो क्षमा शाश्वत धर्म है। सत्य और अहिंसा शाश्वत धर्म है और हिंसा, चोरी, झूठ ये सब अशाश्वत हैं।

हमारा मन इतना फालतू है कि लोगोंके अपराध याद करता रहे? ईश्वरकी याद नहीं, आत्माकी, ब्रह्मकी याद नहीं, अच्छाईकी

याद नहीं। दूसरा कोई गलती करे तो भूल जाओ भाई! और अपनी गलती हो तो याद रखो! तुम भलाईका काम करो तो भल जाओ। याद करने और भूलनेमें भी साधकके लिए एक बात होती है।

**मोक्षस्य काङ्‌क्षा यदि वै तवास्ति**
**त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।**
**पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-**
**प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥ ८४ ॥**

बड़े आदरके साथ अच्छाइयोंको रखो, क्योंकि अच्छाइयोंमें ब्रह्म प्रतिविम्बित होता है। बुराइयोंमें ब्रह्म प्रतिविम्बित नहीं होता। अपनी अद्वैतता, पूर्णता, सर्वात्मा, अनन्तता जहाँ बाहिर होती है, वहाँ उसका नाम अच्छाई होता है।

एक सेठने किसी महात्मासे पूछा—'ये चुटकुला, लतीफा सुनानेवाले लोग सरदारोंका नाम ज्यादा लेते हैं। हम लोगोंको कुछ सुनाना हो तो सेठोंका नाम लेते हैं।' वह आक्षेप नहीं होता उनपर। जो अपनेपर मानता हो, वह अपनेको बचा ले। सेठ न माने! दूसरे किसीको सेठ बोलते हैं, ऐसा समझना।

एक सेठने पूछा—'महात्माजी! आपको हमारी कभी-कभी याद तो आती होगी!'

महात्मा—'हां सेठ, लेकिन तब, जब ईश्वर भूल जाता है।'

●

: ३६ :

९-७-७५

जिस वस्तुको पानेकी इच्छा होती है, उसके अनुरूप साधन या वाहन स्वीकार करना पड़ता है। अमुक चीज खानी है तो वह कैसे बनेगी, किस होटलमें बनेगी, यह मालूम करना पड़ता है। अमुक जगह जाना है तो ट्रेनसे, मोटरसे या प्लेनसे—कैसे जायेंगे ? यह मालूम करना पड़ता है। जब कोई इच्छा होती है तो उसकी पूर्तिके अनुरूप जो साधन होता है वह करना पड़ता है। कहते हैं, अच्छा जी ! आपके हृदयमें मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षा है ? माने कोई ऐसी जगह है जहाँसे आप छूटना चाहते हैं ? इसे आप एकदम मामूली मान लो।

बेचैनीसे, दुश्मनसे, स्वर्ग-नरकसे आप सचमुच छूटना चाहते हैं ? ईमानदारीकी बात करो। दुनियामें बेईमानी चल सकती है व्यवहारमें। आप पैसा कमा सकते हैं। किसीको ठग सकते हैं, लेकिन अपनी अन्तरात्मामें जहाँ साध्य-साधन होता है, वहाँ ईमानदारी चलेगी, बेईमानी नहीं। आप अपने आपसे ही बेईमानी कैसे कर सकते हैं ? ईमानदारीकी बात यह है कि आप दुनियामें किसीसे छूटनेकी इच्छा करते हैं। भवबन्धनकी बात छोड़ो। जो स्वर्ग-नरकको मानता ही नहीं, वह स्वर्ग-नरकसे छूटनेकी इच्छा कैसे करेगा। वह तो बिलकुल हल्की-फुल्की गलकुच्चनकी बात है। यह 'गलकुच्चन' हमारा देहाती शब्द है। 'पंडित सोइ जो गाल बजावा',

एक बार मेरे पितामह गये थे जगन्नाथपुरी। उन दिनों वहाँ नियम था कि जो कोई जाय, वह कुछ छोड़नेकी प्रतिज्ञा करे। वे थे ब्राह्मण पण्डित! पंडेने बताया कि 'कुछ छोड़ना चाहिए।' उनके मनमें यह तो खयाल आया ही नहीं कि 'झूठ, छल, कपट छोड़ना है।' चीज माने खाना-पीना छोड़नेकी बात सोची कि 'क्या छोड़ें?' आलू? उसके विना तो चलेगा ही नहीं। अमरूद? वह तो देहाती सेव है। तो हुआ क्या? उन्होंने खुद अपने मुँहसे यह बात सुनायी है। वे बोले—'काशीफल' छोड़ दें। कहीं भी बड़ा भंडारा होता है तो वही तो चौधरी है, बड़े भंडारेको संभालता है। उसके विना भी कैसे चलेगा?' अन्तमें सोचा—'गूलर'का फल छोड़ दें। वह कभी नहीं खायेंगे। तो गूलरका फल तो हम लोगोंने कभी खाया ही नहीं था। माने दुनियामें जब कुछ छोड़नेकी चीजका विचार आप करने लगोगे तो मालूम पड़ेगा कि शायद इसकी भी कभी जरूरत पड़ जाय। मोक्षकी आकांक्षा जिसमें लोक-परलोक और ईश्वरके ऐश्वर्यको भी छोड़ना पड़ता है। 'ईश्वरको उसका ऐश्वर्य मुबारक हो! हमें नहीं चाहिए।' ऐसे बोलते हैं, मुझे याद है। श्रीउड़ियाबाबाने प्रयागके मेलेमें सत्संगके बीचमें कह दिया—'वैराग्य जबतक ईश्वरके ऐश्वर्यसे नहीं होगा, तबतक तत्त्वज्ञानकी चर्चा क्या है? तुम ईश्वर बनना चाहोगे कि 'हम दुनिया बनावें और बिगाड़ें, हम ही दुनियाको चलावें, हमें ऊँची कुर्सी चाहिए।' बात सच है। इस बातपर कई लोग नाराज हो गये। देखना यह है कि भक्ति मोक्षकी आकांक्षा है, तो उसके अनुरूप साधना क्या है?

जिससे मुक्त होना चाहते हैं, कमसे कम उसका चिन्तन-स्मरण, इच्छा तो छोड़ दें? लेकिन नहीं, जिस रास्तेसे आपको नहीं जाना है, उसके मिलके पत्थर गिनना, कितने किलोमीटर हैं?

जब आपको जाना नहीं, तो व्यर्थ शक्तिका अपव्यय क्यों करते हैं? सामनेवाली चीजसे, दृश्यसे, जड़तासे मुक्त होना चाहते हैं तो उससे सम्बन्ध छोड़कर अपने आपमें बैठें। यही उसके अनुरूप साधना होगी। यह तो बिलकुल युक्तियुक्त, वैज्ञानिक, सुसंगत है। दुश्मनसे छुटकारा चाहते हैं और दिनरात उसको याद करते हैं। वह तो बिलकुल आपके 'दिलमें बैठ ही जायगा।'

आप जानते होंगे कि पूर्वमीमांसापर कुमारिल भट्टका एक 'श्लोक-वार्त्तिक' ग्रन्थ है। उसमें ऐसे कहा है—'भाई! तुम मेरे दोषको ग्रहण मत करना।' देखना और ग्रहण करना एक ही चीज है। ज्यों? जिस चीजको तुम दूसरेमें देखना पसन्द नहीं करते हो, उसको जब तुम देखोगे तो वह तुम्हारे दिलमें घुस जायगा।

**नेष्यते यः परस्थोऽपि**

तुम चाहते हो कि हमारे गाँवमें कोई चोर न रहे। तो क्या करोगे? अपने गाँवमें-से चोरको निकाल फेकेंगे? चोरको निकालनेके लिए तुम जो अपने आपमें जप करने लगे, वह चोर तो गाँवमें नहीं चाहते हो, उसको अपने दिलमें क्यों बसाते हो? इसपर एक बात उन्होंने बहुत मजेदार कही है।

वे वैसे थे तो मीमांसक, दार्शनिक। उन्हींके पास शंकराचार्य गये थे। जब वे कुमारिल भट्ट भूसीकी आगमें अपने शरीरको जला रहे थे, शंकराचार्य उनको देखनेके लिए गये थे। शंकराचार्यने कहा है—'दुनियाके विद्वानोंमें-से एक विद्वान् हैं वे।' भारतके नहीं। किसीने कहा—'अच्छा, हम तो तुम्हारा दोष न पकड़ें, पर तुम्हारे अन्दर तो दोष रह जायगा न?'

वे बोले—'देखो भाई! ये स्त्रियां जब अपना शृंगार करती हैं, तो काजल लगाती हैं! वह मुंहपर पोतनेके लिए थोड़े ही

होता है ? वह तो आँखमें लगानेके लिए होता है। हमारे अन्दर जो दोष है, वह तो हमारी आँखका काजल है—

चक्षुर्मृगाक्षीणाम् कज्जलेनैव भूष्यते।

आप जिस चीजको छोड़ना चाहते हैं, उसीकी आप याद करना चाहते हैं, तो आप तन्मय हो जायेंगे, वही हो जायेंगे। इस लिए आप जिससे मुक्त होना चाहते हैं, विषयसे, बन्धनसे, स्वर्गसे या नरकसे, उनकी याद छोड़िये। सम्पूर्ण प्रपञ्चसे मुक्त होना है तो उसकी याद मत कीजिये। यही मोक्षके अनुरूप साधना है।

रबिया मुसलमान स्त्री थी। वह भजन करती थी तो मौलवी लोगोंने उससे पूछा—'क्या तू नरकसे बचनेके लिए भगवान्का भजन करती है।' उसने कहा—'यदि मैं नरकसे बचनेके लिए भजन करती होऊँ तो खुदावन्द-गरीब हमेशाके लिए मुझे दोजखमें—नरकमें डाल दे।'

तब उन्होंने पूछा—'तो क्या तू स्वर्ग पानेके लिए भजन करती है।' रबिया बोली—'यदि मैं स्वर्ग पानेके लिए भजन करती होऊँ, तो भगवान् मुझे कभी भी स्वर्गमें न भेजे।'

इसका नाम होता है स्वर्ग-नरक दोनोंसे मोक्ष।

**मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति**
**त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।**

जैसे जहरसे परहेज करते हो, वैसे विषयासक्तिसे परहेज करो। आपको सुनाया था कि मनमें सन्तोष, दया, क्षमा चाहिए। सन्तोष माने आत्मतुष्टि। आप लोग जानते हैं कि जिनके घरमें एयरकंडीशन नहीं मिलता, वे एयरकंडीशन दुकानमें जाकर घण्टेभर ठहरते हैं और कोकाकोला पीते हैं। अब तो वैज्ञानिकोंने कोकाकोलाको नापास कर दिया। आप अपने पड़ोसीके घरमें जाकर घण्टेभर क्यों बैठते हैं ? क्योंकि आपका मन आपके

घरमें नहीं रमता। यही न? अपनी पत्नीसे या अपने पतिसे मन नहीं भरता, तो दूसरेके पति-पत्नीके पास जाते हैं।

बात क्या है? अपना दिल ही अपना घर है। अपना आत्मा ही अपना परम प्रेमास्पद है। उसके स्वरूपमें स्थिति ही मोक्ष है। दूसरोंसे छूटना माने आपमें बैठना। यही साधन होगा। आपके मनमें आत्मतुष्टि नहीं है।

आपको याद ही होगा, एक भक्तने महात्माजीसे पूछा—'ईश्वर मुझपर खुश है कि नहीं, यह कैसे मालूम पड़े?'

महात्माजीने उत्तर दिया—'तुम खुद अपने ऊपर खुश हो कि नहीं?'

ईश्वरने अपना अन्तःकरण अलग तो बनाकर रखा ही नहीं है। ईश्वरके अन्तःकरण नहीं होता। वेदान्तियोंको यह बात मालूम है और किसीको नहीं। जैसे हर शरीरमें अपना-अपना अन्तःकरण होता है खुश होनेके लिए और नाराज होनेके लिए, वैसे ईश्वर कार्योपाधि नहीं है। मायाकी उपाधि है। नीलिमाको अन्तःकरण थोड़े ही होता है? ईश्वरके अन्तःकरण नामका कोई वस्तु नहीं है! वह आपके दिलमें रहता है। वह घर-घरमें रहता है। सब घर उसके घर हैं।

जिसके घरमें खुशी है, उसके घरमें ईश्वर खुश है और जिसके घरमें नाराजगी है, उसके घरमें ईश्वर नाराज है। आप अब तौल लो। क्या आप अपने चरित्रसे, अपनी बातचीतसे, अपने कपड़े-लत्तेसे, अपनी मनोवृत्तिसे, अपने आरामसे, अपने काम-क्रोध-लोभ-से, अपनी शान्ति और अपने सन्तोषसे अपने ऊपर सन्तुष्ट हैं? तो ईश्वर आपपर सन्तुष्ट है। हम दस्तावेज लिखकर दे देते हैं कि 'यदि आप अपने ऊपर खुश हो, तो परमेश्वर आपपर खुश है।'

सबके दिलके भीतर ऑटोमेटिक मशीन लगी है रिकार्डिंगकी।

मनुष्य सोचता है 'मैंने चोरी की, मैं बुरा' रिकार्ड ऐसे नहीं होता कि—'मैंने चोरी की !' रिकार्ड होता है, 'मैं चोर।' वकलम-खुद ! अपने कलमसे लिखा जाता है। रिकार्ड होता है कि—'मैं बुरा हूँ।' यही ओटोमेटिक मशीन भीतर लगी है। आप मोक्ष चाहते हैं ?

**मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति**
**त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा**
**पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-**
**प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्** ॥८४॥

कभी किसीको मत छोड़ो। जिससे पाप हुआ, वह ऐसा ही है जैसे कभी हमसे पाप हो जाता है। हमसे क्या गलती नहीं होती ? कौन ऐसा है दुनियामें जो दावा करे कि उससे कभी गलती नहीं होती है ? आपसे गलती होती है तब अपने आपको आप माफ करते हैं। स्वयंको कोई जेलखानेमें जाकर नहीं डालते।

जब अपने आपको हम माफ कर सकते हैं, तो दूसरेको क्यों नहीं करते ? गलत होनेपर भी जब हम अपनेको नहीं छोड़ते हैं, तो दूसरोंको छोड़नेका क्या अर्थ होता है ?

आर्जव माने ऋजुता, सरलता, सीधापन। छल-कपट नहीं, दावपेच नहीं। भगवान् कहते हैं कि 'मैं' काम-क्रोधको बरदाश्त कर लेता हूँ लेकिन कपट-छलको तो मैं कभी बरदाश्त नहीं करता हूँ। 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' पहले इसके सम्बन्धमें पुरानी उक्ति है। जहाँ साध्य नित्य, शाश्वत, सनातन होता है, वहाँ उसकी साधना भी नित्य, शाश्वत, सनातन होती है। जो लोग नया-नया आविष्कार करते हैं, वह बिलकुल झूठा होता है।

अनादि कालसे मनुष्यको दुःखोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा रही है। हमारे बुजुर्गोंने दुःखोंसे छुटकारा पानेका अनुभव किया है और

इतना अधिक किया है कि उसमें मनोवृत्तिके सारे दावपेच समा जाते हैं। तो आप अनुभवके मार्गसे—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

इस रास्तेपर नहीं चलना चाहते हो न? जादूगरी देखना चाहते हो कि तुमको मेस्मराइज कर देगा तो मोक्ष हो जायगा। तुम्हें हिप्नाटाइज करके ऐसे हाथ करके नचाने लगेगा तो तुम्हें मोक्ष मिल जायगा। अरे! ये सब तो बदमाशोंकी बातें हैं। उनके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। चूँकि मोक्ष और मोक्षप्राप्तिकी इच्छा पुरानी है, हमारे महापुरुषोंने कहा है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदम् आर्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञान-विषयः प्रलापः किं करिष्यति॥

यह महाभारतका श्लोक है। जितना कपट, बांकापन, टेढ़ापन है, वह मृत्युका आह्वान है। कपट करोगे तो कपटमें मृत्युका निवास है। आर्जवम् ब्रह्मणः पदम्—सरलता ब्रह्मका निवास है।

एतावान् ज्ञान-विषयः—सारे वेदान्तका प्रतिपादन इतना ही है—'सरल जीवन, सहज जीवन।'

प्रलापः किं करिष्यति—ज्यादा बकवाद करनेसे क्या फायदा?

मनस्येकं वचस्येकं महात्मनः। महात्माओंका यह स्वभाव है कि जो उनके मनमें है, वही उनकी वाणीमें है और वही उनके कर्ममें है। सरलता ही महात्माका लक्षण है। एक ऐसे महात्माको मैंने देखा—अच्छे भले-चंगे बैठे हुए थे। एकने आकर पाँव छूआ और बोला—'महाराज! आपके पाँव कुछ गरम लगते हैं। हाथ देखं! हाथ भी कुछ गरम हैं। स्वामीजी। आपको तो बुखार है?'

महात्मा बोले—'अच्छा! बुखार है?' जाकर वे सो गये।'

दूसरेने आकर पूछा—'महाराज! क्यों सोये हैं?'

महात्मा—'बुखार है।'

दूसरा आदमी—'आपको क्या मालूम पड़ता है ?'

महात्मा—'वह कह गया कि बुखार है ? हमको तो बुखारसे कोई जान-पहचान नहीं है। वह भला झूठ क्यों बोलेगा ? वह कह गया कि बुखार है तो जरूर बुखार है।'

ऐसा, देखिये तो ! संसारी लोगोंके कामकी तो यह चीज नहीं है। आप यह मत समझना कि दुकानदारीमें आप ग्राहकसे ऐसा सरल व्यवहार कर सकेंगे।

सरलताकी एक और बात मैं सुनाता हूँ। स्वामी असंगानन्द आये थे वृन्दावन। वहीं हमारे आश्रममें ठहरे। बल्कि कई लोगोंने अपने पन्थका और सम्प्रदायका कहकर यह चाहा भी कि यहाँ न रहें। परन्तु वे बोले—'नहीं, हम तो यहीं ठहरेंगे।' शामको उनको बुखार आ गया। कथा-वार्ताके बाद जब मैं गया उनके पास तो वे तो ओढ़कर सोये हुए थे। सचमुच ही उनको बुखार था। मैं उनके शरीरपर हाथ फिराने लगा, सिरसे पाँवतक। मैं बोला—'मुझे एक ऐसा मन्त्र आता है—मेरे गुरुने बताया है—कि हम शरीरपर हाथ फिरावें तो बुखार चला जाय।' अच्छा, तो मैं दस-पन्द्रह मिनटतक उनके शरीरपर हाथ फिराता रहा। वे तो उठकर बैठ गये। फिर सत्संगकी बात होने लगी।

वे बोल उठे—'सचमुच बुखार उतर गया। यह मन्त्र कौन-सा है ? हमको बताओ, कौन-सा मन्त्र है जिससे बुखार उतर जाता है ?'

यह सरलताकी बात है न ? उनकी सरलता बतायी और अपना कपट बताया। व्याख्यानमें यह ठीक नहीं है कि हम अपनी सरलता और दूसरेका कपट बतावें। यह व्याख्यानकी रीति नहीं है। व्याख्यानकी रीति यही है कि दूसरेका गुण बताया जाय। अवगुण बताना हो तो अपना दृष्टान्त देना।

पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जवप्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ।

असलमें कपटमें आँख चञ्चल होती है, सरलतामें आँख स्थिर होती है। जब द्रोणाचार्यने कहा—'अर्जुन !' माने ऋजुः, 'आर्जव' नामका गुण जिसमें निवास करे वह अर्जुन—यह नैरुक्त-व्युत्पत्ति है, पाणिनीय व्युत्पत्ति नहीं है। 'जो अर्जन करे, सो अर्जुन' यह पाणिनीय व्युत्पत्ति है।

द्रोणाचार्यने कहा—'अर्जुन ! देखो तो, पेड़पर जो चिड़िया टँगी हुई है, उसकी आँख !

जब दुर्योधनको देखनेके लिए कहा गया तो उसने चिड़ियाके अतिरिक्त पेड़ और डालीको भी देखा और कर्णको कहा तो वह सारी चिड़िया देखने लगा। अर्जुनकी नजर बिलकुल चिड़ियाकी आँखसे मिल गयी। इसका नाम है ऋजु। बिलकुल सीधा ! और सचमुच मायाको पार करनेका यही बिलकुल सच्चा साधन है। हम आपको एक व्यवहारकी बात सुनाते हैं।

हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब रहते थे, गाजीपुर जिले में अंग्रेजोंके जमानेमें। वे सबसे पहले बी० ए० हुए थे। वे जिस काममें हाथ डालें, वह सफल हो जाय। उन्होंने गाजीपुर-बनारसका-चेयरमैन होना चाहा, तो चेयरमैन हो गये। विधानसभामें जाना हुआ तो चले गये। जिस काममें हाथ डालें, वह हो जाय। उनके दुश्मन चारों खाने चित्त।

मैंने उनसे पूछा—वे मेरे पितामहके शिष्य थे और बड़ी उम्रके थे। हम तो बहुत छोटे थे। हमको भी हाथ जोड़ते थे। मैंने पूछा—'आपकी सफलताका रहस्य क्या है ?'

उन्होंने बताया—'हमारे जितने दुश्मन हैं, वे सोचते हैं कि ये बड़े चतुर हैं, बुद्धिमान् हैं तो ये क्या-क्या दावपेच खेलेंगे ? वे सोचते हैं कि ये सीधे रास्तेसे जायेंगे नहीं, जंगलमें-से जायेंगे, तो

हम मारेंगे। हम जब जाते हैं तो बिलकुल सीधी सड़कसे जाते हैं। उनका सब मोर्चा टूट जाता है।'

सौ सुनारकी, एक लोहारकी। बिलकुल सरल? एकदम सरल।

'शारदा-एक्ट' बना था। ठाकुर साहबके छोटे भाई साहबने उन पर 'शारदा-एक्ट' लगा दिया। क्योंकि उन्होंने अपने लड़केका व्याह कायदेसे छोटी उमरमें कर दिया था। उनका सिद्धान्त था कि 'बच्चोंका व्याह छोटी उमरमें कर देना चाहिए।' 'कमायेंगे तब व्याह करेंगे'—यह अर्थ-दृष्टि हुई। 'जवान होंगे तब व्याह करेंगे'—यह काम-दृष्टि हुई। 'इनका चरित्र बिगड़ने न पावे और व्याह कर दिया जाय'—यह धर्मदृष्टि हुई। उनका कहना था कि ब्याह जरा जल्दी होना चाहिए। उन्होंने अपने लड़केका व्याह कर दिया, तो उनके छोटे भाईने उनपर मुकद्दमा दायर कर दिया, शारदा एक्टमें। हम लोग पूछते, 'अब क्या करोगे।'

वे बोले—'क्या करेंगे? जब हमारा छोटा भाई जेल भेजनेको तैयार है तो चले जायेंगे। और क्या करेंगे?' ऐसे बोलते थे। हम भी उस दिन गये थे अदालतमें! कलक्टरके पास, कचहरीमें उनका मुकदमा पेश हुआ।

वे बोलते हैं—'व्याह तो हुआ था गाज़ीपुरमें और मुकदमा पेश हुआ है बनारसमें, आपकी अदालतमें। मालूम तो यह होता है कि आपकी अदालतमें यह मुकदमा पेश होना ही नहीं चाहिए।' उनके बोलनेके पहले किसीको यह बात मालूम न थी। तुरन्त कलक्टरने मुकदमा खारिज़ कर दिया कि—'हाँ, यह मुकदमा देखनेका हमें अधिकार नहीं है।'

इतने सीधे थे कि हम पकड़के ले जाते कि 'यहाँ चलो' तो आ जाते। हमको उन्होंने कई बातें सिखाई। कम-से-कम बीस पुस्तकें

बाज़ारमें उनके नामसे मिलती हैं। 'रामचारक योगी'के सब ग्रन्थोंका उन्होंने हिन्दीमें अनुवाद किया था।

'सरलता' की बात कर रहे हैं। सम्पूर्ण समस्याओंका समाधान है 'सरल जीवन'। जो एक बार झूठ बोलेगा, एक बार भी कपट करेगा, उसे बार-बार झूठ बोलना पड़ेगा और कपट करना पड़ेगा। सरलताकी हद हो जाती है तब, जब अर्जुन लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको लेकरके घरमें आते हैं। कुन्ती मैयाके सामने आकरके अर्जुन बोले—'माँ, मैं एक बहुत बढ़िया चीज़ लेकर आया हूँ।'

माँ तब बोलती है—'बेटा; पाँचों भाई मिलकर बाँट लो।' है न सरलताकी हद। सिर पीटने लायक बात हो गयी? माँकी नासमझीकी हद्द हो गयी। अर्जुनकी सरलताकी हद्द हो गयी। अर्जुन बोला—'अच्छा माँ, जैसी तुम्हारी आज्ञा।' इतनी बड़ी सरलता आपने कहीं देखी है? अर्जुन माने सरलता।

युधिष्ठिरने कहा—'लड़ना है।' अर्जुनने कहा—'ठीक है' और धनुष-बाण लेकर तैयार! देखा, सामने तो अपने ही लोग हैं तो रोने लगा, धनुष-बाण फेंक दिया। कृष्णने कहा—'लड़ना चाहिए।' तो लड़नेको तैयार।

श्रीउड़ियाबाबाजी मञ्चपर बैठ गये। आर्यसमाजियोंने कहा—'ऊपर क्यों बैठते हैं? आप नीचे बैठिये।' बाबा बोले—'अच्छा तो नीचे बैठता हूँ।' फिर सनातनियोंने कहा—'नहीं महाराज! हम गुरुजीको नीचे नहीं बैठने देंगे।' तो फिर ऊपर बैठ गये। उनको तो कुछ है ही नहीं। जिसका अहंभाव टूटता नहीं है, उनकी बात अलग है। ब्रह्म बिलकुल सीधा-सरल है। चींटीमें भी है और हाथीमें भी हैं। ब्रह्मकी रश्मियोंका वक्रीभवन नहीं होता। ये जो किरणें हैं जैसे सूर्यकी किरणें पानीमें पड़ती हैं तो टेढ़ी हो जाती हैं; तब आसमानमें लाल-पीला-नीला रंग दिखाई पड़ने लगता है।

सूर्यकी किरणें जब टेढ़ी होती हैं तब हरा-लाल-पीला रंग आसमानमें दीखने लग जाता है। सूर्यकी किरणें टेढ़ी हो जाती हैं परन्तु ब्रह्मकी किरणोंका वक्रीभवन नहीं होता। वह बिलकुल सीधी चलती हैं। मैं-तुममें, यह-वहमें, यहाँ-वहाँमें। न स्थानका प्रभाव न पानका प्रभाव। न वस्तुका प्रभाव, न स्वच्छता-मलिनताका प्रभाव। ब्रह्मकी किरणोंमें कभी बांकपन-टेढ़ापन होता ही नहीं।

हमारे भीतर हमारी किरणोंका आभासरूपमें वक्रीभवन होता है। हम जबतक अपनेको जानते-मानते हैं, तबतक होता है। क्या दिखता है? ये चक्र दीखते हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, और मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सर्वोपरि सहस्रार। योगियोंके छह चक्र और तान्त्रिकोंके बारह चक्र होते हैं। भीतर सब दिखाई पड़ते हैं। शाकिनी, डाकिनी, देवी-देवता ये सब क्या हैं? अपनी ही किरणोंका यह वक्रीभवन है। यह है अभ्यास। हमारे मनकी किरणें टेढ़ी होती हैं तब हम मनमें चाहे वैसी शक्ल बनाकर उसमें तन्मय हो जायँ। ब्रह्मकी किरणोंमें टेढ़ापन बिलकुल ही नहीं है। अपना अहंभाव छोड़ दो। यह-वह, यहाँ-वहाँ सबमें एक परब्रह्म परमात्मा निर्मल, ज्यों-का-त्यों सीधा दिखाई पड़ता है।

**पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-**
**प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्** ॥ (८४ उत्तरार्ध)

एकबार करपात्रीजी महाराज श्री उड़ियाबाबाजीसे नाराज हो गये। वे मानो उनके बालक थे, ऐसा समझो। मध्यमाके द्वितीय खण्डमें जब वे पढ़ते थे तो बाबाके पास सत्संग करनेके लिए रोज चार मील चलकर आते और सत्संग करके जायँ। परन्तु जब बड़े हुए तब किसी कारणसे नाराज हो गये। कारण भी हम बता दें। कोई स्वार्थका या चरित्रका कारण न था। धर्मसम्बन्धी विचारके

कारण थोड़ा मतभेद था। वे कहते थे कि 'हरिबाबाजीको यह काम करनेसे रोको, वे सबके बीचमें ओंकारका कीर्तन न करें।'

बाबा कहते थे, 'वे महात्मा हैं। जो करते हैं, वह ठीक है। हम काहेको रोकेंगे ? वे आकर पूछें कि हमारा क्या विचार है, तो जैसा ठीक समझते हैं, बता सकते हैं। पूछते नहीं तो हम बताने क्यों जायँ ?'

मतभेद यही था। इस कारणसे करपात्रीजी महाराज नाराज हो गये। सब आते हैं और बड़े महात्मा ! रामराज्य परिषद् और धर्मसंघ। एक दिन मैंने बैठे-बैठे ही श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे कहा—'वे ( करपात्रीजी ) आपके पास आते थे। अब नहीं आते हैं तो आप ही उनके पास चले-चलिये।' वे बोले—'चलो बेटा !' वे उठकर खड़े हो गये। मैंने कहा—'महाराज, चलिये।' करपात्रीजीका निवास एक-दो मीलकी दूरीपर था। हम चले तो पहले ही एक आदमी दौड़ाया कि 'जाकर करपात्रीजीसे कहो कि उड़िया बाबाजी उनसे मिलनेके लिए आ रहे हैं।'

करपात्रीजीको जो मालूम हुआ कि उड़ियाबाबाजी आ रहे हैं, तो जैसे थे वैसे ही, बिना खड़ाऊँ पहने, छतपरसे जैसे थे वैसे ही उतरे और आकर सामने दण्डवत् किया और ले गये। यदि वे यह कहते कि वे हमको नहीं मानते तो हम नहीं आते हैं। वे छोटे हैं तो हम उसके पास काहेको जायँ ? तो यह छोटे-बड़ेका भेद है न ?

यदि तुम्हें छोटेसे ज्ञान मिले तो छोटेके पास जाओ ! बड़ेसे ज्ञान मिले तो बड़ेके पास जाओ ! छल-कपट नहीं, परीक्षा करनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी बात करो कि 'देखो, ये समझते हैं कि नहीं, इन्हें ज्ञान है कि नहीं।' तो गलत हो जायगा। अपने समझनेके लिए बात करो। प्रमाणमें कोई संशय हो—यह अकाट्य सिद्धान्त

है कि वाक्य-प्रमाणके विना अपने ब्रह्मत्वका ज्ञान नहीं हो सकता। आपको कोई संशय हों तो पूछ सकते हैं !

यह ज्ञान भीतरसे तब निकलता जब आपको कभी हो चुका होता ! सब ज्ञान बाहरसे ठूँसा हुआ है। यदि ज्ञान हो चुका होता तो आज आप जीव ही न होते। जब यह भीतरसे नहीं निकलता, है, वाक्य-प्रमाणके द्वारा, गुरुके द्वारा, शास्त्रके द्वारा यह भीतर जाता है और अविद्याको निवृत्त करता है। यह ज्ञान आँखसे, नाकसे, जीभसे या हाथसे भीतर नहीं जाता है।

आपको प्रमाण-प्रमेयके बारेमें कुछ संशय हो तो पूछिये आपको प्रमेयके बारेमें संशय हो कि ब्रह्म ऐसा कि वैसा ? तो पूछिये और विपर्यय हो तो निदिध्यासन कीजिये। केवल अज्ञान हो तो श्रवण कीजिये सरलता चाहिए सरलता—

**पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्।**

जीवनमें सरलता चाहिए, निष्कपट बच्चेकी तरह। एक पिताजी घरमें बैठे थे। उन्होंने बच्चोंसे कहा—अमुक आदमी आनेवाला है, तुम पहचानते हो ! वह आकर तुमसे पूछे कि 'पिताजी हैं ?' तो कह देना, 'पिताजी घरमें नहीं हैं।' जब वह आदमी आया तो उसने पूछा—'क्यों बेटा ! तुम्हारे पिताजी कहाँ हैं ?' उस बच्चेने कहा—पिताजी कहते हैं, 'कह दो, कि पिताजी घरमें नहीं हैं !' है न बात ? छोटा बच्चा ! विलकुल बच्चेकी तरह बात होनी चाहिए। सरल बात। तब आपको दूसरी बातोंको छिपाने या छल-कपट गढ़नेमें शक्तिका जो अपव्यय करना पड़ता है, वह नहीं करना पड़ेगा।

क्रोधमें क्या शान्ति होती है, यह तो आप जानते ही हैं। हाथ-पांवतक कांपने लगते है। मुंह काला हो जाता है। गुस्सा आने-

पर पहले मुँह लाल होता है, बादमें काला पड़ जाता है। यदि किसीको अपने सुन्दर होनेका अभिमान हो और महीने-दो-महीने लगातार रोज वह गुस्सा करे तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जायगी यदि शान्त रहोगे, गुस्सा नहीं करोगे तो चेहरेपर सौम्यता माने आकर्षक सौन्दर्यका उदय हो जायगा। परन्तु क्रोध आया, दुश्मनको जाकर चार गाली सुनायी और आकर बैठ गये कि हाँ, अब शान्ति हो गयी। गाली देनेके बाद शान्ति। भोग करनेके बाद जो शान्ति आवेगी, वह शान्ति क्या सच्ची होगी? कामका वेग आनेपर शरीर चञ्चल हो गया है, यह बुखार चढ़ गया, दर्द होता है शरीरमें। कामका वेग आनेपर—यह बात है। क्रोधका वेग पित्त है। इससे शरीरमें आग लगती है।

**काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त निज छाती जारा॥**

गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा—'क्रोध आनेपर पित्त भड़कता है और काम आनेपर वात। चञ्चलता आती है। इसके परिणामसे जो शान्ति मिलती है, वह बिलकुल बनावटी श्मशान-शान्ति है। पुराण सुनते समय, जो थोड़ी देरके लिए शान्ति मालूम पड़ती है, वह असली नहीं होती, नकली होती है। असलमें, जो इस दुनियामें परिवर्तनका आकांक्षी है, चाहता है कि 'हम दुनियामें यह चीज बदल देंगे, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती, न वह अपना मनचाहा परिवर्तन ला सकता है। यह हम आपको बिलकुल फकीरोंका मुद्दा सुनाते हैं। चाहे हम समाजमें सुधार करेंगे या राजनीति बदलेंगे, यह कपड़ा छोड़कर हम सुखी होंगे। इस मकानमें रहकर सुखी होंगे, इस जंगलमें जाकर हम सुखी होंगे। अरे! यहाँ तो शान्ति नहीं है। हिमालयमें जाकर हम सुखी होंगे—'दूरतः पर्वता रम्याः।' दूरके ढोल सुहावने। जब आदमी सोचता

है कि दूर जायेंगे तब सुखी होंगे तो वह नासमझीसे ऐसा सोचता है।

एक बार हम गये उत्तरकाशी। सुना था कि वहाँ तो शान्ति ढेर-की-ढेर रहती है। चाहे जो जाय। तो गये! वहाँ गया तो एक तो धुआँ जो ठण्डके दिनोंमें होता है, वह न ऊपर जाय न नीचे आवे। आँखमें तकलीफ हो! क्या ध्यान होगा। हमने कहा—'हम तो शान्ति बटोरने आये थे। इसके बाद छोटे-छोटे काले-काले भुनगे-कीड़े थे बहुत। वे आँखमें घुसते थे। आप शान्ति बटोरने जाते हैं न? फिर सोचा, गंगा-किनारे जाकर बैठेंगे। उस समय वहाँ एक सौ बीस वर्षके महात्मा थे देवीगिरिजी महाराज!' उस समय वे एक सौ दस-ग्यारह वर्षके होंगे! वे बोले—'गंगा-किनारे मत बैठना।'

मैंने पूछा—क्यों महाराज!'

वे बोले—'कभी ठण्डी हवा आ जाती है तो कभी पहाड़से गरम-गरम हवा आ जाती है। ठण्डी-गरम हवा लग जायगी तो बीमार पड़ोगे। गंगा-किनारे बैठकर मत करना भजन।'

गंगाकिनारा गया और कुटियामें धुआँ लगे, भुनगा आँखमें घुसे। अब? शान्ति बटोरने हम गये थे! शान्ति देशमें-स्थानमें नहीं मिलती। यहाँ गये, वहाँ गये कि शान्ति मिलेगी। कालमें भी शान्ति नहीं मिलती। न सुबहको, न शामको, न सत्ययुगमें न कलियुगमें। बिलकुल झूठी बात। शान्ति भीतर होती है।

आप लोग तो सब जानते हैं, क्या सुनावें? असलमें शान्त वस्तुका चिन्तन ही शान्ति है। आपका हृदय शान्त है, आप शान्त हैं। आपका मन अशान्त है, तो आप अशान्त हैं। शान्ति जहाँ मनका विषय, वहाँ शान्ति। अशान्ति मनका विषय, तो अशान्ति।

यदि आप शुद्धका चिन्तन करते हैं तो आपका अन्तःकरण

शुद्ध है। मनको ठप कर देनेका नाम मनकी शान्ति नहीं है। यदि किसीके ध्यानमें न हो तो समझ लो। मनको ठप कर दिया, फिर चालू हुआ तो वही गन्दा पानी। बन्द कर दिया कि अब नहीं बहने देंगे तो जब मन खुलेगा तो वही भीतरकी गन्दगी बहेगी। असलमें मनका शुद्ध-विषयक होना—मनके शुद्ध विषयके चिन्तन-की धारा चले तो मन शुद्ध हो गया। मन ठप किया तो उठनेपर वही मन, वही बेईमानी, वही औरत-मर्द, वही धन और वही छल-कपट। मनके ठप होनेका माने शान्त–निष्क्रिय होनेका नाम शान्ति है तो वह बिलकुल भ्रम है, भूल है।

एक हमारा मित्र था, ईश्वरकृपासे अभी नैमिषारण्यमें मिला था, वहाँ जानेपर देखा, वह भी आगया था। दो-चार बरसमें कहीं इधर-उधर भेंट हो जाती है। बड़ा विरक्त है। बस, हाथके नीचे झोलीमें लंगोटी, अवधूत-गीता और भगवत्-गीता लपेटकर रखता है। वह छह घंटेतक उलटा टँगता–नीचे सिर ऊपर पाँव और बिलकुल एकान्तमें। जब निकलकर आता तो खून तो सारा-का-सारा सिरमें आगया न! आँख लाल हो गयी। जबान तो बिलकुल काबूमें न रहे। राम और कृष्णको भी गाली दे। क्योंकि रक्तका सारा दबाब तो सिरमें आगया। ऐसे शान्ति नहीं होती है।

शान्ति तो तब होगी जब आप नित्य शान्त वस्तुसे एक हो जाओगे। शान्तिकी धारा आपके हृदयमें है। वासनाओंका शान्त हो जाना शान्ति है। मात्र मनका शान्त होना शान्ति नहीं है। मनका शान्त होना, चंचलताका मिटना, निष्क्रियता, समाधि है। वासनाओंका शान्त होना शान्ति है। असलमें वासना मिटनी चाहिए।

•

## : ३७ :

१०-७-७५

वेदान्तका एक प्राचीन सूत्र है। वह शंकराचार्यसे भी ज्यादा पुराना है। आप जब कोई बात पढ़ें, कोई विचार पढ़ें या सुनें तो यह देखें कि इससे हमारा कौन-सा दुःख और कौन-सा दोष मिटता है। यदि उस कर्मसे, विचारसे, गुणसे वा स्थितिसे आपका कोई दुःख या दोष मिटता है, तो उसका होना ठीक है। 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्'—सूत्रका अर्थ है, कोई भी बात सच्ची है, ठीक है। क्यों ठीक है ? क्योंकि उसने तुम्हारे दुःख, दोष और अज्ञानको मिटा दिया है। सफल हो गया।

यहाँ चर्चा चली गुणोंकी। जिज्ञासुके जीवनमें सन्तोष होना चाहिए। स्त्री-पुरुषका तो परस्पर 'काम' होता है। अप्राप्तिके प्राप्तिकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है। जो हमारे पास न हो, उसको हम चाहते हैं। पुरुषके शरीरमें कमी है स्त्रीत्वकी, स्त्रीके शरीरमें कमी है पुंस्त्वकी। इनकी जो परस्पर आकांक्षाएँ हैं, उनको 'काम' बोलते हैं।

लोभकी प्रकृति है कि जो चीज अपने पास है, वह और अधिक चाहिए। लाभात् लोभः प्रवर्तते। प्रवृत्ति कब होती है ? जब चीज थोड़ी मिले और अधिक-अधिक चाहते रहते हैं। निर्वाहभरका भोजन कर लिया, उसके बाद भी और रखने लगे। उसका नाम लोभ है।

यह जो सन्तोषका वर्णन है, कि जिज्ञासुके जीवनमें सन्तोष चाहिए, तो जितनेसे अपने जीवनका निर्वाह हो जाता हो, उतनेमें ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। क्योंकि हाथ-पांव दुनियाँमें चाहे कितना फैलाओ, वासना तो मिटती नहीं है। एक कल्पना करो, एक-एक आदमीके मनमें कितनी-कितनी इच्छाएँ हैं ? यदि एक-एक मनुष्यकी इच्छाएँ सब-की-सब पूरी होने लगे तो दुनियाकी सब चीजें मिला करके भी सब पूरी होनेवाली नहीं हैं। उनमें भी जब स्पर्धा, छीना-झपटी, मारपीट होगी तब—

**नालमेकस्य तृप्त्यर्थम् इति मत्वा शमं व्रजेत्**

एक मनुष्यकी सारी इच्छाएँ पूरी करनेमें भी संसारकी सारी वस्तुएँ पर्याप्त नहीं हैं। पहले तरंगें उठती हैं, परन्तु जब विषयका संग मिल गया तो वे समुद्र बन जाती हैं। इसलिए सुखी होनेका मार्ग लोभकी वृद्धि या लोभका पेट भरना नहीं है, सन्तोषमें सुख है। हमारे गाँवमें बोलते हैं—'सन्तोषी सदा सुखी' जिसके मनमें सन्तोष है वह सदा सुखी है। यदि आप बाहरकी वस्तुओंकी ओरसे अपने मनमें सन्तोष नहीं रखोगे तो आत्मा-परमात्मा क्या है ब्रह्म क्या है इसके विषयमें जिज्ञासा कैसे होगी ? और उस पर विचार कैसे कर सकोगे ?

अब दूसरी बात देखिये—संसारमें दूसरोंको दुःख पहुँचाकर सुखी होनेकी जो इच्छा है, वह तो सबसे बुरी है। हमारे योगाचार्य कहते हैं कि—

**नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवति**

(व्यासभाष्य २.१५)

'जब हम भोगी होते हैं तब दूसरोंको दुःख पहुँचाते हैं। दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना हम भोगी हो ही नहीं सकते।' यह हमारे योगाचार्यका वर्णन है।

संस्कृत भाषामें 'भोगी' माने साँप। सर्पके शरीरको भोग बोलते हैं। जो भोगी है वह साँपकी तरह दूसरोंको डँसता है, तकलीफ पहुँचाता है और भोगका पेट भी भरा नहीं जा सकता।

**भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्**

(व्यासभाष्य २.१५)

जितना-जितना भोग मिलेगा उतना-उतना राग बढ़ेगा कि और मिले। भोग करनेकी कुशलता भी और ज्यादा बढ़ेगी। तो सबसे बड़ा मनुष्यका कर्तव्य क्या है? बौद्ध-धर्मकी परिणति करुणामें; जैन-धर्मकी परिणति अहिंसामें है किसीको दुःख न पहुँचाना। परिणति माने उसकी निष्ठा, आखिरी रूप। कारुण्य-सागर। वह तो प्रमोद-सागर बोलते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर वह तत्त्वज्ञानीके जीवनमें लहराता रहता है। करुणाका समुद्र छलकता रहता है। सन्तोष लोभको शान्त करता है।

दया क्रूर हिंसावृत्तिको शान्त करती है, क्षमा प्रतिहिंसा वृत्तिको शान्त करती है। वैसे तो बड़े शान्त रहते हैं परन्तु किसीने छेड़ दिया तो भभक गये। असलमें जो क्षमा नहीं करता, जो स्त्री अपने सास-ससुर, देवर, जेठ मित्रादिको क्षमा नहीं करेगी वह तो हर समय दुःखी रहेगी। जो पुरुष अपनी पत्नीको माँ-बापको, भाईको, पुत्रको, सास-ससुरको क्षमा नहीं करेगा वह तो गलतियोंका बदला लेनेमें ही अपने जीवनको नष्ट कर देगा। यदि शान्त मनसे परमात्माका विचार करना है तो लोभका अभाव–सन्तोष, हिंसाका अभाव–दया, प्रतिहिंसाका अभाव–क्षमा चित्तमें चाहिए। कपट और कुटिलताका अभाव–सरलता चाहिए।

परिभाषा बनानेके भी कई नियम हैं। हमारे वेदान्तियोंने अज्ञानकी एक परिभाषा बनायी है 'ज्ञाननिवर्त्यत्व'। अज्ञान माने

जो ज्ञानसे मिट जाय। 'जो-जो ज्ञान-निवर्त्य होता है वह वह मिथ्या है'—यह नियम है।

एक आदमीको हम अपना दुश्मन मानते थे, परन्तु जब जानकारी हुई कि यह हमारा दुश्मन नहीं है, वहीं हमारी दुश्मनीका भाव मिट गया। तो हमारी दुश्मनी गलतफहमीपर आधारित थी। वह एक भ्रम था।

अब देखिये यदि आपको परमात्माके बारेमें सोच-विचार करना है, तो सीधे रास्तेसे चलना चाहिए। दाँवपेचमें चिन्ता करनी पड़ती है। बहुत माल लेकर आये, खुश-खुश आये? नहीं, यह चिन्ता लेकरके आये कि घरमें कहाँ रखें इस मालको। सरकारकी नज़रसे इसे कैसे बचावें? इसीका चिन्तन होगा, परमात्माका चिन्तन नहीं होगा।

चोरी करके आओ तो किसीको सुराग न मिल जाय, पुलिसको मालूम न हो जाय, इसका चिन्तन होगा कि परमात्माका होगा? इसलिए यदि आपको परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना है, चिन्तन करना है, तो सरलताको अपनाइये। मान और जिद्दका नाम परमात्मा नहीं होता। मान बैठनेका नाम भी परमात्मा नहीं होता। स्वच्छ समझदारी चाहिए, जो भावनासे नहीं, वस्तुकी समझदारीसे अनुप्राणित हो, कि यह चीज ऐसी है, उसका नाम ज्ञान होता है।

जिसमें वासनाका लेश भी न हो चीज जो जैसी हो वैसी निरावरण हो बेपरत, तब उसका नाम ज्ञान होता है। परमात्माको तो करना चाहते हैं बेपरत और खुद वासनाका लिहाफ ओढ़े हैं। तो पर्दा चाहे परमात्मापर रहे, कि आप पर, वह बीचमें बाधा तो डालेगा ही। ये वासनाएँ पर्देका काम करती हैं, इसलिए उन्हें हटाना पड़ता है।

**प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्**—आप देखिये, दुष्ट लोग तो गाली देकर शान्ति पा लेते हैं कि अच्छा हुआ, बच्चूसे अच्छा बदला लिया। अब शान्ति मिली। अपने दिलका गुब्बार निकाल-कर तब शान्ति पाते हैं। इसका नाम तो शान्ति नहीं है।

काशीमें विश्वनाथजीका दर्शन करने जाते हैं, वहाँ एक मुक्ति-मण्डप बना हुआ है। शास्त्रमें ऐसा वर्णन है कि विश्वनाथजीका दर्शन करके दो मिनट उस मुक्ति-मण्डपमें बैठना चाहिए। तब विश्वनाथजीके दर्शनका फल मिलता है। कई लोग जाते होंगे, दर्शन करते होंगे, परन्तु उनको मालूम ही न होगा। अच्छा बाबा, हमको तो मालूम था। लेकिन हम दर्शन करके जाकर बैठते थे मुक्ति-मण्डपमें, तो पूरा दो मिनट तो कभी होता ही नहीं था। कभी आधे मिनटमें लौट गये। जैसे शोक-सभामें लोग जाते हैं। सभामें दो मिनट शान्ति।

आप लोग कर लेते हैं शान्तिपाठ। अरे, दो मिनट तो क्या, पाँच सेकण्ड भी नहीं होता है। इसका नाम शान्ति नहीं है शान्ति एक स्थिति है, और वह तत्त्वके अनुरूप है। तो यह कैसे होती है? महात्माओंने जैसे बताया है—यह आसमान जिसको बोलते हैं आकाश। आ + समान हैं। आ माने पूर्ण रूपसे सब जगह जो समान है, उसका नाम है आसमान। इसको जबर्दस्ती उर्दू का शब्द बनानेकी कोशिश मत करना। यह शब्द संस्कृत भाषाका ही है। 'आ समन्तात् सर्वतः आसमानम्। आ + काशते-प्रकाशते। सब जगह समान है, प्रकाशमान है। इसमें कभी-कभी अन्धेरा आता है, कभी उजेला, कभी तेज आँधी-तूफान, कभी नहीं।

आकाशकी विशालतामें कभी प्रकाश आता है और चला जाता है। कभी अन्धेरा आता है और चला जाता है। कभी

आँधी आती है, चली जाती है और आकाश ज्यों-का-त्यों। यह आकाश हमेशा शान्त रहता है। इसलिए न आँधी है न आँधीकी शान्ति है। धूल कभी उड़ती ही नहीं। आकाशको तो धूल कभी छूती ही नहीं है तो आकाशमें न आँधी है, न शान्ति। न धूल, न स्वच्छता, न प्रकाश, न अन्धेरा। आकाश तो आकाश है। आप अपनी विशालताकी ओर ध्यान दीजिये।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज बोलते थे, 'महात्मा लोग कहाँ बैठते हैं, कैसे बैठते हैं?' झंडा गाड़ो जायके हद-बेहदके पार। हद बेहदके पार दूर जहाँ, अनहद बाजे। जिसमें मर्यादा नहीं है और अमर्यादा भी नहीं है, सीमा भी नहीं है और सीमाका छोर भी नहीं है, उसमें जाकर बैठो।

महात्मा लोग अपने चित्तको छोड़ देते हैं। लेशमात्र अपने चित्तको भी ग्रहण नहीं करते हैं। वे देखते हैं कि यह आकाश मेरा शरीर है और मैं? आकाशका अधिष्ठान-प्रकाशक जिसमें फुर रहा है, वह 'मैं' अद्वितीय ब्रह्म अपने आपको जानकर शान्तिसे बैठ जाते हैं। ईश्वर-कृपासे इस 'विवेक-चूड़ामणि'में भी ये शब्द हैं— 'मनुष्यका प्रयत्न कर्ता बना देता है, ईश्वरका संकल्प पराधीन बना देता है। अपना स्वरूप ऐसा है जिसमें न अपने कर्तृत्व का अभिमान है, न ईश्वरके संकल्पकी पराधीनता है। जबतक आप अपनेको तुच्छ और परिच्छिन्न मानते हैं, अपने-आपमें हीनताका भाव है, तबतक 'हमने यह किया, वह किया'—यह कर्तापन है। जबतक आपमें परिच्छन्नताका भाव है, नियोज्यका भाव है कि 'ईश्वरने हमसे यह कराया, वह कराया तबतक' पराधीनता है। अपना जो स्वरूप है; उसका जहाँ बोध हुआ, वह है प्रशान्ति।

संन्यासियोंमें महामण्डलेश्वर और महन्त हैं न, उनके प्रति

हमारे मनमें पहले बहुत अच्छी धारणा नहीं थी। बच्चा ही था! बल्कि कई बार उसके कारण अपराध हुआ, लाभसे वञ्चित भी हुआ। जैसे देखिये, अच्युतमुनिजी महाराज अपने समयके बहुत बड़े महात्मा थे। वे काशीमें नावपर रहते थे। रामेश्वरमें वरुणा नदीमें उनकी नाव खड़ी रहती। काशीमें भी थे। मैं उनका दर्शन करने नहीं गया। यह अपराध हुआ न! इतने बड़े विद्वान्! पहले आर्यसमाजी थे। बादमें वेदान्ती हो गये। वे त्यागी थे, विरक्त थे।

दोषदृष्टि हमारी यही थी कि—गौरीशंकरजी गोयनका उनके नावका, नाव चलानेवालेका, रसोई बनानेवाले पण्डितका, भोजनका, सब खर्च चुकाते थे। तो ये 'महात्मा होकर भी सेठाश्रयी क्यों हैं? बादमें हमने किसी पक्के महात्मासे पूछा तो उन्होंने बताया कि 'नहीं, तुम्हारा दृष्टिकोण गलत है। महात्मा दो कोटिके होते हैं—ब्रह्मकल्प और ईश्वरकल्प। ये, जो फकीर लोग फक्कड़-अवधूत होते हैं, वे ब्रह्मकल्प-कोटिके होते हैं। जो ब्रह्म-कोटिके होते हैं, उनके यहाँ अद्वैतका मजा रहता है। उनके लिए जैसा जूता सिलाना वैसा समाधि लगाना।'

मैंने यहाँ आपको दो विभाग क्यों बताये, यह आपके ध्यानमें आना चाहिए। दो साधन बताये—शान्ति और दान्ति शम और दम। महापुरुषके जीवनमें शमकी प्रधानता होगी तो वह ब्रह्म-कोटिका महात्मा हो जायगा और दम-दान्तिकी प्रधानता होगी तो ईश्वर-कोटिका होगा। ज्ञान होनेके पूर्व शान्ति-प्रधान तो महात्मा, अवधूत। दान्तिप्रधान ज्ञान होनेके पूर्व तो आचार्य। यह भी हम ईमानदारीकी बात कर रहे हैं, ढोंगियोंकी बात नहीं कर रहे हैं।

जो शम-दमका ढोंग करे, ब्रह्म-कोटिका या ईश्वर-कोटिका ढोंग करे—परमार्थकी साधनामें, बेईमानीके लिए कोई स्थान नहीं

है। हम स्वयं जो बेईमानीसे अवच्छिन्न हो जायें तो चैतन्य,ब्रह्मता जो है, वह ब्रह्मता कहाँ बनेगी ! चेतनमें अवच्छिन्न-अनवच्छिन्न-का भेद नहीं है। जब हमने अपने आपको बेईमानीसे अवच्छिन्न किया तब भी ब्रह्मतामें बाधा पड़ी और ईमानदारीसे अवच्छिन्न किया तब भी ब्रह्मतामें बाधा पड़ी। दोनों मिथ्याकोटिमें हैं। 'अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी' नहीं हो जायगी जबतक, तबतक अवच्छिन्नता ही नहीं कटेगी। मैंने जान-बूझकर वेदान्त-के पण्डित लोग जैसे बोलते हैं, वैसे बोल दिया। वैसे तो मैं इसना प्रयास नहीं करता कि पारिभाषिक शब्द बोलूँ। वे सबकी समझमें नहीं आते हैं।

शान्ति-दान्तीका अर्थ—जिसके जीवनमें दम-दान्ति माने इन्द्रिय-निग्रह नहीं है, वह पराधीन जीवन व्यतीत करता है। विषय पराधीन होगा, व्यक्ति पराधीन होगा। व्यक्ति विषयके अधीन होगा। जिसके जीवनमें दम नहीं है, वह तो बेदम है। दम ही नहीं है। यह मनुष्य क्यों हुआ ? श्रीउड़ियाबाबा जी महाराज एक श्लोक बोला करते थे—

**'वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगम्'** : जब बोलनेका वेग आता है—( हमारे गाँवकी ओर 'बोलवाँस' शब्द है ) जब जीभ बक-बक करने लगती है तो रुकती नहीं है। मनमें क्रोध आया, तो बिल-कुल पराधीन हो गये। नहीं बोलना चाहिए वह बोलते हैं, नहीं करना चाहिए, वह करते हैं।

**उदरोपस्थ-वेगः**—खानेका, मूत्रेन्द्रियका वेग आया। जो इन वेगोंको सह लेता है, चट्टानकी तरह बैठा है, वेग माने पूर आया और मिट गया, स्वयं पर्वतकी तरह अकम्प निश्चल बैठे हुए हैं। इसके लिए श्रुतिमें श्लोक है—

**वृक्षइव तिष्ठासेत् छिद्यमानो न कुप्येत् न कम्पेत्।**

पेड़की तरह रहे। काट डाले, परन्तु क्रोध न आवे, कँपकँपी न आवे शरीरमें, हाथ काँपने न लगे।'

**उपलमिव तिष्ठासेत् छिद्यमानो न कुप्येत् न कम्पेत्।**

हमारी उँगलीमें एक बार चोट लगी थी, तो मैंने डॉक्टरसे कहा, 'लोग बड़े-बड़े ऑपरेशन करवा लेते हैं, होशहवासमें बैठकर; हमारे तो जरा-सा है। तुम काट लो।' मैंने दे तो दी उँगली उनके हाथमें परन्तु जब वे काटने लगे तो पसीना हो गया शरीरमें और उँगली काँपने लगी! पकड़कर उसने कर दिया और मैं भी बैठा रहा। परन्तु यह जो है कि पत्थर और पेड़की तरह हो, काँपे नहीं उँगली! पसीना आगया, उँगली काँपे! हमारे वशमें नहीं रहा कि हम उसे रोक दें!

पहले मरीन-लाइन्स स्टेशनके सामने मोदी नामक डॉक्टर था। जो आजकल है वही कि दूसरा, वह मैं नहीं जानता, परन्तु वह शायद दूसरा था, वह ऑपरेशनका डॉक्टर था। मेरे एक मित्रकी आँत फूल गयी थी तो डॉक्टरको मैंने कहा—'इसके ऑपरेशनके समय मुझे इनके साथ रहने दीजिये।' यह बात संन्यासी होनेके बादकी है। हम दोनों एक ही साथ संन्यासी हुए थे। अभी भी वे हैं। जब उन्होंने पेट काटकर भीतरसे रबरकी नलीकी तरह आँत निकालकर काटना शुरू किया कि हमको पसीना आगया और पहले मैं खड़ा था, तब बैठ गया। पाँव काँपते थे। सोचा कि डॉक्टर मेरी स्थितिको देखेगा तो यहाँसे बाहर निकालेगा। उनका नाम स्वामी प्रबोधानन्दजी है। गंगा-किनारे शान्तिसे रहते हैं। वे विद्वान् पढ़े-लिखे हैं। शरीरमें कँपकँपी आती है तो हम पराधीन होते हैं कि नहीं? अपनेको रोकना चाहे, तब भी नहीं रोक सकते।

**निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्**—निन्दाकी जो चोट होती है

यह किसीके हृदयको न लगे। निन्दा तो उसके मुँहमें और हृदयमें रहती है और चोट पहुँचाती है हमको। निन्दामें कौन-सा तीर और कौन-सी वरछी है कि हमें चोट पहुँचाती है। वह तो हमारी कमजोरीके सिवा और कुछ है ही नहीं। आप बताइये, निन्दामें कोई वजन होता है—एक छटाँक, दो छटाँक? एक मासा, एक तोला? लम्बाई, चौड़ाई है? कितने फीटकी? उमर क्या? शक्ल-सूरत क्या? टेढ़ी-मेढ़ी? आकृति क्या? लेकिन यह एक शून्य-सी वस्तु कानके रास्ते कलेजेमें घुसती है तो जैसे किसीने कलेजेको छेद दिया। यह क्या होता है?

वाणकी पत्नीका नाम आप जानते हैं? 'वाणी' है। वाणी वाण होकर लगती है। वाणका घाव तो डाक्टर लोग दवा करके अच्छा कर देते हैं। कहते हैं, 'साँपके काटनेपर आदमी अच्छा हो जाता है, पर साँपिनके काटनेपर बचना मुश्किल होता है। वाण-का मारा हुआ बच जायगा, पर वाणीका मारा हुआ तो भारी चोट खाता है।

शान्तिका अर्थ क्या होता है? प्रकृष्ट शान्ति। 'शान्ति' के आगे 'प्र' जोड़नेका अर्थ है 'प्रकृष्ट शान्ति,' निर्निमेष शान्ति।' एक सज्जन कहते थे—'महाराज! हम जब भाँग लेते हैं तो अच्छा ध्यान लगता है।' तो ध्यानका फल भाँगको ही मिलेगा, तुम्हें नहीं मिलेगा। फल उत्पन्न करनेवाली जो भी वस्तुएँ होती हैं, साधना जो होती है, वह फल उत्पन्न करती है।

हमारे जैसे नौसिखिये लोग जो होंगे, वे कहेंगे—'हम सकाम साधना नहीं करते। हम फल उत्पन्न करनेके लिए नहीं करेंगे।' अरे, तुम्हारे सकाम-निष्काम होनेसे कोई मतलब नहीं है। जो तुम करोगे, उसका एक नतीजा पैदा होगा। तुम हाथ हिलाओ। हिलाते रहो तो थकोगे कि नहीं? उसका नतीजा निकला कि

नहीं ? निष्कामभावसे हाथ हिलाओ तो उसका नतीजा यह निकलेगा कि हाथ थक जायगा—हाथ हिलाना बन्द हो जायगा। अनजानमें ही बन्द हो जायगा हाथ हिलाना। निष्काम भावसे हाथ हिलानेका फल होगा, हाथका हिलना बन्द हो जाना।

ऐसे ही, संसारमें जो साधन किये जाते हैं, उन्हें तुम अपनी नासमझीके कारण भले निष्काम कहो, वह अपना फल उत्पन्न किये बिना नहीं मानेगा। फल दो तरहके हैं—बाहर जो फल उत्पन्न होता है उसके लिए तुम 'सकाम कर्म' शब्दका प्रयोग करते हो और भीतर जो फल उत्पन्न होता है, उसे तुम पहचानते नहीं हो।

कोई भी कर्म तुम करते हो, उससे एक फल उत्पन्न होता है, एक अवस्था बनती है, एक साध्य स्थिति उत्पन्न होती है। सच-मुच, संस्कृतमें जो 'फल' है वह—साधन होता है बाहरी, और फल होता है भीतरी। जप करेंगे तो मनमें निष्कामता और प्रसन्नता आवेगी, स्वच्छता आवेगी। आपने कभी कुछ दिनोंतक किसी नियमका पालन किया है कि नहीं ? 'सीताराम' बोलो ! यदि आप आपने जीवनमें कोई नियम ले लो और पाँच-छह महीनेतक लगातार, तकलीफ उठाकर भी उसे पूरा करो, तो जब आप पूरा कर सकोगे तो ऐसा सन्तोष होगा आपको कि 'आज ही हमारा नियम पूरा हो गया।' हर्रे लगे न फिटकिरी ! अतः शान्ति ग्रहण-के द्वारा न हो, त्यागके द्वारा हो।

त्यागसे जो शान्ति होती है वह स्वाधीन होती है ग्रहणसे जो शान्ति होती है, वह पराधीन होती है। कोई चीज लेकर, खा-पीकर यदि शान्त रहोगे भाँग पीकर शान्ति, नस दबाकर शान्ति ! एक इंजेक्शन लगा दिया। कहते हैं कि 'अन्तःकरण-शुद्धिके लिए साधनकी जरूरत नहीं है।' स्वामीजी ! ऐसे-ऐसे इन्जेक्शन बने

हैं, लगा देनेपर क्रोध नहीं आयेगा। डंडा मारेंगे तब भी जम्हाई लेते हुए, खाटमें लेटे-लेटे—जैसे सुरती मलते हैं वैसे मलते रहेंगे। ऐसी इंजेक्शनवाली शान्ति जिज्ञासावाली शान्ति नहीं होगी, उससे विचारका उदय नहीं होगा, क्योंकि अपने प्रयत्नसे जो स्थिति उत्पन्न होती है, विचारमें लगाती है। नशोसे या इंजेक्शनसे उत्पन्न शान्ति विचारशक्ति नहीं देती।

एक सज्जन हैं। वे कहते हैं—'बिना कुछ खाये-पीये ध्यानमें बैठते हैं तो ध्यान लगता नहीं है। थोड़ी-सी 'कोकी' सिन्धी लोग जानते हैं, रोज उनके घरमें बनती है। उसमें बहुत ज्यादा घी लगता है। बहुतोंके घरमें हमने खाया है।' तो थोड़ी-सी 'कोकी' पहले खाकर फिर ध्यानमें बैठते हैं।' मानो, कभी यात्रामें हों, वनमें हों, जिस दिन कोकी खानेको नहीं मिलेगी, उस दिन वे बेचारे कैसे ध्यान करने बैठेंगे? पराधीन हो गये न?'

आपसे क्या छिपावें? हम कई ऐसे लोगोंको जानते हैं जो स्त्री-पुरुष सहवास करनेके बाद ध्यानमें बैठते हैं। शर्माजी कहेंगे—'कथामें आप यह क्या बोलते हैं?' हम जानते हैं, नहीं बोलना चाहिए। लेकिन उनका ध्यान पराधीन हो गया कि नहीं? बिलकुल पराधीन हो गया। ये पराधीन ध्यानवाले जिज्ञासु; विचारक या चिन्तक नहीं हो सकते। उनको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानके मार्गपर वे नहीं चल सकते। माने नशा पी करके, विषय भोग करके फिर शान्ति लेना, यह शान्तिका तरीका नहीं है।

असलमें स्वाधीनता नहीं होगी तो फिर शान्ति कैसी? यदि कर्तृत्व चमकता रहेगा तो फिर शान्ति कैसी? इसलिए, जीवका तो कर्तापन न हो, ईश्वरकी भी पराधीनता न हो। प्रकृतिकी तो छोड़ दो बात! और? कर्तृत्वभोक्तृत्वलेशशून्य।

कर्तापन-भोक्तापन तो जागने न पावे, वर्तमानमें या आगेके लिए कोई वासना शेष न हो ! और शुद्ध, प्रतीतिमात्र, अपने सात्त्विक अन्तःकरणमें झिलमिल अपने स्वरूपकी जो झिलमिलाहट है, अपने स्वरूपके आभासका नाम शान्ति है। शान्ति बाहरसे उधार ली हुई चीज नहीं है। बड़े-बड़े विद्वानोंको हमने रोते-चिल्लाते देखा है। उपनिषदोंमें तो वर्णन ही है।

नारदजी महाराज कहते हैं—'**ऋग्वेदं भगवोध्येमि। यजुर्वेदं, सामवेदम्, आथर्वणम्**' ( छान्दोग्य ७.१.२ ) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदका अध्ययन किया। क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सारी-सृष्टिकी विद्याओंका मैंने अध्ययन किया। **सोऽहम् भगवः शोचामि** ( ७.१.३ ) ऐसा मैं शोकसे ग्रस्त हो रहा हूँ। मैं मन्त्रविद् हूँ, ब्रह्मविद् नहीं हूँ। 'ऐसे कहा उन्होंने'—**मन्त्रविद् एवाहमस्मि तं माँ शोकस्य पारं तारयतु** ( ७.१.३ )। आप मुझे शोकसे परले—पार पहुँचा दीजिये।' देखिये न, नारदजी कहते हैं—'सारे शास्त्रोंका अध्ययन करके भी मुझे शान्ति नहीं मिली।'

श्वेतकेतु क्या बोलते हैं आप लोग जानते होंगे—'स्तब्ध' ( छान्दोग्य ६.१.२ ) श्वेतकेतु सब विद्याओंका अध्ययन करके आये। खम्भेकी तरह खड़े हो गये, बापको प्रणाम भी नहीं किया। बापने कहा—'अरे! विद्याका फल तो है विनय! और हमारा बेटा! 'विद्या ददाति विनयम्'—विद्वान्‌की पहचान होती है कि वह विनयी होता है। हमारा बेटा सब कुछ पढ़कर आया और खम्भा बन गया! पत्थर हो गया !!'

हमें याद है, श्री उड़िया बाबाजी महाराज बैठे थे, हरिबाबा-जी थे। अबसे तीस-चालीस वर्ष पहले एक करोड़पति सेठ बाबाका दर्शन करने आये। उस बड़े भारी धनी सेठकी माताने उसे वहाँ लाकर जब जबरदस्ती खड़ा किया और बोलीं, 'महाराजको प्रणाम

करो।' परन्तु वे ऐसे कपड़े पहने हुए थे और बिलकुल खुत्थकी तरह—ठूँठकी तरह भरी सभामें खड़े हो गये कि बस ! न उनको हाथ जोड़ना आवे, न सिर झुकाना आवे ! अब क्या करेंगे ? विनयके विना तो कोई अपनी विद्या देनेवाला है नहीं।

अपना ज्ञान-विद्या चाहे कितना पैसा दिखाओ, डंडा मारो, विनयके बिना तो कोई अपनी विद्या बतानेवाला नहीं है। श्वेतकेतुके पिता बोले—'श्वेतकेतु ! तुम वह विद्या जानते हो, जिससे एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है ?'

श्वतकेतु बोला—'एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान कैसे होगा ?'

पिताने दृष्टान्त दिया—'जैसे मूलके धातु-ज्ञानसे उससे बने हुए सब बर्तनोंका ज्ञान हो जाता है, वैसे यदि जगत्के मूल तत्त्व-पदार्थका ज्ञान हो गया तो सबका ज्ञान हो जायेगा।'

श्वेतकेतु—'युक्तिसे तो सम्भव है।'

पिता—'तब ?'

श्वेतकेतु—'तब, हमारे गुरुजीको मालूम नहीं होगा। पोथियाँ पढ़ी होंगी, उनमें लिखा नहीं होगा, तो आप समझाइये।'

ऐसे प्रसंगपर यदि कोई कहे कि 'बुला लाओ मास्टर साहबको, सौ-पाँच सौ रुपया महीना लो और बताओ हमको ब्रह्मज्ञान !' हे भगवान् ! ऐसे नहीं होता है। स्वाधीन होनेके लिए तो अपने हाथ-पाँव भी स्वाधीन होने चाहिए। आपके हाथ आपके अधीन नहीं, जो चाहे कर बैठते हैं। पाँव आपके अधीन नहीं, चाहे जहाँ चले जाते हैं। जीभ आपके अधीन नहीं, चाहे जो बोल देती है। अविश्वासी, अश्रद्धापूर्ण, पराधीन जीवन लेकर चाहते हैं कि हमें तत्त्वज्ञान हो जाय, तो जैसे घोड़ेको सघाते हैं—यह घोड़ा ही है।

हमारे एक मारवाड़ी मित्र थे। वे शरीरके लिए दो शब्द

बोलते थे। उनका नाम था जयदयाल कचेरिया। वे कलकत्तेमें रहते थे। वे बोलते थे 'घोड़ियो' और 'खोलियो' माने लिहाफ। तो बाबा! इसको तुम काबूमें नहीं कर सकोगे। खोल ओढ़ लिया। उसके नीचे दब गये। उठ ही नहीं सकते। घोड़ा है, पर उसका मन है वहाँ वह तुम्हें ले जाता है। तुम्हारे चलाये वह नहीं चलता है। ज्ञान होनेमें वह उपयोगी नहीं है। ज्ञान होनेके बाद वह क्या करेगा? ज्ञानको बदनाम करेगा।

जो लोग ज्ञानी होकर शुद्ध जीवन व्यतीत नहीं करते, उसमें उनका दोष नहीं है। उन्होंने ज्ञान होनेके पहले जो साधन-सामग्री चाहिए थी, उसको प्राप्त नहीं किया था और उनकी अपात्रता चालू रहती है। इसलिए, भाई मेरे! जयदयाल कसेराने सुनाया था—'उनके घर कलकत्तेमें एकबार एक साधु आये थे।' बड़े उदार और बड़े सज्जन थे वे सेठ! उनकी उदारताकी तो आपसे क्या चर्चा करें? कर्ज ले-लेकर लोगोंको खिलाते थे। उनका ख्याल था कि करोड़ इकट्ठा हो जायगा तो हम सब धर्ममें लगा देंगे। करोड़ इकट्ठा करनेमें पचपन लाख हो गया था। सट्टेमें सब स्वाहा! मकान गिरवी रख दिया, परन्तु मोदीके घरसे उधार ले-लेकर भी खिलाते थे। हमने भी खाया।

उनके घर एक दिन दो साधु आये। उन्होंने भोजन कराया। जब वे साधु जाने लगे तो बोले—'देखो, ज्ञान क्या है? अज्ञान क्या है! समझ लो इसे, चुटकी बजाते। शरीरसहित दुनियाकी किसी चीजको मैं और मेरा समझना अज्ञान है, और शरीरसहित किसी चीजको मैं और मेरा न समझना, ज्ञान है।

■

: ३८ :

११-७-७५

शंकराचार्यने भजनकी विधि बतायी। देखिये, प्रसंग वेदान्तका; कहते हैं 'भजन करो'। भजन किसका करें ? सन्तोष, दया, क्षमा, समता, प्रशान्ति, दान्ति—इन सद्‌गुणोंका। जैसे कोई भगवान्‌का भजन करता है, वैसे। भजन करना माने ? सेवन करना। कैसे ? पीयूषवत्। जैसे कोई अमृत पी रहा हो ! गोपालतापनी उपनिषद्‌में भजनको ही रसन कहा है (पूर्वतापनी)। भजन माने रस लेना। स्वाद लेना। आप सन्तोषका स्वाद लीजिये। बड़ा मजा है सन्तोषमें। आप दयाका और क्षमाका स्वाद लीजिये। आपको स्वाद कहाँ आता है ?

आपको क्षमा, समता, शान्ति, दान्तीका स्वाद आता है ? गीताप्रेसमें एक सज्जन थे। वे कैशियरका काम सँभालते थे। भगवान्‌की चर्चा जब पाँच-सात लोग मिलकर करते थे तो उनकी आँखसे झर-झर आँसू बहता और कभी आनन्दमें मग्न होकर सी-सी करने लग जाते ! हाथ उठा लेते। जैसे संसारी लोगोंको किसी भोग करनेमें आनन्द आता हो उन्हें भगवान्‌की चर्चा सुनकर आता। एक दिन मैंने उनसे पूछा—'शुकदेव बाबू ! मिठाई खाते समय जैसा तुम्हें जीभपर स्वाद आता है, वैसा तुम्हें भगवान्‌का भजन करते समय आता है क्या ?'

वे बोले—'ना, उतना स्वाद भजन करनेमें नहीं आता।' फिर वे रोने लगे। यह भगवान्का नाम, कथा, संकीर्तन, भजन कोई साधारण वस्तु नहीं है, अमृत हैं। पीयूषवत्—इसका स्वाद अमृतके समान है। वे सद्गुण ! एक-एक गुण अपने जीवनमें धारण करना—बस अमृत ही अमृत।

वर्षमें एक-दो सज्जन हमारे पास ऐसे आते हैं, वे कहते हैं—'हमको ज्ञान हो जाय !' दस-बीस ऐसे आते हैं जो कहते हैं—भगवान्के दर्शन हो जायँ। लेकिन हमारे दोष-दुर्गुण मिट जायँ और हमारे जीवनमें पवित्रता, सद्गुणोंका सँचार हो जाय—इस इच्छासे दो-चार भी नहीं वर्षमें एकाध आते हैं।

जो दोष-दुर्गुणसे मुक्त होना नहीं चाहते हैं, जो दुराचार और दुर्भावसे मुक्त होना नहीं चाहते, वे संसारके किस बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं। वह मोक्ष चाहता होगा तो क्या चाहता होगा ? सदाचार सद्गुणसे मुक्त होना चाहता है ? उसका तो जीवन व्यर्थं गया। वस्तुतः सबसे पहले मुक्ति चाहिए—दुराचारसे। जीवनमें सदाचार आना चाहिए। फिर मुक्ति हो दुर्भावसे, तीसरी मुक्ति दुर्गुणसे, चौथी मुक्ति चञ्चलतासे फिर पाँचवीं मुक्ति सदाचार सद्गुण और सद्भावसे छठी मुक्ति अपने अन्तःकरणसे।

अपने स्वरूपका ज्ञान हुए बिना अन्तःकरणसे 'मैं' और 'मेरा' यह भ्रम दूर नहीं हो सकता। सबसे बड़ा दोष यही है—'मैं' और 'मेरा' किसी दृश्यमें, अन्य पैदा होनेवाली और मरनेवाली वस्तुमें, आनेजानेवाली वस्तुमें, पापी-पुण्यात्मामें, परिच्छिन्न वस्तुमें 'मैं' हो जाना और उसमें 'मेरा' हो जाना, यही तो सबसे बड़ा बन्धन है। यह है बौद्धिक अध्यास। यह बुद्धिसे ही छुड़ानेका है। दुर्गुणसे छुड़ाना बुद्धिसे छुड़ाना है। दुनियामें पापसे छूटनेकी, बुराईसे छूटनेकी भी इच्छा है कि नहीं ? आप चाहें कि आप

संसारसे छूट जायँ और पाप तथा दुर्गुण बने रहे तो क्या एक ओर पकड़े रहेंगे और दूसरी ओरसे मुक्त हो जायेंगे ? नहीं। अपने जीवनमें सदाचार, सद्गुण, सद्भावको पकड़कर दुराचार, दुर्गुण, दुर्भावका परित्याग करना मुक्तिकी साधना है।

इसमें एक बात तो यह बतायी कि स्वाद आये पीयूषवत्। दुनियाँको एक ओर तो छोड़ें और दूसरी ओर पकड़े रहें यह जो संसारी लोगोंका तत्त्वज्ञान है, वह बिलकुल सत्शास्त्रसे, सत्पुरुषसे और सत्संगसे विमुख करनेके लिए राजा कलियुगका प्रचार है। दुराचारको पकड़कर रखोगे, तो उसका सीधा अर्थ है कि मुक्ति नहीं चाहिए—दुर्गुण-दुर्भावसे मुक्ति नहीं चाहिए। तो संसारसे कौन-सी मुक्ति चाहिए आपको ? संसारके बुरे अंशको आप अपने साथ रखना चाहते हैं तो अच्छे अंशसे मुक्ति चाहते होंगे, जिससे सदाचार, सद्गुण, सद्भावका झगड़ा छूटे ?

लोग संसारी सौदा करना चाहते हैं। यह दुनिआदारीका व्यापार नहीं है। आपको सदाचार, सद्गुण, सद्भाव शान्तिमें स्वाद आता है या नहीं ? पीयूषवत् स्वाद आना चाहिए। दूसरी बात है—भक्त जैसे परमेश्वरका भजन करते हैं, वैसे आप सद्गुणोंका भजन कीजिए। 'भज' कहा, 'पीयूषवत् भज'। तीसरी बात कहो, 'नित्यम्' और चौथी बात कही, 'आदरात्।'

ये लोग कहते हैं कि 'जब विलायत जायेंगे तब वहाँ शराब पी लेंगे, वहाँ कोई बन्धन नहीं है। वहाँ नाच लेंगे, बुराई कर लेंगे और यहाँ आयेंगे तो ठीक हो जायेंगे। अरे भाई ! हप्तेमें एक दिन बुराई स्वीकार कर लेनेमें क्या दोष है ?' ऐसा बोलते हैं।

'नित्यम्' माने हमेशा। हमेशाके लिए—नित्य-निरन्तर एक क्षणका भी व्यवधान न पड़े। एक मिनटका भी फोंफर बीचमें दरार न पड़े। बिना छुट्टीका—'नित्यम्'। सद्गुण धारण करनेमें

एक मिनटकी भी छुट्टी न लें। यह तो अपने वशमें नहीं है। कभी-कभी बुराई आती है। अच्छा यह भी मान लेते हैं। अपने आप घरमें गुंडा घुस आवे और हम उसे निकाल न सकते हों, ऐसा कभी-कभी होता है। ऐसा मेहमान कभी आ जाता है, जिसे हम अपने घरमें नहीं चाहते। तब यह तो मत चाहो कि यह अपने घरमें हमेशा रहे।

'नित्यम्' माने अपने मनमें तो लालसा बनी रहे कि दुराचार दुर्गुण, दुर्भाव मजबूरीके कारण अपने अन्दर आ भी गये, तो पहले तो न आवें और आवें तो चले जायँ—उनसे छुट्टी पानेकी इच्छा तो बनी रहनी चाहिए।

'नित्यम्' माने रोम-रोमसे यह चाहें कि हमारे दोष, दुर्गुण निवृत्त हो जायँ। और एक बात—जो लोग अपने समयको सदाचार, सद्गुणसे नहीं भरते और चाहते हैं कि हमारे दुराचार-दुर्गुण चले जायँ, तो निकम्मे रहोगे 'खाली दिमाग शैतानका घर' होता ही है। अपने क्षण-क्षणको सदाचार और सद्गुणसे भर लेना चाहिए। सबके प्रति सद्भाव और सदा सदाचार।

कई लोग हिसाब लगाना चाहते हैं—गणित, कि हमेशा रह सकता है या नहीं ? असलमें इन दुर्गुणोंको अपने अन्दर रखनेका एक फँसाव, जाल है। वे अपने साथ खुद ही 'तिकड़म' करते हैं कि ये रह जायँ घरमें। जब ये अपने मनको छोड़ ही नहीं सकते तो रखलो इन बुराइयोंको। इससे क्या मतलब है ? जब तुम सम्पूर्ण प्रपञ्चको छोड़नेकी इच्छा रखते हो, मायिक प्रपञ्चसे मुक्त होनेकी इच्छा रखते हो और गणित यह लगाते हो कि हम दुर्गुणोंसे छूट नहीं सकते ! यह गणित तुम्हारे ही पाँवपर कुल्हाड़ीका काम करता है।

कम-से-कम यह आशा, यह मनोरथ बना रहे—एक दिन ऐसा

होगा हमारे जीवनमें कि वासनाएँ शान्त हो जायेंगी, ममता नहीं रहेगी, किसीके साथ लगाव नहीं रहेगा, अज्ञानके सब पर्दे फट जायेंगे। आशान्वित तो रहना चाहिए। जो यह मानेगा कि हमारे दोष छूट सकते हैं, उसके जीवनमें दोष छूटनेकी सम्भावना तो है न?

कुमारिल भट्टने कहा—'ईश्वर है कि नहीं, इस प्रश्नको जरा एक ओर रख दो।' ईश्वरको माननेसे क्या लाभ और न माननेसे क्या हानि? इस पर विचार तो करो।'

आओ, जरा प्रयोजन माने हानि-लाभकी दृष्टिसे विचार करें। क्योंकि है कि नहीं, यह तो शुद्ध, निर्वासन अन्तःकरण ही विचार कर सकता है। नहीं तो अपनी वासना दिखाई पड़ेगी। व्यापारी मनके लोगोंका काम न करो तो वे चार गलती बता दें। ऐसी बात तो न हों।

एक 'दे' साहब थे प्रोफेसर, हिन्दू विश्वबिद्यालयमें। वे प्रतिदिन प्रातः उठकर सन्ध्यावन्दन करते थे, सायं भी करते थे। जब उनके मित्र विद्यार्थी, घरमें आते, तो वे कहते—'भाई, दस मिनट ठहरो! मैं आता हूँ।' तब लोग हँसते। वे उनकी बहुत हँसी उड़ाते, वे कहते थे—'देखो जी, यदि ईश्वर न हुआ और दस-दस मिनट प्रतिदिन इस काममें देते हैं, तो रोज तुम्हारे साथ जैसे हँसने-खेलनेमें गप हाँकनेमें समय जाता है, वैसे ही यह भी व्यर्थ गया। परन्तु यदि ईश्वर कहीं निकल आया तो? तुम लोग क्या मुँह दिखाओगे।'

ईश्वरको न माननेवालोंका तो नुकसान ही नुकसान है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि जीवनमें दुराचार और दुर्गुण बना ही रहता है, नहीं छूटता उनकी बड़ी हानि है।

एक धर्म ऐसा है, जिसमें शाश्वत मुक्ति नहीं मानी गयी है

'इतने समयतक मुक्ति होती है'—ऐसा कहा जाता है। इतने समयसे इतने समयतक इस जातिको मुक्ति नहीं होती है—ऐसा मानते हैं। यदि उस समय और उस जातिमें भी मुक्ति मानी जाय तो साधना तो होती रहेगी न? और साधना होती रहेगी तो अन्तःकरण शुद्ध होगा। मुक्ति उतने समयमें नहीं तो अगले समयमें हो जायगी। न उस जातिमें, दूसरी जातिमें हो जायगी। लेकिन, साधनाको तो मानते हैं न? यह तो होती रहेगी? जो नहीं मानते हैं, उनकी तो साधना छूट जायगी। वे संसारके और-और बन्धनमें फँसेंगे। इसलिए 'नित्यं पीयूषवत् भज।' मनमें यही इच्छा, यही लालसा रखो कि हमारे जीवनमें भगवान्‌का भजन हो, सदाचार, सद्‌गुण और सद्‌भाव रहे। 'नित्यम्' और 'पीयूषवत् भज' अर्थात् स्वाद हो।

एक बात और कही—'भागवत'में है कि आप रसिक बनिये **मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः** रसिक किसके?

**वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः।**

क्या शब्द हैं; आप देखिये। 'वैराग्यरसिक' बनिये। आप वैराग्यमें राग करके उसका रस लीजिये। जहाँ आपका राग होता है, वहीं रस आता है। जिसका वैराग्यमें राग हो जाता है, उसको वही रस आवे।

एक हमारे दण्डी स्वामी बड़े मान्य थे। मैंने उनसे पूछा कि 'महाराज यह ब्रह्मचारी रखना और उससे रोटी बनवाना, यह सब तो संन्यासधर्मके विरुद्ध मालूम पड़ता है?'

वे बोले—'देखो भाई! पहले गृहस्थ लोग बच्चोंको भोजन करानेसे भी पहले 'बलिवैश्वदेव' करते समय अतिथिके लिए भिक्षा अलग रख देते थे। 'बलिवैश्वदेव' में अतिथिका भाग भी है। वह हमारे हकका था। हम आगे-पीछे जाते, उस निकले हुए

बलिवैश्वदेवमें-से भोजन ले लेते थे। अब ये जूठा कर देते हैं। इनके घरमें पवित्रता नहीं होती है। जो पाँचवाँ हिस्सा धर्मके लिए निकालना चाहिए, नहीं निकालते हैं। बेईमान हो गये। न धर्मका हिस्सा निकालते हैं न बलिवैश्व; अतिथिके लिए न भोजन निकालते हैं न ईमानदारीकी कमाई रखते हैं। तो पवित्रता-की रक्षाके लिए यही ठीक है कि इनके घरमें भिक्षा न की जाय। ब्रह्मचारी जाकर भिक्षा—कच्चा सामान ले आवे, और उससे भोजन बनाया जाय। इससे सदाचारकी तो रक्षा होती है न? कैसे भी पवित्रताकी रक्षा हो।

एक सज्जनको वैराग्य था। वे संन्यासी हो रहे थे। लोगोंने कहा—'भाई! अपनी वसियत तो करके जाओ।

वे बोले—'नहीं बाबा! हमने तो हाथ उठा दिये। जिसको जो लेना हो सो ले लो। हमारा बेटा ही ले, यह संकल्प क्यों? जब वह हमारा नहीं, तो उसका हो जाय, यह क्यों सोचें?' ईश्वरकी वस्तु ईश्वरकी रहे। ये संसारी लोग वैराग्यके शुद्ध भावको समझ भी नहीं सकते। जैसे बैठे हैं वैसे बेख्वाहिश बेपरवाह!

**नित्यम्**—हमेशा मनमें यह आशंका बनी रहे कि हमारा सदाचार, सद्‌गुण, सद्‌भाव न छूटे। सबमें सत् ही है न? हमारा स्वरूप सत् है तो इस सत् आचारमें प्रेम, सत्‌में स्थिर कर देता है। सत्-भावसे प्रेम सत्‌का चिन्तन देता है। और यही सद्‌गुण सत्‌का ज्ञान देता है।

जब पहले व्यवहारमें 'सत्' ही को पकड़ोगे तब सत्‌का प्रकाश होगा। सत्‌का आनन्द होगा। असत्‌का आवरण हटेगा और सत्‌का नाम—उस सत्‌को असत्‌से ढँक कर रखते हैं। करते हैं बुरे काम और बाहर अखबारोंमें नाम छपता है—'बहुत बड़े'।

अपनी बुराइयोंको छिपानेके लिए बड़प्पनका—सत्पनेका जामा पहनते हैं।

नित्यम्, फिर आदरात्—सेवा तो अनादरसे भी होती है। खूब बढ़िया-बढ़िया माल लाकर सामने रख देते हैं। हम गृहस्थोंकी बात नहीं करते। साधुओंको बात करते हैं। वे जब किसीके घर जाते हैं तब अनेक प्रकारका सामान लाकर सामने रख देते हैं, फिर चर्चा करते हैं—'अमुक साधु हमारे घर आये थे। वे दो-तीन तरहकी चीज ही खाते थे'। अर्थात् आप उनसे बहुत खराब, निचली कक्षाके साधु हैं। वे अपमान करनेके लिए ही ऐसा बोलते हैं। कोई-कोई अनजानमें भी ऐसा बोल देते होंगे, सब नहीं। जो घरमें ताना मारकर बोलते हैं, वे जब साधुको खिलाते हैं तो उसे भी ताना मारते हैं। 'आप इतना बढ़िया कपड़ा पहनते हैं? लाकर वे ही देते हैं।

सेवा करते हुए भी थोड़ा अनादरका भाव रहता है। 'आदर'-में 'दर' शब्द है। संस्कृत भाषामें 'दर' है वही हिन्दीमें 'डर' हो गया। आ+दर माने थोड़ा-थोड़ा डरते रहिये। क्या डरें? एक कथा है—एक सज्जन मुहम्मद साहबके कोई खास सम्बन्धी थे। उनके एक शत्रुसे लड़ाई हो गयी। वे बड़े वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने दुश्मनको पटक दिया धरतीपर और खञ्जर उठाया उसे मारनेके लिए। उतनेमें उस दुश्मनने धरतीपर पड़े-पड़े उनपर थूँक दिया, तो उन्होंने खञ्जरको फेंक दिया। उसे वहीं पड़ा छोड़कर उठ गये। उनके दोस्त साथी थे वहाँपर। उन्होंने कहा—'आपने दुश्मनको पटक दिया था, खञ्जर आपके हाथमें था। वह इतना दुष्ट है कि आपपर थूँक रहा है और आप उसे छोड़ रहे हैं? क्या बात है!'

साहबने कहा—'पहले यह धर्मयुद्ध था। धर्मयुद्धमें मैंने उसे

पटक दिया था और धर्मकी रक्षाके लिए मैं इसे मारनेको भी तैयार था। परन्तु उसने थूँक दिया मेरे ऊपर! तब उसपर मुझे घृणा आगयी। गुस्सा आगया। क्रोध आजानेसे धर्मका भाव नहीं रहा। मैं धर्मके भावसे मारता तो हमारा धर्म बना रहता। क्रोधके भावसे इसे मारूँगा तो क्रोध रहेगा, हमारा धर्म मिट जायगा। मुझे धर्म छूट जानेका डर था। उन्होंने यह नहीं सोचा कि जो होना हो सो होवे, हम तो करते रहेंगे।

डरते रहो भाई, कि अपने आचरणमें कोई त्रुटि न आजाय! अपने मनमें कोई दुर्भाव न आजाय! अपने जीवनमें कोई दुर्गुण अपना स्थान न बना ले। जब 'दुर्-दुर्' को छोड़ने लगोगे तो यह सारी माया 'दुर्' लगेगी—

**माया महा ठगिनि हम जानी।**
**रमैयाकी दुलहिन लुटा बजार,**
**ब्रह्मा के घर ब्रह्माणि हो बैठी,**
**रुद्रके घर रुद्राणी।**
**माया महा ठगिनि हम जानी॥**

सावधान होकर इस मायाके खेलमें-से निकलनेकी कोशिश करो। क्या-क्या बात बतायी?

(१) सद्गुणको अमृत समझकर उसका सेवन करो, स्वाद लो।

(२) हमेशा उसको चाहते रहो।

(३) उनके छूटनेसे डरते रहो कि यदि सद्गुण हमसे छूट जायेंगे तो संसारकी बहुत बड़ी अच्छाई हमसे छूट जायगी।

'अच्छा जी! क्या करते हैं' अविद्याके बन्धनसे छूटनेकी तो इच्छा ही छूट गयी! बन्धन तो छूटा नहीं और बन्धनसे छूटनेकी इच्छा छूट गयी। एक सज्जन कहते थे, 'यह मोक्ष भी तो कल्पित ही है न?' ऐसे ही बोलते थे।

मैंने कहा—'हाँ भाई, स्त्री-पुत्र, धन, बेईमानी, दुनिया इकट्ठी करना सच्ची है और मोक्षकी इच्छा झूठी है, कल्पित है? यह तुम्हारा तत्त्वज्ञान है!' महाराज! ईश्वर कल्पित है; यही न? 'हमने ठीक समझा?' मैं बोला—'बिलकुल ठीक समझे,' परन्तु फिर उसने कहा—'मैंने यह समझा है कि शरीर सच्चा है।'—यह कौन-सा वेदान्त है? यह चार्वाकका वेदान्त है।

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्य-
मनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम्।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे
यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५॥
शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

देखिये, हर समय अपना एक कर्तव्य है। कर्तव्य क्या है? जो अपना बन्धन नहीं है, नासमझीके कारण बन्धन मालूम पड़ता है। आप वेदान्तियोंके 'अविद्या' शब्दको सुनकर घबड़ा न जायें कि 'पता नहीं, यह इनकी अविद्या क्या होती है!'

अविद्या माने नासमझी। जब पहले हम लोग स्वराज्य-आन्दोलनमें—गान्धीजीके सत्याग्रहमें भाग लेते थे—कभी-कभी ऐसा भ्रम होता था कि 'यह जो आदमी हमारे साथ बैठा है, आया है, यह खुफिया-पुलिस, अंग्रेजोंका आदमी है।' हम तब इतने सावधान रहते थे उस विचारसे कि एक भले मानुषको शंकास्पद बनाकर हम स्वयं व्याकुल हो जाते थे। तो उस आदमीको खुफिया या दुश्मन समझना भूलका काम होता था। वे बोल देते कि 'मैं मित्र हूँ, शत्रु नहीं हूँ।' तो अविद्या माने? नासमझी। 'यह मेरा' यह ज्ञान। न चीज़ने आपको पकड़ा है न आपने चीज़को पकड़ा है। इस संसारके बन्धनकी गाँठ वस्तुमें नहीं होती, हाथमें

भी नहीं और रस्सीमें भी नहीं होती, यह हृदयग्रन्थि, संसारके बन्धनकी गाँठ दिलमें है। चाहे हाथ-पैर जोड़ो, चाहे रोओ-चिल्लाओ, यह गाँठ झूठी है, मानी हुई है। जबतक समझोगे नहीं कि है ही नहीं, नासमझी है, तबतक छूटेगी नहीं।

'अविद्याकृतबन्धमोक्षणम्'—अविद्याकृत जो बन्धन है, उससे छुटकारा कैसे होता है? विद्यासे। यह संसार माने विश्वधर्मसे विलक्षण वस्तु है। दुनियामें धर्म मानते हैं कुछ करनेको, कुछ देने-लेनेको, कुछ भावनाको यह हमारा धर्म नहीं है। हमारा धर्म है नासमझीको मिटाना और नासमझी मिटती है समझदारीसे।

आजकल जो 'मज़हब' के नामसे मशहूर हैं, वे तो समझदारीके दुश्मन हैं। यह वैदिक अर्थात् भारतीय धर्म है, यह अपौरुषेय ज्ञान है। ज्ञानजन्य ज्ञान नहीं, इन्द्रियोंसे बटोरे हुए ज्ञानका ढेर नहीं है? पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न ज्ञान नहीं है।

विद्या माने उत्पन्न ज्ञान। कौन-सा ज्ञान? इस अनुत्पन्न ज्ञानका ज्ञान कैसा होता है? जिसको न ऐसा न वैसा बोला जा सकता है। न यह, न वह, न यहाँ न वहाँ, न अब न तब-ज्ञानको किसी तरह भी बोलकर बताया नहीं जा सकता। वस्तुतः तत्त्वका स्वरूप और ज्ञान यदि दो है तो सच्चा ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे अलग होनेपर सत् वस्तु जड़ हो गयो और उस वस्तुसे अलग होनेपर ज्ञान कट गया, सत् वस्तुसे अलग ज्ञान असत् है, परिच्छिन्न है, भेद होनेसे उससे भिन्न है। पर जिन लोगोंकी समझमें ज्ञान और सत् वस्तु दो हैं, उनकी नासमझी कभी मिट नहीं सकती। ज्ञान और आत्मा दो नहीं हो सकते। जो वेदान्तके द्वारा अविद्याकृत बन्धनसे मुक्त होनेमें नहीं लगा है; उसे छोड़ देता है, और कहाँ लगा है?

**देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ।**

**देहः परार्थोऽयम्**—श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया है, श्रीकृष्ण उद्धवको कहते हैं—'ऐसे कई लोग हैं, कई पन्थ और फिरके हैं, मजहब भी कई हैं जो कहते हैं—'आओ पहले शरीरको अजर-अमर बना लें और फिर इससे साधन-भजन करेंगे।'

हमारा शरीर मरने न पावे, काया-सिद्धि हो जाय और फिर जवान बने रहें हमेशा। आओ, ये दो काम पहले कर लें। उसके बाद तत्त्वज्ञान प्राप्त करेंगे। कोई-कोई बोलते हैं—भाई! यह शरीर तो एक-न-एक दिन छूटनेवाला है' यह भागवतमें है। 'अन्तवत्त्वात् शरीरस्य' शरीरका अन्त निश्चित है। एक-न-एक दिन ब्रह्माजी मरेंगे। द्विपरार्धं परायुषः—ब्रह्माकी भी एक सीमा है और वे भी मौतसे डरते हैं।

यह कल्पना करना कि हम अजर-अमर हो जायँ, जवान हो जायँ, फिर हम अविद्याको निवृत्त करनेके लिए विद्या प्राप्त करेंगे और फिर विद्या, अविद्या दोनों आपसमें लड़कर मर जायेंगी और रहेंगे हम। सोचते रहो।

**देहः परार्थोऽयम्**—यह देह अपने लिए होता ही नहीं। कौन इस दुनियामें ऐसा हुआ है? किसी ऐतिहासिक पुरुषका नाम तो लो! ऐसे लोग तो हमने देखे हैं, जो कहते थे, 'हम तो अजर-अमर हैं।

राजस्थानमें एक साधु था। वह कहता था, इसी शरीरसे—जिसे तुम देख रहे हो, यह दाढ़ी, यह चोटी, बड़े पेटवाले इस शरीरके सामने कई बार रामावतार और कृष्णावतार हुआ। वसिष्ठ-विश्वामित्र हमसे सीखकर जाया करते थे। और कहता था—'हम कभी नहीं मरेंगे।' ऐसा मौका लगा कि जब वे मरे तब उनकी अर्थीके साथ हमको भी जाना पड़ा।

असलमें—दो सौ, चार सौ वर्षकी आयु हो जाय तो आप मोक्ष-साधन करेंगे ? इतने दिनमें संसार जुटा लें। किसके लिए ? अगली पीढ़ीके लिए। छिन जायगा, कोई कितना भी षड़यन्त्र करे कि हमारा बना रहे, परन्तु वह छिन जायगा। यह एकदम पक्की बात है। यह दुनिया तुम्हारी मुट्ठीमें रहनेवाली नहीं है।

यह मोटररूपी देहः परार्थोयम्—रजाई, खोलिया खुद अपनेको नहीं ओढ़ती है, दूसरा कोई उसे ओढ़ता है। मोटर खुद अपनेपर नहीं चढ़ती है, दूसरा कोई उसपर चढ़ता है। ऐसे यह जो शरीर है, उसके हाथ-पांव अलग हैं, कई चीजोंसे बना हुआ संघात है। आप यह नियम बना लीजिये कि जो चीज कई चीजोंको जोड़कर बनती है वह अपने लिए नहीं होती। एक संस्था बनती है, उसमें कोई बहुत चतुर आदमी होता है, उसको अपने काममें लेता है। बीस-पचीस वर्षकी बात है, एक सज्जनने कहा, 'लोग कहते हैं, 'काम नहीं मिलता। हमारे पास पाँच सौ आदमियोंको ले आओ, हम काम देंगे'

मैंने पूछा—'आप उन्हें कैसे रखेंगे ?'

वे बोले—'जब उस आदमीको हम पाँच सौ रुपया तनख्वाह देंगे, किस कदर वह हमें दो हजार रुपया महीना आमदनी करायेगा, यह सोचते हैं।'

ये ब्यापारकी संस्थाएँ हैं, समाज-सेवाकी संस्थाएँ हैं, ये सब एक आदमीकी कठपुतली होती हैं। जब हम किसी संस्थामें शामिल होते हैं, तब उसके मन्त्री, प्रेसीडेन्ट, संचालक हमको अपने ही मनके अनुसार चलानेकी कोशिश करते हैं। देहः परार्थोऽयम्—जो दस चीजके मिलनेसे बनती है; दस आदमी एक संस्थामें रहते हैं, क्या सब दूधके धुले हुए होंगे—स्वच्छ। आप यह कल्पना करते हैं कि एक समूहसे एक संस्था बनी ? किसीके मनमें तो

स्वार्थ होगा, कहीं बेईमानी होगी ! संस्था तो पवित्र हो ही नहीं सकती। एक आदमीके संकल्पकी पूर्तिके लिए संस्थाओंका संगठन होता है। हम यह बात बचपनसे जानते हैं। यह बाड़ है, पेड़ नहीं है।

ईश्वरकृपासे यह देह भी एक संस्था माने संस्थान है। हमने एक फैक्टरीका नक्शा देखा था और उसके साथ शरीरका मिलान किया। जैसे एक जगह रूई डाली जाती है, वह साफ होती है, फिर सूत बनती है, अमुक जगह जाती है तो कपड़े बनते हैं। वैसे इस शरीरमें एक जगह घासपात खाते हैं, पालकका शाक खाओ, चौलाई डालो, आलू और लौकी, थोड़ा मिर्च-मसाला। भीतर गया तो वहाँ ऐसा बना, वैसा बना, एक ओरसे मैल निकल गया, एक ओरसे खून बन गया। एक जगह पच गया, शक्ति बनी। बहुत पहले इलाहाबादमें दो पुस्तकें निकली थीं। 'हमारे शरीरकी रचना' उसका नाम था। उसमें देखा था शरीरका नक्शा।

यह शरीर तो एक फैक्टरी है। इससे फायदा उठानेवाला मालिक होता है। यह बिलकुल दूसरेके काम आनेके लिए है। एक स्त्री बड़ा श्रृंगार-पटार करके अच्छे कपड़े पहनकर, अच्छे बाल बनाकर, अच्छे ढंगसे अपनेको सजा-सवाँरकर बाजारमें पर्स हाथमें लेकर निकलती है, तो अपनेको अच्छी लगनेके लिए निकलती है कि दूसरेको अच्छी लगनेके लिए निकलती है ? जब दूसरे लोग उसकी ओर देखेंगे, उनकी आँखें उसकी ओर खिचेंगी, तो वह बोलेगी—'वाह-वाह ! हमारा श्रृंगार आज सफल हो गया।' पुरुष भी, दाढ़ी-मूँछ बनाकर आकृष्ट करना चाहता है—यह सब क्या है ? परार्थोऽयम्।

**वेश्या करे शृंगार बैठी बीच बजार।**
**बैठी बीच बजार और नजारा सबसों मारे।**
**ले खसमको नांव खसमसों परिचय नाहीं।**

यह शृंगार? देहः परार्थोऽयम्—यह शरीर बिलकुल अपने काममें नहीं आ रहा है। यह दूसरेके काम आ रहा है और इसीके पालन पोषणमें हम बेईमानी करते हैं, पाप पालते हैं, दूसरोंको तकलीफ देते हैं।

**यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति।**

वह अपने हाथों अपने पाँवपर कुल्हाड़ी मार रहा है, अपना गला काट रहा है। यह मोटर तुमको मिली थी, गड्ढेमें ले जानेके लिए नहीं, परमेश्वरके पास ले जानेके लिए, अपने घर पहुँचानेके लिए। चंडूखाने या वेश्याके घर जानेके लिए नहीं। परन्तु मोटरका शृंगार इतना, और काम आवे वेश्याके घर जानेके लिए? अपने घर लौटनेके समय बिलकुल बेकार। यह है अपने आप खुदकुशी, आत्महत्या!

**शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।**
**ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति॥ ८६॥**

इसमें अपने जीवनके एक अन्तर्विरोधका चित्रण है। पाना चाहते हैं कुछ, और देखना चाहते हैं कुछ। अर्थी हैं किसीके और दर्शन करना चाहते हैं किसीके यह अन्तर्विरोध है। पाना चाहते हैं रुपया और देखना चाहते हैं भगवान्को। पाना चाहते हैं संसार और जानना चाहते हैं परमात्माको। तो यह जानना अलग और पाना अलग। इसमें आप जो पाना चाहते हैं; वहाँ पहुँचेंगे, जानना चाहते हैं वहाँ नहीं पहुँचेंगे। इसको बोलते हैं, अन्तर्विरोधका चित्रण।

परिच्छिन्नमें तो है आसक्ति। परिच्छिन्न माने टुकड़ा शैतान! पाना चाहते हैं कतरा, और देखना चाहते हैं दरिया, जिसमें कतरेकी कोई कीमत नहीं है। अर्थी और दिदृक्षु एक विषयके हो जायँ। जिसको पाना चाहते हैं, उसको देख लें और जिसे देखना चाहते हैं उसीको पा लें। ठीक है, यदि जीवनमें एक-रूपता आजाय, तो आपका जीवन निर्द्वन्द्व हो जायगा और 'अर्ध जरतीय न्याय' जिसे संस्कृत भाषामें बोलते हैं, माने 'आधी मुर्गी पकाकर खा जायँ और आधी मुर्गी अंडा देती रहे - जैसे यह नहीं हो सकता न? आधा शरीर वृद्ध हो जाय और आधा शरीर बच्चा देता रहे, यह जैसे नहीं हो सकता, वैसे मनको दुविधाकी स्थितिमें डालकर रखना, यह कल्याणका हेतु नहीं है।

शरीर पोषणार्थी सन्—जो क्षण-क्षण छीज रहा है, उसे बोलते हैं शरीर। बच्चेका शरीर भी जो क्षण-क्षण बढ़ता है, यह बढ़ना भी संस्कृत भाषामें एक विकार माना जाता है। छह विकारोंमें एक विकार है बढ़ना और एक है घटना। पैदा हुआ है—विषयके रूपमें मालूम पड़ा, बदला, बढ़ा, क्षीण हुआ और नष्ट हुआ। 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षीयते और विनश्यति। यास्कने ये छह भाव—विकार माने हैं। किसी भी वस्तुमें ये छह बातें लगी रहती हैं। आपके शरीरके साथ भी ये छह बातें लगी हुई हैं।

न जन्म हुआ न मौत होगी। सपने बदल रहे हैं। कुल बात है इतनी-सी। एतावान् ज्ञानविषयः—बस भाई, बस! मनुजीने वेदान्तका ऐसा संक्षेप वर्णन किया है। हमारे गाँवके पास एक ठाकुर साहब थे। उन्होंने खुद मनुस्मृति पढ़ी। एक दिन जब मैंने उन्हें सुनाया कि मनुस्मृतिमें स्वाराज्यकी बात लिखी हुई

है, अंग्रेजोंके शब्दमें ! तब वे बोले, 'वाह-वाह ! मनुस्मृतिमें स्वराज्यकी बात कैसे हो सकती है ?'

पण्डित लोग जब कर्मकाण्ड करते हैं तब भोज्यम्, 'स्वाराज्यम्' शब्दोंका प्रयोग करते हैं। मनुस्मृतिमें लिखा है—

**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
**समं पश्यन् आत्मयाजी स्वाराज्यम् अधिगच्छति ॥** (१२·९१)

सबमें आत्मा है, आत्मामें सब है। तो आत्मा अबाध्य है, सब बाध्य है। यह वेदान्तियोंकी भाषा है। 'आत्मा नहीं है, यह अनुभव आपको कभी नहीं हो सकता और 'दुनिया नहीं है, यह अनुभव हो सकता है। अतः 'दुनिया नहीं है' यह निश्चय शक्य है। और 'आत्मा नहीं है' यह निश्चय शक्य नहीं है। 'सबमें आत्मा और आत्मामें सब' माने आत्मा सच है और बाकी सब मिथ्या है।

**एवं पश्यन् आत्मयाजी स्वाराज्यम् अधिगच्छति ॥**

ऐसी दृष्टि प्राप्त करके जो आत्माके लिए सबका यजन माने बलि कर देता है, वह अपने अद्वितीय रूपमें स्थित होता है, उसको स्वाराज्यकी प्राप्ति होती है। 'स्वाराज्यम् अधिगच्छति'।

देखिये, कुछ-का-कुछ ! न जन्म, न मृत्यु। सपने बदल रहे हैं। आत्माका न जन्म है, न मरण और सपने तो आत्माके चरणोंमें चढ़ते चलते हैं। मनुजीने वेदान्तका संक्षेप किया है। क्योंकि आप लोग भारतीय आचार-संहिताका अध्ययन कम करते हैं, और यह 'विवेक चूड़ामणि' आचार-संहिता नहीं है कि 'हमें आचरण कैसे करना चाहिए' कि यह बतावे ! यह तो तत्त्व-संहिता है।

तत्त्व वस्तु क्या है ? उसका अनुभव कैसे हो ? शास्त्रोंमें असल तीन विभाग हैं, आचार-संहिता, प्रमाण-संहिता और तत्त्व-संहिता। हमें कैसे अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए, यह आचार-संहिता

है। हमको सचाईके ज्ञानके लिए किस प्रमाणका आलम्बन लेना चाहिए, यह प्रमाण-संहिता है। और जिस तत्त्वका साक्षात्कार होता है, वह क्या है ? यह है तत्त्वसंहिता। मनुजीने वेदान्तके आचारका संक्षेप किया।

**यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।**
**स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥** (२.१६०)

जिसकी वाणी शुद्ध है, मन शुद्ध है, वाणीसे मतलब है कर्मेन्द्रियोंका। पाँव शुद्ध है माने अच्छी जगह जाते हैं, हाथ शुद्ध है माने अच्छा काम करते हैं, जीभ शुद्ध है माने अच्छी बात बोलते हैं। मूत्रेन्द्रिय शुद्ध है माने मर्यादाके बाहर नहीं जाती। यह है आचारसंहिता।

वाणीकी शुद्धि माने वाणीसे उपलक्षित समस्त कर्मेन्द्रियोंकी शुद्धि। मनकी शुद्धि माने सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंकी शुद्धि। आँख शुद्ध-शुद्ध देखे, कान शुद्ध-शुद्ध श्रवण करे, रसना शुद्ध-शुद्ध भोजन करे। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी शुद्ध और ज्ञानेन्द्रियाँ भी शुद्ध।

सम्यक् गुप्ते च सर्वदा—कोई भी विषय, किसी भी ओरसे आकर चोट न पहुँचा सके! सम्यक् गुप्त माने सुरक्षित—वह अपने स्वरूपमें गुप्त रहे।

मनुपद्यमें 'वेदान्तोपगतं फलम्' कहा गया है।

वेदान्तमें जिस फलका वर्णन है, वह उसी आदमीको मिलता है। तो 'अर्ध-जरतीयन्याय' नहीं चलता है। एक आदमीने कहा—'कृष्णने रासलीला क्यों की ? बड़ा गलत काम किया।' दूसरेने उससे पूछा—'तुम कैसे कह सकते हो कि गलत किया। तुम देखकर आये हो !' वह बोला—'मैं देखकर नहीं आया हूँ। भागवतमें लिखा है।' 'भागवतमें तो यह भी लिखा है कि उनकी उमर रासलीलाके समय नव वर्षकी थी' वे साक्षात् परमेश्वर थे, यह भी लिखा है।'

फिर भी वे बोलते हैं—'नहीं नहीं ! हम ये बातें नहीं मानते। न नव वर्षवाली बात मानते हैं न परमेश्वरवाली बात ! सिर्फ रासलीलावाली बात मानते हैं ! इसीको 'अर्ध-जरतीय न्याय' बोलते हैं। मानो तो पूरा मानो, संगति बैठ जायगी। आधा मत मानो। या तो पूरा मानो, या यह मानो कि 'रासलीला की ही नहीं, उन्होंने !'

ऐसे तो यदि शास्त्रीय रीतिसे आत्माके ब्रह्मपनेका बोध प्राप्त करना है, तुम तो कहते हो, चाहे जो कुछ हो, जो कुछ होगा वही जानेंगे। तुम तो खुद शैतानके हाथोंमें लटक रहे हो, संशयवान् हो रहे हो, 'संशयतान' हो रहे हो ! जब मन एकतान' होता है तब ध्यान होता है। और संशयतान, तो संसार होता है। खुद तो संशयतान बन रहे हो।

एक चीज नहीं, एक निष्ठा नहीं, एक तरफ गति नहीं। साधक जब चालाक बनता है, चालाकी करने लगता है। एक सज्जन आये सत्संगमें सबके आगे आकर बैठे ! बड़े ध्यानसे कान देकर सुनें, बड़े प्रेमसे सुनें और बीच-बीचमें हँसें ! आँख मिलावें, नोट करें। बादमें प्रश्न करें, उसका उत्तर लें। थोड़े दिनोंके बाद बोले कि, स्वामीजी ! मेरा तो आपके सत्संगमें रहनेका ही मन है।'

मैंने कहा—'ठीक है भाई, बहुत बढ़िया !'

उन्होंने कहा—'परन्तु रहनेकी जगह चाहिए। बम्बईमें मिलना तो बड़ा मुश्किल !' फिर बोले—'निर्वाहका भी कोई साधन चाहिए। आप किसी सेठको कह दें कि कोई जगह दे दें और निर्वाहके लिए कोई काम दे दे। यहाँका योगक्षेम चलता रहे। असलमें वे नौकरी करनेके लिए आये थे, सत्संग करनेके लिए थोड़े आते थे।

लोग चाहते हैं, छीजनेवाले इस शरीरकी संपुष्टि और 'मैं' जुड़ा हुआ है देहके साथ। 'देह' माने संस्कृतमें ढेर। हिन्दीमें जिसे कूड़ा इकट्ठा करना कहते हैं, दिह् उपचये। राशि-ढेर। चाहते हैं कि यह कूड़े-कचरेका जो ढेर है, इसमें 'मैं' बना रहे। इसकी सेवा करते रहें और आत्माका दर्शन हो जाय!

'आत्मानम् दिदृक्षति'—दूसरेका दर्शन पाना एक दूसरी चीज है—'नष्टवनितासाक्षात्कारवत्।' जैसे मरी हुई औरत सपनेमें दिखाई पड़ती है। वैसे दूसरेका जो दर्शन है, वह तो 'नष्ट-वनितासाक्षात्कारवत्' है। मरी हुई औरतके दर्शनके समान।

'आत्मानम् दिदृक्षति।' हम अपने आपको देखना चाहते हैं। देखिये, कितनी सीधी बात है और आपके ध्यानमें नहीं आ रही है। एक महात्मासे किसीने पूछा—'महाराज! अपने आपको हम कैसे देखें? आत्माका दर्शन कैसे हो!'

वे बोले–'दूसरेका दर्शन करना छोड़ दो! तुम अपनी आँखको दुकान बनाना चाहते हो न? यह भी देखें, वह भी देखें। यह कैसे हो सकता है! यदि तुम आत्माका दर्शन करना चाहते हो, तो उसका उपाय है कि दूसरेका दर्शन करना छोड़ो।' अर्थात् अपने ज्ञानमें दूसरी वस्तुको मत आने दो! वेदान्तमें आँखसे देखने-की बात नहीं करते हैं! आँखके देखने-न-देखनेकी कोई कीमत नहीं है वेदान्तमें। आपका जो ज्ञान है, उसकी शक्ल-सूरत क्या है? उसमें दोस्त है कि दुश्मन है? बच्चा है कि रुपया है? मकान है कि दुनिया?

आप अपने ज्ञानको एक बार शक्ल-सूरतसे रहित कर दीजिये। ज्ञानमें शक्ल-सूरत नहीं होती। ज्ञानमें यदि शक्ल-सूरत दिखेगी तो ज्ञानके किसी विषयकी दिखेगी। लम्बाई दिखेगी तो किसी विषय-देशकी दिखेगी, उम्र दिखेगी तो विषय-कालकी

दिखेगी। ज्ञानमें वस्तु-देश, वस्तु-काल और वस्तु-आकृति नहीं होती। आप अपने ज्ञानको शुद्ध करके देखिये। उसमें वस्तु-देश-काल कोई संपर्क न हो!

न मैं खुदा था न वंदा था, मुझे मालूम न था।
हर इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था॥

वेदान्ती लोग 'उपाधि' शब्दका प्रयोग हर चीजके लिए करते हैं न? उर्दू में उसीके लिए 'इल्लत' है। यह दुनिया तो ऐसे चल रही है; कि अपनेको तो जानते नहीं और दूसरेके बारेमें ढेर सारी जानकारी रखते हैं। जैसे साइकिल चलानेवाला अपने रास्तेको तो न देखे, दाँये-बाँये देखने लगे, तो साइकिल मुड़ जाती है। वैसे यह ज्ञानकी साइकिल है। वह आप जिसे देखोगे, उधरसे मुड़ जायगी। उसीको पाओगे। कालको देखोगे तो काल पाओगे, माने मरोगे! मरना मालूम पड़ेगा। देश देखोगे तो देश मालूम पड़ेगा। स्वर्ग-नरक पुनर्जन्ममें आने-जानेवाले मालूम पड़ोगे। अगर आकारको देखोगे तो कभी गीध, कभी शेर, कभी बानर! बिलकुल पिशाचकी तरह शक्ल बदलता रहेगा और आप उसके चक्करमें फँसोगे!

ज्ञानको खालिश ज्ञान देखना—खालिश माने जिसमें देश-काल-वस्तुका सम्पर्क न हो, वह ज्ञान ही है आत्मा और यदि शरीरसे ही मोह करोगे तो—

ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं ततुं स इच्छति॥

लकड़ी समझकर मगरको पकड़ लिया। एक किस्सा है। किसीने कम्बल समझकर एक भालू पकड़ लिया। वह उसे हटा नहीं सका, तो किसीने कहा—तुम्हारे हटाये नहीं हटता है तो छोड़ दो कम्बल!' वह बोला—'मैं तो कम्बलको छोड़ता हूँ, कम्बल ही मुझे नहीं छोड़ता है।

यह क्या हुआ ? 'अरे ! यह कम्बल नहीं है, भालू है ! भालू वहाँ जा रहा था। मैंने भालूको कम्बल समझकर पकड़ लिया था। अब मैं तो कम्बलको छोड़ दूँ, पर कम्बल हो तब न ? यह तो भालू है, मुझे पकड़कर लिये जा रहा है।'

हम लोग दुनियामें जिन चीज़ोंको पकड़ लेते हैं, उनके साथ बहे जा रहे हैं, हृदयमें श्रद्धा, विश्वास, शान्ति, धैर्य, विवेक नहीं है। मैंने कल या परसों कहीं पढ़ा था—'एक फकीर गाँवमें-से निकलता था और बोलता था—'सब दो, सब दो।' 'सब लो, सब लो।' 'सब दे दो, सब दे दो।' 'सब ले लो। सब ले लो।'

एक बड़े बुद्धिमान् सज्जन थे। उन्होंने देखना चाहा, कि यह क्या बोल रहा है ? बाहर आकर देखा तो भीख माँगनेवाला भिखारी था। उन्होंने सोचा इसके पास क्या है, यह क्या देगा ? फकीरने भी उसपर कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे दिन फिर आया, उसी समय ! उसने जाकर देखा—वही भिखारी ! वे उससे बोले—'भाई ! तू हमसे रोटी ले ले ! भीख ले ले ! हम देनेको तैयार हैं।' कई लोग तो रोटी भी नहीं देते।

वह बोला—'हम तुमसे कुछ नहीं लेंगे।' वह फकीर चले गये। फिर तीसरे दिन आये। जब आये तो उनके साथ बड़ी सुन्दरी रूपवती किशोरी स्त्री थी। बड़ी आकर्षक लड़की थी। अब फकीर बोले—'सब दो, सब लो'।

वे सज्जन वहाँ थे। उन्होंने कहा—'इसके पास भी कुछ है ! यदि यह हमें यह स्त्री दे दे तो उसके बदलेमें हम उसे सब दे सकते हैं कि नहीं ?' फकीर तो चला गया भीख माँगकर। वे सज्जन घरमें गये तो वही लड़की याद आये। उनके चित्तमें बेचैनी हुई, हूल उठने लगी। रोवें—

'हाय रे ! मिलेहि कौन विधि बाला।'

वह लड़की कैसे मिलेगी ? वे बोले—'बाबा ! उसके बिना तो हम जी ही नहीं सकते। उसके बिना सब दे देना पड़े तो दे देंगे। अब चौथे दिन फिर आया वही भिखारी। वही लड़की साथ। वे बोले—'बाबा ! तू मेरा सब ले ले ! परन्तु यह लड़की दे दे मुझे। क्योंकि उसके विना तो हम जिन्दा ही नहीं रह सकते।'

वह हँसा और बोला—'देखो ! तुम्हारे सबकी कीमत यह लड़की है न ? तुम्हारे सबकी कीमत यह फकीर नहीं है। सब दे दे, सब ले ले !' फिर तो फकीर चला गया, कभी नहीं आया उसकी नजर में। न लड़की आयी न फकीर आया ! परन्तु दिखा गया कि तुम्हारी दुनियाकी क्या कीमत है। तुम्हारे अर्थकी, धर्मकी कीमत है न ? 'सब दो, सब लो', तुम्हारे मनमें कीमत किसकी बनी हुई है। इसपर तो ध्यान दो।

**मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।**
**मोहो विर्निजितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥ ८७ ॥**

येन—जिसके द्वारा। यह जो देहमें और देहके सम्बन्धियोंमें मोह है, यह मोह ही महामृत्यु है। कहते हैं कि जब प्रह्लादके सामने नरसिंह भगवान् प्रकट हुए, तब नरसिंह भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद ! वर मांगो।'

प्रह्लादने कहा—'महाराज ! सबकी मुक्ति हो जाय यह वर मैं चाहता हूँ। उनको ऐसे दुःखमें तड़पते छोड़कर मैं अपने अकेलेके लिए मुक्ति नहीं चाहता।' भागवतमें है—

**नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः** ( ७.९.४४ )

बेचारे गरीबोंको दुनियामें तड़पते छोड़कर मैं अकेला मुक्ति लूँ ? ऐसा मैं नहीं हूँ।'

नरसिंह भगवान्‌ने कहा—'यदि सबको मुक्ति दे दूँ तो मेरी लीला ही बन्द हो जायगी। लीला भी चालू रहे और हमारा वर-

दान भी रहे। हम सबको मुक्ति देंगे, परन्तु जबरदस्ती नहीं जिनकी इच्छा हो, उन्हें ले आओ, मैं उन्हें मुक्ति दे दूँगा।'

प्रह्लादजीने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्योंसे पूछा; सबने कहा, 'हमें यह चाहिए, वह चाहिए कोई मुक्ति न चाहे। वे बोलते— 'अभी बेटेका ब्याह कर लें, बेटेके बेटेका मुँह देख लें। अभी तो पचास लाख रुपया ही है, करोड़ पूरा कर लें अभी तो जवानी है, भोग-रागका समय है। बूढ़े होंगे तब मुक्ति ले लेंगे। अभी क्या जल्दी है?' प्रह्लादजीका कोई मुक्ति चाहनेवाला मिला ही नहीं।

उन्होंने एक सूअरको देखा। अलमस्त! धरतीपर कीचड़में लोटे। वह कीचड़का, धरतीका बड़ा प्रेमी! जब देखो तब उसका मुँह धरतीमें लगा हुआ है। गन्दीसे गन्दी चीज है, उसे खा रहा है, धरतीपर लोट रहा है। प्रह्लादजी बोले—'सूअरजी!'

एक सासने बहूको सिखाया कि 'सब बातमें 'जी' लगाकर बोला करो, ऐसे ही मत बोलो।' तो बहूने कहा—'सासजी, सासजी! देखो। देवरजीके कपड़ेपर पाड़ाजी गोबरजी करके जा रहे हैं।

प्रह्लादजीने कहा—'सूअरजी! आप कहाँ पड़े हुए हैं। विष्ठाका भोजन कर रहे हैं? चलिये वैकुण्ठमें। मैं तुम्हें मुक्ति दिलाता हूँ।'

सूअरने पूछा—'वहाँ क्या है?'

प्रह्लादजी—'वहाँ सुख ही सुख है। दूसरी कोई चीज है ही नहीं केवल सुख ही सुख!'

सूअर—'सुख है, यह तो ठीक! परन्तु मेरी पत्नी, मेरे भाई-बन्धु, मेरे बेटे चलें, पूरे परिवार-सहित चलें तो सुखी होंगे।'

प्रह्लादजी—'अरे भाई कोई आनेको ही तैयार नहीं है, तुम

परिवारसहित चलो। हम तुम्हें ले जायेंगे। चाहे जिसको ले आओ। हम पूछकर आये हैं।'

सूअरने सोचा—'ठीक है, वहाँ आलीशान मकानमें रहनेको मिलेगा, पीनेको, खानेको, नाचनेको मिलेगा। आनन्दमें रहेंगे, झूमते रहेंगे।' जब वह घरमें गया तो घरवालोंकी पञ्चायत बैठी। घरवाली सूअरी थी, उसने पूछना शुरु किया। सूअरीजी उवाच—'हे हो! बैकुण्ठमें तो हम सब लोग चलेंगे। परन्तु हम लोगोंकी खानेवाली जो चीज है, बैकुण्ठमें वह मिलेगी कि नहीं?'

सूअरने कहा—'वह तो मैं पूछना भूल ही गया।'

सूअरी—'यही तो मर्दोंकी बेवकूफी है कि खाने-पीनेकी कोई व्यवस्था नहीं और चलो बैकुण्ठमें।'

सूअरजी पूछने गये तो प्रह्लादजी बोले—'बैकुण्ठमें सब चीजें मिलती हैं, परन्तु तुम जो खाते हो, वह तो गन्दी, नरककी चीज है। वह तो वहाँ नहीं मिलती।'

सूअरीने सुनते ही कहा—'अरे बच गये बाबा। मारे जाते यदि बैकुण्ठमें जाते। हमारे खानेकी चीज ही नहीं मिलती!'

**मोक्ष एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु।**
**मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति॥**

मोह है मोह! मोह माने उलटी बुद्धि। भ्रम, दुःख, मोह-एक बुद्धि है। आपकी समझमें संस्कृतके शब्दोंके अर्थ हों, उनकी जानकारी हो! बुद्धि माने समझ, जानकारी! 'यह दुःख है'—इस समझका नाम ही दुःख है। दुःख माने कोई चीज नहीं होती, लम्बी-चौड़ी, काली-पीली, उमरवाली, वजनवाली चीजका नाम दुःख नहीं होता! असलमें 'यह दुःख है'—ऐसी जो बुद्धि माने मानना, जानकारी है, उनका नाम दुःख होता है। 'मैं नरकमें हूँ' इस जानकारीका नाम ही नरक है। 'मैं स्वर्गमें हूँ' इस जान-

कारीका नाम ही स्वर्ग है। स्वर्ग नहीं, स्वर्ग-बुद्धि मिलती है। नरक नहीं, नरक-बुद्धि मिलती है। दुःख तो नहीं, दुःखबुद्धि मिलती है : तो उलटी बुद्धिका नाम है मोह।

जो हमारा नहीं है उसे हमारा समझना मोह है। आप कहाँ हैं ? आपकी बुद्धि उलटी है कि सीधी है ?

देखिये, यहीं इस हालमें अभी कोई दुर्गन्ध फैला दे तो हम कहेंगे कि 'तुमने आकर हमारे हालको गन्दा किया। दुर्गन्ध तो आकाशमें फैली आकाश तो तुम्हारा है नहीं, परन्तु दीवारके भीतर जो आकाश है, उसे अपना कहते हैं। वैसे शरीरके भीतर आकाश है; चामकी वजहसे आकाश अलग-अलग नहीं होता है। जैसे घर-घरौंदा बनाकर अलग-अलग अपना-अपना आसमान कर लेते हैं, वैसे देह बननेसे अपना-अपना आसमान अलग-अलग बनता है।

जो चीज अपनी नहीं है, उसे अपनी मान रहे हैं। इसका नाम मोह है। अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न, चेतनको जड, नित्यको अनित्य मान रहे हैं। सुखको दुःख ! बुद्धिकी उलटवाँसीका नाम मोह है--मुह् वैचित्त्ये। चित्तका उलट जाना मोह है। मरने-वालेसे प्रेम करना--यह उलटी बुद्धि है। जानते हैं कि यह परदेशी है,

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करि दीपक सों
पावक मांहि दह्यौ। प्रीति०
कमलके रवि परम हित हैं
कहत श्रुति अस बैन।
असमय मीत का के कौन। प्रीति०

जब समय बिगड़ता है तब किसीकी मित्रता काम नहीं देती

है। आप ईश्वरका भरोसा छोड़कर मनुष्यका भरोसा करते हैं। आत्मानन्दका भरोसा छोड़ विषयानन्दका भरोसा करते हैं। यह मोह है। चेतनको छोड़ जड़को, नित्यको छोड़ अनित्यको प्रेम करते हैं। यह मोह है। एक आदमी है, वह साधु-सन्त सब पर शंका करता है। प्रेम किससे करता है? पैसेसे। 'संशयात्मा विनश्यति।' गीतामें है--

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**
**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४.४०॥**

वह तो इस लोकमें भी सुखी नहीं हो सकता और मरनेके बाद भी नहीं। संशयमें जरा दुविधा रहती है, और मोह बिलकुल उलटी बुद्धि है।

'मोह एव महामृत्युः'। प्रमाद तो दुविधा है और महामृत्यु है। मर गया वह आदमी जो संसारकी वस्तुको पकड़कर बैठ गया।

मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति॥

जिसने मोहपर विजय प्राप्त कर ली। कभी गन्दी चीज खिलानेका, मिर्च-मसाला खिलानेका भी मोह होता है। मिर्च-मसालामें कोई सुख थोड़ा है?

जो चीज जिसकी मर्यादाके विरुद्ध है, इसके विपरीत रखना, करना, यह भी मोह है। माने हम अपने मनकी कल्पनाको सर्वोपरि समझते हैं। यह भी मोह है। अरे! यह तो जादूगरीका खेल है। यह आँख क्या-का-क्या बताती है? कान, नाक, जीभ ये सब क्या-का-क्या दिखाते हैं? जहरको मीठा बता दे, ऐसी है यह जीभ। सबसे बड़ा मोह होता है संसारमें, 'जीनेका।'

कोई लाख समझावे आदमी यह समझता है। 'मोहो विनिर्जितो येन'—जिसने इस मोहको जीत लिया है। शास्त्रमें तीन

मोह बताये गये हैं, जिसका एक संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक समझता हूँ—

दुनियामें कोई-कोई ऐसे धन्यपुरुष होते हैं, जो दुनियाको ठीक-ठीक समझ लेते हैं। और बहुत दिन जीनेकी इच्छा, भोगनेकी इच्छा, दुनियाके बारेमें उनकी बहू-बेटी, देश-विदेश और उनके बारेमें विक्षेप बढ़ानेकी इच्छा। हम 'यह भी जान लें-वह भी जान लें।' दुनियादारीको जाननेकी इच्छा ! यह मोह होता है।

आप ईश्वरको जाननेकी इच्छासे इनकार कर सकते हैं, धर्म-शास्त्रको माननेसे इनकार कर सकते हैं, परन्तु कोई कहे, उसे पाँच रुपया मत दो, तो जरूर मान लेंगे। न देनेवाली बात जल्दी मान लेंगे। आपका ज्ञान, आपकी चालाकी, आपकी समझदारी, आपकी जानकारी झट उसमें मिल जायगी कि 'देना नहीं।' तब समझ लेना कि यह सचाईकी ओर कदम नहीं है, मोहकी ओर कदम है। और यह आपको कभी सुख न देगा। रुपया आपको कभी सुख नहीं देगा। उसका मोह आपको बहुत दुःख देगा। आज नहीं कल देगा, तुम्हारी पीढ़ीको नहीं, अगली पीढ़ीको देगा। परन्तु जरूर देगा। तनसे, मनसे, बुद्धिसे; जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिसे; अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय कोशसे जो मोह है, इसपर जिसने विजय प्राप्त कर लिया, अर्थात् उलटी बुद्धिको मिटा दिया और सीधी-सी बुद्धिको प्राप्त कर लिया, वह मुक्तिपदके योग्य हो जाता है।

**मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु।**
**यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥**

बंगलामें एक कृत्तिवासी रामायण है। हमको पहले बंगलाका अभ्यास था। अब भी थोड़ा पढ़ ही लेता हूँ कोई शास्त्रका प्रसंग देखना हुआ तो। मैंने वह सीखा कैसे था, यह भी आपको बता

देता हूँ। उन दिनों श्रीधरी टीकासहित बंगला लिपिमें पांच रुपयेमें आता था 'श्रीमद्भागवत'। पूरा महाभारत नीलकंठी टीका-सहित दस रुपयेमें आता था। उन दिनों नागरी लिपिमें बहुत मँहगा था। जब सुना कि यह सस्ता है, तो मैंने बंगला लिपि सीख ली और बंगला लिपिमें विष्णुपुराण विष्णुचित्ति टीकासहित अपनी पढ़ाईके खर्चमेंसे बचा-बचाकर खरीदता था।

कृत्तिवासी रामायणमें वर्णन है—'पहले वाल्मीकिजी रत्नाकर नामके एक डाकू थे और वे सब लोगोंको लूट लिया करते थे। एक दिन वहाँसे सप्तर्षि गुजरे, तो उनको भी कहा— जो भी तुम्हारा दण्ड-कमण्डलु है, वह यहीं रख दो। नहीं तो मारेंगे। वे बोले— 'बाबा! तू हमारा दण्ड-कमण्डलु सब ले ले! परन्तु तू यह बता कि हमको सतानेका, दुःख पहुँचानेका जो पाप होगा, वह तुमको लगेगा कि नहीं लगेगा?'

वह बोला—'हमको काहेको लगेगा। हमारे पत्नी, बच्चे, भाई सब हैं, तो पाप भी बँट जायगा! तब हमारा पाप हल्का हो जायगा।'

उन्होंने पूछा—'तूने मनसे यह अन्दाज कर लिया है, कि तुझे मालूम है?'

वह—'नहीं महाराज, यह बात बिलकुल सच्ची है कि जब हमारी लूटी हुई चीजें खाते हैं तो पापमें हिस्सेदार होंगे।'

वे बोले—'तुम उनसे पूछकर आओ।'

वह—'नहीं, तुम मुझे भुलावेमें मत डालो। मैं जाऊँगा तो तुम लोग भाग जाओगे।'

वे—'नहीं, तुम हमें पेड़से बाँध दो।'

उसने ऋषियोंको पेड़से बाँध दिया और जाकर अपनी पत्नीसे

पूछा—'हम जो पापकी कमाई लाते हैं उसमें तुम हिस्सेदार हो कि नहीं ?'

पत्नी—'तुम पति हो, मैं पत्नी हूँ। तुम्हारा यह कर्तव्य है कि पत्नीका पालन-पोषण करो ! हमें क्या मालूम कि तुम कहाँसे पैसे लाकर हमारा पालन-पोषण करते हो ? हम नहीं जानते। हम पापमें हिस्सेदार नहीं हैं, हम खानेमें हिस्सेदार हैं !' बेटेने भी ऐसे ही कहा। भाई, बूढ़े माँ-बापने भी ऐसे ही कहा। वह सोचने लगा—हे राम ! ये सब कमाईमें हिस्सेदार हैं, और पापमें हिस्सेदार नहीं हैं। 'तुम हमारे साथ नरकमें नहीं चलोगे ?' अब तो उसे बड़ा भारी निर्वेद हुआ। वह घबराया हुआ सप्तर्षियोंके पास आया। उनको पेड़में-से छोड़ दिया, उनके चरणोंमें गिरा। फिर उन ऋषियोंने उसको उपदेश किया।

उन्होंने कहा, अभी तो तेरे मुँहसे 'राम-राम' नहीं निकलता। 'राम-राम' बोल ! वह बोला—'हमारे मुँहसे 'राम-राम' नहीं निकलता।'

ऋषि—'अच्छा, 'मरा-मरा' बोल !' उलट दिया 'राम-राम' तो 'मरा-मरा'का 'राम-राम' हो गया। बालमीकिजीने बताया—'इसीसे हमारा कल्याण हुआ।' हम आपको यह बताते हैं कि—'देहदारसुतादिः षु।' पत्नी है, पुत्र है, सगे-सम्बन्धी हैं, ये तुम्हारी कमाईमें तो हकदार हैं। उनके लिए कितना झूठ-छल कपट, बेईमानी करनी पड़ती है, कितना दूसरोंके साथ अन्याय करना पड़ता है ! परन्तु ये तुम्हारे पापमें भागीदार नहीं हैं। असलमें पाप तो कर्ताको पकड़ता है। पापका यह स्वभाव है। 'हमने अपने पापका दान किया।' भक्ति-सिद्धान्तमें कहीं-कहीं यह बात सुननेको मिलती है। जिन लोगोंने पापका दान किया,

उनका तो पाप बढ़ जायगा। पुण्यका दान; तो पुण्य बढ़ता है, रुपयेका दान तो रुपया बढ़ता है। पापका दान; तो पाप बढ़ता है। ये जो संस्कारी, हिस्सेदार लोग हैं, वे तुम्हारे धनके हिस्सेदार हैं, पापके नहीं। यह मोह ही है। इसीमें तुम डूब रहे हो! गर्क हो रहे हो! यह महामृत्यु है। जिसने इस मोहपर विजय प्राप्त कर ली, उसे आत्मा-परमात्माका ज्ञान होता है।'

जो लोग कहते हैं कि तुम मोह करते रहो, और हम तुम्हें परमात्माको मिला देते हैं—अरे, एक पन्थ ऐसा चला था, आप लोगोंने नाम सुना होगा कि नहीं सुना होगा, रूसमें निकला था। जारशाहीके समयमें था। वह कहता था, तुम पाप करो। मैं तुम्हें मुक्ति दूँगा। जैसे ईसा कहते थे न? 'तुम हमारी शरणमें आओ, हम शान्ति देंगे।' वैसे यह पन्थ बोलता था। जारशाहीका अन्त हुआ तब उसका भी मारपीटकर अन्त कर दिया। उसे फाँसी लगायी गयी।

आप लोग यदि मोहपर विजय प्राप्त नहीं करते हैं, और चाहते हैं कि 'विष्णुपद' प्राप्त हो जाय,' 'पहले महन्त होंगे, फिर ज्ञान प्राप्त होगा'—तो ऐसे सब दुहरा काम नहीं चलता। विष्णुका परमपद प्राप्त करनेके लिए पहले मोहका त्याग आवश्यक है।

## : ३६ :

१२-७-७८

जब ज्ञानका निरूपण करते हैं तो उसके मुकाबलेमें जो लड़ाई करनेवाला पहलवान होता है, उसका नाम 'अज्ञान', 'भ्रम', 'मोह' होता है। ज्ञान बुद्धिमें उदय होता है और बुद्धिमें जो खराबी होती है उसे दूर करता है। यदि अज्ञान बुद्धिमें दोषरूप न होता तो उसमें पैदा होकर ज्ञानरूप गुण उसको निवृत्त नहीं करता। संसारी लोग दुःखी क्यों हैं? भ्रमसे!

वेदान्ती लोग अपनी परिभाषामें इसे 'अध्यास' बोलते हैं। इसके लिए 'मोह' शब्दका प्रयोग ज्यादा मिलता है। मोह, महा-मोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र। योगदर्शनमें इसे 'अविद्या' और सांख्यदर्शनमें इसे 'अविवेक' कहते हैं, क्योंकि इसमें दोमें-से एकको चुनना होता है न? मूल बात यह है कि हमारे जीवनमें जितनी भी खराबियाँ हैं, गलतियाँ हैं, दुःखी होनेके कारण हैं, वे सब हमारी समझमें ही रहती हैं। माने हमारी समझके ही दोष हैं।

जो लोग समझते हैं कि खराबी दूसरी चीजमें है, वे उसे अच्छी बनानेमें फँस जाते हैं। कोई-कोई बोलते हैं, 'भाई, आखिर

ईश्वरने धतूरका बीज बनाया है, तो उसमें कुछ-न-कुछ गुण होगा। आओ, उसकी दवा करें। कैसे-कैसे उसे घोंटना, यह सब है।

जो लोग किसीकी क्रियामें गुण समझते हैं कि इसके काम ऐसे-ऐसे बदल जायँ, तो ठीक हो जायँ। जो लोग भावमें गलती समझते हैं, वे भावको बदलनेकी कोशिश करते हैं। जो स्थितिमें गलती समझते हैं वे स्थितिको बदलनेकी कोशिश करते हैं। यहाँतक तो वेदान्त-विचार चुप रहता है।

वस्तु बदलना, यह साइन्सका, आयुर्वेदका काम है। क्रिया बदलनेमें धर्मका भाव, उपासनाका काम है। स्थिति बदलनेमें योगका काम है। तो असलमें हमारा दुश्मन कौन है? यह पहचान जबतक नहीं होगी, कि यह अज्ञान है, भ्रम है; मोह है या प्रमाद है; जैन लोग 'प्रमाद' बोलते हैं, योगसिद्धान्तमें 'अविद्या' और सांख्यसिद्धान्तमें 'अविवेक'। न्यायदर्शनमें इसे 'मिथ्याज्ञान' शब्दसे वर्णन करते हैं।

जबतक मनुष्यको यह मालूम नहीं पड़ता है कि 'दुःखमें हमें दुःख, भय, शोक हो रहा है, इसका मूल कहीं और नहीं हमारी भूलमें ही है।' जबतक यह समझ नहीं आती तबतक वेदान्तका अधिकार ही नहीं बनता है। तबतक वह आदमी वेदान्तका सच्चा अधिकारी बना ही नहीं। जिसकी समझमें यह बात बैठ जाय कि 'हमारे भ्रम, मोह और भूलसे यह दुःख हो रहा है, वहाँ-तक न स्थिति बनानेके लिए, न भाव बनानेके लिए है। धर्म वस्तु सुधारनेके लिए है। वह तो जैसे सूर्योदय होता है, तो सूर्य किसी वस्तुका निर्माण नहीं करता, आँखके सामने जो अँधेरा है, वह मिट जाता है और चीज जैसी है वैसी दिख जाती है। तो वेदान्त-का काम भ्रम मिटानेके लिए ज्ञानरूप सूर्यका काम देता है।

अब देखिये, आपको कितनी बार हार माननी पड़ी है, उनमें-से एक बात सुनाता हूँ। एक सज्जन बीकानेरसे पैदल चलकर वृन्दावन आये। बड़ी-बड़ी दाढ़ी और बाल और कैसे-कैसे कपड़े और क्या! मैंने पूछा—'भाई! इतना लम्बा तुम पैदल चलकर आये, क्या प्रयोजन है?

वह क्षत्रिय था। उसने कहा—'मेरी पत्नी व्यभिचारिणी है। हम उससे छूटना चाहते हैं।'

मैंने कहा—'तुम्हें बहम हो गया होगा। वह तो बेचारी ठीक होगी। लोग तुम्हें बर्गलाते होंगे!'

वह बोला—'नहीं, हमने अपनी आँखसे सब कुछ देख लिया है। हमें कुछ शंका नहीं है, निश्चय है।'

मैंने कहा—'अच्छा! तुम्हें निश्चय है? तो तुम उसे छोड़ दो।' दूसरी बात उन्होंने यह कही कि—'महाराज! छोड़ेंगे तो बच्चे छोटे-छोटे हैं। उनका पालन-पोषण कौन करेगा?' 'और किसीको रख लो! नौकरानी रख लो!' तो वे बोले—'मैं कैसे रहूँगा? यह कैसे होगा?'

मैंने बताया—'तुम ब्रह्मचर्यसे रहना।'

वह—'हम ब्रह्मचर्यसे तो रह नहीं सकते।'

मैं—'दूसरा ब्याह कर लो।'

वह—'वह भी नहीं करेंगे।' पत्नी है उसे छोड़ भी नहीं सकते। दूसरा ब्याह भी नहीं कर सकते, ब्रह्मचर्यसे रह नहीं सकते। अब बताइये आप?'

मैंने कहा—'गाँवके बाहर, खेतके पास तुम अपनी कुटिया बना लो! रात-दिन वहाँ रहा करो! और अपने लिए घरसे खाना मँगा लिया करो!'

वह—'सो तो ठीक महाराज ! परन्तु मैं ब्रह्मचर्यसे नहीं रह सकता ।'

मैं—'अब बताइये ! छोड़ भी नहीं सकते तो क्या करें ?'

वह—'महाराज ! उसे सुधार लो !'

मैं—'तुम अपनी बुद्धिको क्यों नहीं सुधार लेते ? या तो जो दुःख देता है उसे छोड़ दो या अपनी बुद्धि खो दो ! या तो जो दुःख देता है उसे सह लो, या उस बुद्धिको छोड़ दो जिससे सुख-दुःख मालूम ही न पड़े । वास्तवमें मनुष्यका भ्रम इतना बड़ा है कि वह दुःखको नहीं छोड़ना चाहता । मोह है, भ्रम है ।

एक सज्जन हैं । उनका बेटा निकला चोर ! वे अहमदाबादमें रहते थे और उम्मीद करते थे कि हमारा बेटा ज्ञानी होगा, भगत होगा, योगी होगा, वैज्ञानिक होगा, और वह निकला चोर ! तब उन्होंने उसे घरसे बाहर निकाल दिया और अखबारमें छपवा दिया—'इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है ।' वह लड़का भागकर आया बम्बईमें । उसने अपने लिए ले लिया कमरा । बीचमें पार्टीशनवाला कमरा उसे मिला । पार्टीशनके दूसरी तरफ जो रहता था, वह एक दिन घरमें नहीं था । उस दिन उसके घरमें घुसकर उसका सब कुछ निकालकर वह भाग गया । अब वारंट निकला, पुलिस आयी । उस लड़केके बापजी वहाँसे-दो-तीन सौ मीलसे आये मेरे पास और बोले—'स्वामीजी ! बचाओ और ऐसा आशीर्वाद दो कि वह छूट जाय ।'

मैंने क्या कहा—'अरे भाई ! तुमने तो बेटेको तलाक दे दिया, अदालती कार्रवाई की, अखबारमें छपवा दिया, घरसे निकाल दिया, वह अब तुम्हारा बेटा काहेका ?'

वह बोला—'नहीं महाराज !' कुछ भी हो, अपना खून जो उसमें है न ? 'लो ! अब छुड़ाओ चोर !'

जहाँतक आशीर्वादवाला काम है, उसमें तो मैं कंजूसी नहीं करता। परन्तु जब वे कहें कि 'हमारी सिफारिश कर दो', तो हमने पहलेसे उन लोगोंको कह रखा है कि 'हम सिफारिश करें तो उसपर ज्यादा ध्यान नहीं देना।' तो, उनके लिए हमने सिफारिश कर दी। हमारे आशीर्वादपर तो उन्हें विश्वास ही नहीं है। यह है। ब्रह्मास्त्रपर उसका विश्वास नहीं है, रस्सीपर है। न साधु मानें न भगवान् मानें। इसका नाम है मोह। बेटेको चोर समझते हुए भी हम उसके पक्षपातसे ग्रस्त हैं। राजनीतिक अफसर और नेताको तो हम गाली देते हैं कि 'यह भाई-भतीजाका पक्षपात करता है।' हम इस बातका नारा लगाते हैं और अपने घरमें हम कितना अपने भाई-भतीजेका पक्षपात करते हैं। इसपर भी तो ध्यान दो! इसीको 'मोह' बोलते हैं।

यहाँ दो बात कही गयी—मोह महामृत्यु है। वह दूसरेको जिन्दा रखना चाहता है और खुद मर जाता है। परन्तु दूसरेको माने सबको नहीं! अपने दिलके टुकड़ेको! लोग कहते हैं, बेटा क्या है। एक सज्जनने सुनाया था, 'बेटा तो महाराज! हृत्पिण्ड है! हमारे दिलका टुकड़ा है।'

एक माताजी थीं, वह अपने बेटेको, अपनी बेटीको और उनकी सन्तान सबको बहुत प्रेम करती थीं। परन्तु बहूपर उसे विश्वास नहीं था। वह कहती थीं, 'यह तो पराया खून है, इसपर विश्वास नहीं कर सकते।' बेटेके बेटेसे, बेटीके बेटेसे बहुत प्रेम। दुनियामें ऐसे होता है। बहू कभी-कभी बेटेसे ज्यादा होती है, बेटीसे ज्यादा होती है, अपना आत्मा होकर रहती है, यह बात तो उनके ध्यानमें आती ही नहीं थी।

जरा मोहपर ध्यान देकर देखो, हम कहाँ फँसे हैं? आपको शास्त्रीय बात इसलिए सुनाते हैं कि मोहकी निवृत्ति दवासे नहीं

होती है; नशा आ जायगा ! थोड़ी देरके लिए भूल जायेंगे कि अपना है कि पराया है, लेकिन मोह ! नशेसे या क्रियासे टूटा हुआ मोह भी स्थायीरूपसे नहीं टूटेगा। क्यों ? अरे ! यह तो हमने ही वैसा काम करके मोहको थोड़ी देरके लिए कम किया था, यह खयाल रहेगा। भावनापर भावना लादनेसे भी भावना टूटती नहीं, दब जाती है। स्थिति होनेपर थोड़ी देर मोह शान्त हो जाता है, फिर उठता है। मोहको मिटानेके लिए चाहिए तत्त्वज्ञान।

ज्ञानके विरुद्ध अन्तःकरणमें जो मान्यताएँ हैं, इन मान्यताओंको वह मिटा देता है। 'मोहम् जहि' माने इस मोहरूप महामृत्युको मार डालो।

एक दूसरी बात आपको सुनाते हैं। संस्कृत भाषामें मन्त्र बहुत होते हैं न ? एक मन्त्र ऐसा आता है जिसमें देवताको 'मृत्युका मृत्यु' कहा गया है नरसिंह भगवान्का मन्त्र है। उसमें 'मृत्योर्मृत्युम् नमाम्यहम्'—हम मौतकी मौतको नमस्कार करते हैं। नृ माने नर और नृसिंह माने जो मनुष्योंमें शूर है, वीर है, प्रभावशाली शूरवीर है। हम तुम्हें 'नृसिंह' कब समझेंगे। जब तुम मनुष्योंमें शेर हो ! कब होगे तुम ? जब तुम मौतको मार डालो तब 'नृसिंह'।

मौत कहाँ मिलेगी कि उसको मारें ? यह अध्यात्मका रास्ता 'में-में, पें-पें' करनेवालोंके लिए नहीं है। मे-मे-मे-मे का अर्थ संस्कृतमें होता है 'मेरा'। 'मे-मे' इति कुर्वाणम् 'कालवृको हन्ति पुरुषम्'। मे-मे ! अपनेको बड़ा भारी पुरुष समझते हैं ! ये दूसरेका फर्ज तो बहुत समझते हैं, लेकिन अपना फर्ज न समझें अर्थात् उसका नाम है बड़ा पुरुष, बड़े आदमी ! यह तो समझे कि 'स्वामीजीका फर्ज है उपदेश करना। वे डंडा लेकर खड़े हैं कि

स्वामीजीको उपदेश करना पड़ेगा। परन्तु स्वामीजीको रोटी देना हमारा फर्ज है, यह कभी न याद आवे, उसका नाम क्या? बड़ा आदमी!' तो भाई! तुम्हारे भीतर एक मोह है मोह।

वैसे तो मैंने कई बार प्रेमकुटीरमें यह बात सुनायी होगी। एक उत्तरप्रदेशका कोई गरीब विचारा कंजूस था। एक दिन उसे रुपया भुनानेकी जरूरत पड़ी। बाजारमेंसे रुपयेका पैसा लेना था। एक-दो पैसेकी चीज खरीदनी थी। रुपया तुड़वाना था। जब वह रुपया लेकर चला हाथमें, तो हाथमें पसीना हो गया! उसने देखा कि—'भाई! तुम रो रहे हो' हमारे पाससे दूसरी दुकानमें जानेमें तुम्हें रुलाई आ रही है! फिर?

**मैं मरि जैहौं, तोहे ना भुजैहों।**
**तोहरा के देखि-देखि जियरा बुझैहौं॥**

मैं मर जाऊँगा, परन्तु तुम्हें भुनाऊँगा नहीं। और तुम्हें देख-देखकर खुश होऊँगा, अपने हृदयको शान्ति दूँगा!' देखिये! मोह रुपयेमें है कि रुपयेवालेमें है? मोह दूर करना है तो रुपयेमें-से कि अपने दिलमें-से? क्या करें महाराज! रुपया तो छोड़ता ही नहीं! मानो, तुम तो रुपयेसे बिलकुल मोह नहीं करते, रुपयेने ही तुम्हें पकड़ रखा है दोष है तो उसीका।

तुम तो नृसिंह हो! माने मनुष्यका मनुष्यशिरोमणि कब हो? इस महामृत्यु-शत्रुको तुम मार डालो! मोह दूसरेमें नहीं होता। ऐसा नियम नहीं होता। मोह दूसरेमें भी होता है, परन्तु दूसरेमें तो वैसा होता है, जैसे पूँछमें मोह हो। दूसरोंको हम जो मोहकी दृष्टिसे देखते हैं, उसमें अपने शरीरका ही कारण होता है। ज्यादा करके अपने शरीरसे ही मोह होता है।

इस वेदान्तके मार्गमें सबसे बड़ा शत्रु कौन होता है? शैव-शास्त्रमें तो कहा गया है कि बहुत लोगोंको तो ऐसा मोह होता

है कि नहाते-नहाते उनकी जिन्दगी पक जाती है, देहको साफ करनेमें लग जाते हैं। देह तो साफ होती नहीं, भीतरसे पसीना रोज निकल आवे ! तो इसमें कोई रोग न हो, यह चिन्ता रहती है। आप कभी भी डॉक्टरको बताइये, वह एक विटामिनकी कमी बतायेगा और एक इन्जेक्शन लगाकर दवा लिख देगा। आपके शरीरमें विटामिन 'इ' की जरूरत है। ये आपको छोड़ेंगे नहीं।

अच्छा, आप ज्योतिषीको पूछ लो। मैं ज्योतिषीके वंशका हूँ। हमारे बापदादा-परदादा, हमारी जानकारीमें आठ पीढ़ी उसके पहले रही हो तो मालूम नहीं। कोई ऐसा आदमी नहीं होता जिसका किसी दिन, किसी घड़ी, किसी मिनट और किसी सेकेन्डमें जन्म हुआ है और दो-तीन ग्रह उसके खराब न हों। यह बात मैं अच्छी तरहसे जानता हूँ। नव ग्रह हैं, उनमें-से बहुत हुआ तो छह अच्छे हो जायेंगे, सात हो जायेंगे परन्तु कम-से-कम एक दो तो जरूर खराब होंगे। आप किसी भी ज्योतिषिसे जाकर पूछिये तो और नहीं तो वह चन्द्रमाका नाम लेकर बतावेगा कि तुम्हारा चन्द्रमा खराब है। यह चन्द्रमा ऐसा ग्रह है कि महीने भरमें—सवा दो का चार गुना कर दो तो नव होगा। महीनेभरमें नव दिन हर हालतमें, हर आदमीको खराब रहता है। कोई बचेगा नहीं। चौथे, आठवें और बारहवें होगा, छठे होगा। किसी दिन चिन्ता उत्पन्न कर देगा, खर्च करानेवाला होगा। मित्रोंसे झगड़ा करानेवाला होगा।

अब बताइये आप कि जब ज्योतिषीके पास जायेंगे, एक राहु, एक केतु है दोनों परस्पर एक दूसरेको देखते रहते हैं ! आप क्या सोचते हैं ? ओझाके पास जाओ तो वह भूत बता देगा, ज्योतिषीके पास जाओ तो वह ग्रह बता देगा और डॉक्टरके पास जाओ तो वह विटामिनकी कमी बता देगा।

इस दुनियामें आप कभी इससे बच नहीं सकते और जो इसके चक्करमें पड़ गया ! हमारे एक मित्र थे। वे कहते थे, कि यह दवा करनेका जो अभ्यास है, वह भी एक रोग है। आदमीके मनमें महत्त्वबुद्धि हो गयी है देहमें। दिनभर जबतक चार पुड़िया या गोली खाये नहीं, तबतक मनको सन्तोष नहीं। मोहकी बात आपको सुनाते हैं।

सन् १९४२ में मैं जबलपुर गया था कोई तकलीफ हुई तो वहांके सबसे बड़े डाक्टर हैं—डा० विराट ! वे आये ! उन्होंने कहा—'स्वामीजी ! आप अपना वज़न घटाइये।' वे बोले—यदि आप खाना कम कर देंगे, इससे तो आपको बड़ी तकलीफ होगी, क्योंकि आपके पेटको वजन उठानेकी जो आदत पड़ गयी है ! जब-तक आपके पेटकी आंतोंपर सेर-डेढ़ सेर वजन नहीं पड़ेगा, तबतक आपको सन्तोष नहीं होगा कि मैंने खाया है ! तो आप सलाद, सब्जी-पत्ते पहले खा लो ! इसके बाद थोड़ी-सी रोटी-दाल खाओ ! क्योंकि वजन नहीं लादोगे पेटपर क्योंकि पेटको आदत पड़ी है वजन लेनेकी तो वह बार-बार कहेगा, 'भूख लगी है। जिस आदमीको दवा लेनेकी आदत पड़ी है वह बोलता है, 'थोड़ी ताकत-स्फूर्ति आ जायगी।'

हमारे एक मित्र थे गोरखपुरमें। उनके तो संजीवनी और आरोग्य-वर्द्धिनी, महालक्ष्मी-विलास—ये तो उनके पास बगलमें रखी रहती थीं। बीच-बीचमें काम करते समय चूरनकी तरह ले लेते थे।

अपनी आदत मत बिगाड़ो। महामोह ! वस्तुके साथ, रिश्ते-दारके साथ, शरीरके साथ महामोह ! कहांसे आया है यह महा-मोह शरीरके कारण इतने दिन जीकर तुमने दुनियामें जो काम किया है वह रोशन है। थोड़े दिन और जी जाओगे तो उससे

क्या ? यह है व्यामोह ! ज्यादा जीनेका मोह ! ज्यादा जीयेंगे तो हम अपनेपर उपकार करेंगे कि दूसरेपर ? अपना काम बनावेंगे कि दूसरेका ? यह अधिक दीर्घायुष्यका जो व्यामोह है, वह किसके लिए ? बेटेके लिए कमा कर रखना चाहते हैं ? वह बेवकूफ, अभागा, बदकिस्मत होगा। अपने आप कमाई नहीं कर सकता होगा। उसके बारेमें आपका यही खयाल होगा कि हम कमाकर रख जायँ तो वह ठीक होगा ! अरे, ठीक तो क्या होगा, उसको तो तुम बिगाड़ रहे हो ! उसको तो तुम परिश्रमी बनाओ, तब उसका कल्याण होगा।

यह मोह बहुत बड़ी मृत्यु है। इससे बचनेका उपाय क्या है ?

**यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥**

अहम् एतत् न। यह देह क्या ? देह माने एक ऐसी पुड़िया जिसमें तरह-तरहकी चीज मिलाकर उसे चामसे बाँध दी गयी है। एक आदमी उड़िया बाबाजी महाराजके पास आया। अभी वह जिन्दा है, और बम्बईका ही है उसने पूछा—'महाराज ! हमारे मनमें काम बहुत आता है।'

उन्होंने कहा—'बेटा ! जब तुम्हारे सामने कोई सुन्दर स्त्री आवे, तो उसके ऊपर जो चाम है, उसे मन-ही-मन हटा लो।'

यह बात, जो नये वेदान्ती निकले हैं, उनकी समझमें आनेवाली नहीं है। अपनेको वेदान्ती बोलते हैं। वेदान्त थोड़े ही जानते हैं ? बाबा बोले—'चाम हटा दिया तो भीतर क्या है ? खून, मांस, हड्डी, पीव, विष्ठा, मूत्र है। अब करो काम ? होगा काम ? यह तो ऊपरका है।'

एक श्रीमतीजी सौदा करने गयीं। व्यापारीने दिखाया तब वह बोलीं—'यह पसन्द नहीं है।' व्यापारीने कहा—'अच्छा, मैं भीतरसे निकालकर लाता हूँ।' फिर वही चीज बढ़िया केसमें

रखकर ले आया और दाम बताया दुगुना। तब वह बोलीं—'हाँ, अब यह ठीक है।'

हम किसका आदर करते हैं? वस्तुको नहीं पहचानते। इस चामकी पुड़ियामें क्या रखा है! इसमें क्या खून चाटने लायक है। पीव पीने लायक है। हड्डी चबाने लायक है! विष्ठा-मूत्र किसी कामके हैं? अरे भाई! ज्ञानकी नजरसे जरा देखो।

बाबाने कहा—'जहाँ तुमने ऊपरके चामसे अपनी नजरको हटाया वहाँ कामकी दृष्टि नष्ट हुई।'

एक हँसी-खेलकी बात सुनाता हूँ। आप हँसना मत। सच्ची घटना मैं सुना रहा हूँ। हँसनेके लिए नहीं। एक महत्त्मा थे। हम लोग उनका दर्शन, सत्संग करनेके लिए जाते थे। वे ग्यारह वर्ष तो ऐसी गुफामें रहे, जहाँ सूर्यका दर्शन नहीं होता था और उनके गुरुजी लाकर उन्हें खिलाते थे। टट्टी-लघुशंका भी वहीं करवाकर फेंक आते थे। गुरुजीने उनको ग्यारह वर्षतक सूर्यका दर्शन किये बिना वहीं रखा गुफामें। वह गुफा कटनीके पास है। उसको बेलौरकी गुफा बोलते हैं। वहीं वे रहते थे। जब गुरुजीने उनको छोड़ा कि 'अब तुम्हारी जहाँ मरजी हो वहाँ जाओ!' तो वे गये पंजाबमें। कमरमें एक लंगोटी लगाते थे, और कोई कपड़ा नहीं पहनते थे। ग्यारह वर्षतक गुफामें रहनेसे उनके शरीरमें चमक आगयी।

एक स्त्रीने उनसे कहा—'आप हमारे घरमें भोजन करने पधारिये।' मान लिया उन्होंने। वहाँ जाकर देखा तो घरमें कोई नहीं। भोजन तो तैयार था। उस स्त्रीने भोजन कराया, बादमें उसने किवाड़ी बन्द कर ली कि आराम करके जाइये। वे तो लेट गये चारपाईपर। अब वह आकर पासमें बैठ गयी। गपशप होने लगी। जब उस स्त्रीने अपना बुरा भाव प्रकट किया तो वे

बोले—'अच्छा ठीक है। जो तुम्हारा भाव है, उसे हम पूरा करेंगे। मना नहीं करेगे। हमको एक गिलास पानी पिलाओ।'

वह पानी लेने गयी। इसके बीचमें उन्होंने टट्टी हो लिया। वे तो कहते थे, उस स्त्रीने उनको पिस्तौल भी दिखाया और कहा—'मारेंगे' शोर मचायेंगे। गाँवके लोग आवेंगे।' सब कुछ कर लिया था उसने। जब वह पानी लेने गयी तो उन्होंने टट्टी करके अपने शरीरपर लगा ली। जब वह पानी लेकर आयी तो बोले—'अब तू चिल्ला। अब तेरी हिम्मत हो तो मचा शोर! वह तो घिनघिना गयी! पानी उसके हाथमें-से गिर गया। वह तो भगी और बोली—'बाबा, जा यहाँसे!' वे बोले—'जाऊँ कैसे? शोर मचा!'

वे मधईपुरके बाबा थे। 'अविनाशी' उनका नाम था। हम उनका सत्संग करने जाते थे। उन्होंने अपने जीवनकी यह बात हमें सुनायी थी। अपने जिस देहसे हम मोह करते हैं, इस देहके भीतर यही सब भरा है।

विष्ठा, मूत्र, पीवका एक गड्ढा है। इस गड्ढेमें हम खेल रहे हैं कि इसमें बड़ा सुख है। मोह है न? पहली बात है—'अहम् एतत् न।' मैं इस हड्डी, मांस-चामका बना हुआ यह शरीर नहीं हूँ। इसके सम्बन्धी मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। देखो, इस देहका रुपया मेरा रुपया नहीं है। यह छोड़ना मुश्किल है। इस देहके रिश्तेदार मेरे नहीं हैं। यह 'ममता' छूटना मुश्किल है।

'अहंता' तो मिनटोंमें छूट जायगी। लोग आजकल बड़े-बड़े साधन-भजन करते हैं, बड़ी-बड़ी 'उत्थान-कम्पनी' खुली है। आप लोग बुरा मत मानना। वे लोग क्या सिखाते हैं, 'तुम देहमें-से मैं को हटाकर कहीं भी बैठ जाओ, परन्तु जो 'मेरा' है, उसमें परिवर्तन करनेकी जरूरत नहीं है।' इसका फल यह होता है कि

'मेराके' साथ तो दिल बँधा रहता है। रस्सीके साथ पहले तो बाँध देते हैं। 'यह मेरा रुपया, यह मेरा मकान' रिश्ता-नाता! इसके बाद क्या करते हैं? देहमें-से मैं हटाकर छतपर बैठते हैं।

मैं यह प्रामाणिक—अनुभवकी बात करता हूँ। पहले पूछ लो हमसे। जिसका दुनियामें-से 'मेरापन' नहीं छूटेगा, उसका देहमें-से 'मैं-पना' नहीं छूटेगा। 'मेरा' की रस्सी गलेमें लगी रहेगी। वह आपको देहमें रखेगी। 'मेरा' की अशुद्धि और 'अहम्' इन दोनों-में फरक है। अन्तःकरणकी अशुद्धि है ममता और बुद्धिकी अशुद्धि है अहम्। इन दोनोंको मिलाकर मोह बनता है। मोह माने ममता और अहंता। बाहरकी चीजोंसे अपने मनको बाँधकर भीतर बैठ गये। कहाँ बैठे? यह सिर सीधा हुआ और पीठकी रीढ़ सीधी हुई। आराम कुर्सीका सहारा लिया और बोले—'मैं देह नहीं हूँ।'

भले मानुष! तुम्हारे गाँवमें कोई सन्त नहीं है या तुमने कभी सन्तोंकी सेवा और सत्संग नहीं किया है। पहले ममता छूटती है, तब अहंता छूटती है। किसीने कहा, पहले हम अहम् छोड़ेंगे, फिर मम छोड़ेंगे। यह बात कभी हो नहीं सकती। हरगिज हो नहीं सकती। आप वर्णाश्रम-व्यवस्थाका रहस्य नहीं जानते। जब मैं और मेरा दोनों देहमें-से निकलेगा तब बैठेगा कहाँ? जब परिच्छिन्नमें-से निकलेगा तब व्यापकमें बैठेगा।

**यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥** (८८ उत्तरार्ध)

**तद् विष्णोः परमं पदं सदाप्रकृतिसूरयः दिवीव चक्षुराततम्**

( ऋग्वेद १.२२.२० )

जैसे आकाशके पीछे सूर्यकी रोशनी है, वैसे आकाशके पीछे आपकी रोशनी है। उसमें आकाश दिखाई पड़ता है। आप आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे मिट्टी, मिट्टीसे बना हुआ शरीर—उसमें बैठे हुए हैं? नहीं। आपको आकाशमें

जैसे सूर्यकी रोशनी दिखती है वैसे आपको आकाशके भी पीछे जो प्रकाश, ज्ञान, आत्मा है, उसकी रोशनीमें आकाश दीखता है।

संस्कृत भाषामें चिदाकाशको ही विष्णुपद बोलते हैं। एक भूताकाश, एक चित्ताकाश, एक चिदाकाश। तब आप अपनेको ब्रह्मरूपमें अनुभव करेंगे। पहले छूटेगा मेरा, फिर छूटेगा देहमें-से 'मैं', देहमें मैं अर्थात् हड्डी-मांस-चाममें 'मैं' नहीं, मनमें भी मैं नहीं।

ऐसे जनम-समूह सिराने—किसीकी देह धोते-धोते, तो किसीको मन धोते-धोते जिन्दगी बीत गयी। वे बोलते हैं—'कारण शरीरमें बैठे हैं। वह भी कोई मिट्टीका ढेला हो और कारण शरीरमें बैठा हो! इससे तो हम पहचानते हैं कि 'यह हमारे औप-निषद सिद्धान्तको पहचानता है कि नहीं?' जो लोग कारण-शरीरको वस्तु मानते हैं,—वे तो वेदान्तको जानते ही नहीं है।

वेदान्तमें अविद्या ही कारण-शरीर है। वह न सती है न असती है। न भाव है न अभाव है।

**सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो॥ (१०९)**

न उभयात्मक है, न स्थूल है, न सूक्ष्म है। कारण शरीर कोई वस्तु नहीं है। वह केवल भ्रम माने अज्ञान है। हम कारण-शरीरमें बैठे हैं, यानी वह कोई वस्तु है। स्थूलमें-से सूक्ष्ममें और सूक्ष्ममें-से कारणमें पहुँच गये हैं—'वे सब फालतू बातें हैं और उपनिषद्-सिद्धान्तसे बिलकुल अलग हैं! ये तो पन्थाई लोगोंकी बातें हैं!

वास्तविकता यह है कि पहले 'देहमें मेरापन'से 'मेरापन' छूटा और फिर परिच्छिन्नमें-से 'मैं-पना' छूटा। परिच्छिन्नका आत्मरूपमें अनुभव हुआ, तब फिर अपनी अद्वितीयता, परिपूर्णता, अपरिच्छिन्नतामें दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

●

## : ४० :

१३–७–७५

**मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।**
**यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ( ८६ )**

ये कहते हैं, मोहपर विजय प्राप्त करो । मोहको मार डालो । बहुत सारे दुःख अपने जीवनमें—बहुत सारे क्यों, सब-के-सब मोहके कारण हैं । मोह माने ज्ञानकी विपरीतता । यह जो चित्त है, वह विपरीत हो गया है । ज्ञान जब किसी वस्तुके साथ टकरा-कर लौटता है, तो वह ज्यों-का-त्यों नहीं लौटता । यह उसका स्वभाव ही है ।

शीशेमें हमने गौरसे देखा; हमारी बायीं बाँह शीशेमें दाहिनी मालूम पड़ती है और दाहिनी बायीं मालूम पड़ती है । आप लोग

शीशा रोज देखते होंगे। यह तो आपको मालूम पड़ता ही होगा। शीशेमें बायीं बाँह दाहिनी होती है। यदि किसी शरीरमें दाहिना हाथ आधा हो, तो शीशेमें देखेंगे तो बायाँ हाथ आधा दिखाई पड़ेगा। यह क्या हुआ? आँखमें-से जो ज्ञान निकला, वह शीशेमें टकराकर लौटा तो उलटा हो गया। पूरब मुँह था वह पश्चिम मुँह हो गया। दाहिना बायाँ हो गया और बायाँ दाहिना। आँख भी किसीकी कानी और ऐंचाताना हो तो बायीं आँख दाहिनी और दाहिनी बायीं दिखेगी।

ज्ञान जब किसी विषयके साथ टकराकर लौटता है तो उलटकर लौटता है। यह जो हमारी बुद्धि, हमारा ज्ञान विषयके साथ जाकर टकराता है, वह चित्तकी विपरीतता होती है। देखनेवाला चित्त दिखनेवाला चित्त बन जाता है। इसलिए उसमें जो आत्मप्रकाश है, वह ज्ञात नहीं होता। बड़ी अद्भुत है यह लीला।

मोह कहाँ हुआ? मोह यही हुआ कि दाहिने-बायेंका विवेक छूट गया। शीशेमें अपने आपको देखने लगे। तब बायेंका विवेक छूट गया। प्रत्यक्-पराक्का विवेक छूट गया। 'मैं' 'यह' के रूपमें दिखने लगा। प्रत्यक्-पराक्का विवेक छूट जानेको ही संस्कृत भाषामें मोह कहते हैं। 'मैं' का 'यह' मालूम पड़ना।

आपने कभी देखा होगा, छोटा अनजान बच्चा शीशेमें देखता हो और शीशेमें दिखनेवाले बच्चेको घूँसा या चपत मारनेकी कोशिश करता है। वह शीशा देखनेवाला बच्चा रोवेगा। वह यही समझेगा कि हमको मार रहे हैं। वैसे तमाशे-खेल बचपनमें किये हैं। शीशेमें घूँसा तानते हैं और बच्चा बड़े जोरसे चिल्ला उठता है। मोहका अर्थ यही होता है—'मैं' को 'यह' समझना और 'यह'-को मैं समझना। संस्कृतमें इसीको 'अध्यास' बोलते हैं। मारना

क्या है ? बुद्धिमें भ्रम है, उसको मारना है, मोहको मारने दो, मरता है तो मरने दो। मोहके मरनेसे हमें क्या होगा ?

शीशेमें हम दिखते हैं तो शीशा फूटनेसे हम थोड़े ही मरेंगे या फूटेंगे ? शीशा फूटनेसे हम नहीं छूटेंगे। ये तो सब शीशे हैं। शीशा फूटनेसे हम नहीं फूटेंगे, वैसे ही मन-बुद्धि, शरीर फूटनेसे भी हम नहीं फूटेंगे। ये सब शीशे हैं जिनमें 'मैं' की परछाईं दिखती है।

**पलटू हम मरते नहीं, साधू करो विचार।**
**साधू करो विचार, हम हैं करता के करता ॥**

असलमें मृत्यु मृत्यु नहीं है, मोह मृत्यु है। मृत्यु तो शरीरकी मालूम पड़ती है। मोह तो ज्ञानकी, बुद्धिको मृत्यु है। मोहं जहि महामृत्युम् मृत्यु और महामृत्यु-शरीरकी मृत्यु, मृत्यु है और बुद्धि-की मृत्यु महामृत्यु है। 'जहि' का अर्थ है मार डालो, छोड़ दो नहीं। 'छोड़ दो' अर्थ तो बिलकुल गलत है। मोहको मार दो तो कैसे मारेंगे ? आओ; पहले उस मौतकी तलाश करें और वह मौत मिल जाय तो उसपर तलवार चलावें, उसे मार डालें। पहले मौत मिले तो सही ! खोजनेपर भी मौत नहीं मिलेगी। मौत दूसरेकी मालूम पड़ती है, देखनेमें नहीं आती है और मालूम ही पड़ती है, क्योंकि आँखसे देखी नहीं जा सकती।

कान उसे सुन नहीं पाते, त्वचाको उसका स्पर्श नहीं मिलता, आँख उसे देख नहीं पाती, नाक उसे सूँघ नहीं पाती, जीभ उसे चख नहीं पाती। तो मौतका अनुभव मनमें होता है ? इसलिए मौत कल्पनाकी वस्तु है। वह स्वप्नवत् है, मानसिक है। जो चीज मानसिक होती है, उसे स्वप्नवत् माननेमें आपको कोई एतराज नहीं होना चाहिए। ये पति-पत्नी, माँ-बेटा, शत्रु-मित्र सब मान-सिक होते हैं। शत्रुता तो मनमें ही होती है न ? भाई-भाई भी मनमें ही मालूम पड़ते हैं।

अपनी मौतका तो कभी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। दूसरोंकी मौत देखकर अपनी मौतका अनुमान करना, माने पहले देखना कि तुमने पहले दूसरेकी मौत देखी है कि परिवर्तन देखा है? दूसरेकी मौत भी नहीं दिखाई पड़ती। आपको वेदान्त-शास्त्रकी एक बात सुनाते हैं। कहते हैं कि यह चीज आदिमें ऐसी थी और अन्तमें ऐसी हो गयी। जो थोड़ा भी विवेकी-विचारशील है, उनके लिए यह बात है।

आदि माने कब? कहाँ? सीताराम! अन्तमें यह चीज ऐसी हो गयी! अन्त क्या? कहाँ? तुमने इतिहासमें आदि बनायी और कहाँ अन्त बनाया? तो इतिहासका न अन्त है, न आदि है। अन्त मानना प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि किसी भी प्रमाण-से सिद्ध नहीं हो सकता। कालका आदि और अन्त नहीं है। कोई भी वस्तु जो है, वह सनातन है। सनातन माने सर्वदा। हम आप-से ऐसे बात कर रहे हैं, जैसे एकान्तमें बैठकर तत्त्वका मनन-चिन्तन किया जाता है।

स्वामीजी! आपको यह विचार कहाँसे मिला? मिलना जरूरी है। गीतासे मिला। गीतामें यह कहाँ मिला?

**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।**
**अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥१५.३॥**

देखिये, किसी वस्तुकी आदि—एक बच्चेकी आदि कहाँ है? जिस समय वह माँके पेटसे बाहर आया उस समय? नहीं। उसके पहले। तब तो माँके पेटमें था। वह आदि कैसे? तुमने गलत आदि बतायी। माँके पेटमें जब आया तब आदि है! वह भी गलत। उसके पहले बापके पेटमें था। अच्छा भाई, बापके पेटमें जब आया तब आदि है! नहीं, उसके पहले गेहूँके, अंगूरके पेटमें था। जीवत्व कहीं-न-कहीं था। उसके पहले आसमानमें था।

चन्द्रमाकी किरणोंमें था। ज्योति में था। कहाँ है जीवनकी आदि? जन्मकुण्डली बना लिया। दोनों तरहसे कुण्डली बनती है। आपको शायद मालूम हो, न हो। गर्भाधानके क्षणसे भी कुण्डली बनती है जिस समय माँके पेटमें बच्चा आता है। जिस क्षण बच्चा पैदा होता है, उस समय भी कुण्डली बनती है। यदि कुण्डली न हो और ज्योतिषीके पास जाकर पूछो तो वह प्रश्न-कुण्डली बना देगा। प्रश्नके समयसे भी कुण्डली बनती है।

किस समयकी कुण्डली सच्ची है? गेहूँमें आये तब? अंगूरमें आये तब? शराबमें आये तब? उसका भी पता चलता है कि बच्चा शराबमें-से निकला है कि भगवान्‌के प्रसादमें-से? बच्चोंको देखकर पता चलता है। इसने अपने माँ-बाप, खानदानका दूध पी-पीकर अपनी पुष्टि की है कि किसी नीच जाति, फिरकेवाली औरतका दूध पीकर अपनेको परिपुष्ट किया है? उनकी रहन-सहन, चाल-चलनसे पता चल जाता है।

देखिये, हम बीच-बीचमें धर्मकी और संस्कृतिकी भी बात कर देते हैं, परन्तु बताइये कि जीवकी आदि और अन्त कहाँ? आदि और अन्त नहीं तो मौत कहाँ? कोई बोले कि जिस समय डॉक्टर घोषणा कर दे कि धड़कन नहीं चलती, उस समय अन्त हो गया। आप लोगोंका यह विश्वास डगमगाने वाला है, यह हम बता देते हैं! डॉक्टर लोग हृदयकी धड़कन माने हृदयका स्पन्दन बन्द करके ऑपरेशन कर देते हैं। कल ही अखबारमें आया था। हिन्दुस्तानमें ही बीस मिनटतक हृदयका स्पन्दन बन्द करके ऑपरेशन किया और बादमें धड़कन चालू हो गयी। क्या साँस न चली तो वह मर गया? डॉक्टर लोग घोषणा करेंगे।

अब गाँवकी एक बात सुना दें। गम्भीर दर्शनशास्त्रकी बात तो है ही। हमारे गाँवमें एक बुढ़िया थी। सोलह-सत्रह वर्षकी

मेरी उमर थी। तबतक वह जिन्दा थी। जो आदमी हमारा हल जोतता था, उसकी माँ थी। वह एक बार मर गयी। उसके बेटेने अरथी बनायी, चिता बनायी। गरीब थे, कहींसे बाँस माँगकर लाना पड़ा! जलानेके लिए कहींसे लकड़ी माँगकर लाना पड़ा। इस काम-में दो-तीन घण्टेकी देर हो गयी। जब अरथीपर वह बुढ़िया बाँधी गयी तो हिली वह। साँस लेने लगी और फिर तुरन्त उठकर बैठ गयी, जहाँ वह मर गयी थी, वहीं वह उठकर बैठ गयी। महीनोंसे बीमार थी। बैठ गयी तो लोगोंने सोचा, कहींसे भूत-प्रेत आगया। तो वह हमसे बात करती थी। वह हमारे पितामह दादासे भी बुढ़िया थी—इतनी वृद्ध थी। वह बात करती थी। उन्होंने बताया कि 'जब मैं मरी तो यमराजके दूत हमें पकड़कर यमपुर ही ले गये। अब देखिये, वह जिन्दा थी कि मर गयी थी?

दुनियाकी दृष्टिसे तो वह यमपुरीमें ही गयी। जब यमपुरीमें गयी तो यमराजने अपने दूतोंको डाँटा कि 'तुम इसको क्यों ले आये? इसके तो मरनेका अभी समय नहीं है।' उन्होंने कहा—'लौट जाओ तुम संसारमें।'

बुढ़िया बड़ी चतुर थी। उन्होंने यमराजको कहा—'हे महा-राज! ऐसे मैं लौट जाऊँगी तो कोई हमपर विश्वास नहीं करेगा। अब हमें मत लौटाओ! फिर बोली—'यमराजने हमें बहुत बढ़िया शर्बत पिलाया।'

यमराज बोले—'जाकर बता देना कि अभी तेरह वर्ष तेरी आयु और है। तू तेरह वर्षके बाद मरेगी।'

वह बोली—'परन्तु लोग नहीं मानेंगे।'

तब उन्होंने उसे एक चावल दिया और कहा—'जाकर यह चावल दिखा देना। यह मर्त्यलोकका तो नहीं है।'

अब आप लोग कहानी सुनकर क्या करेंगे? वह जिन्दा थी

गयी। कहाँ तो वह अरथीपर चढ़कर चितामें जलने जा रही थी और कहाँ वह उठ-बैठकर घरका सब काम करने लगी? तेरह वर्ष और जिन्दा रही सचमुच! और बातें चाहे सच हो या झूठी, यम-दूत उसे ले गये कि नहीं, यमराजने उसे शर्बत पिलाया कि नहीं, चावल दिया कि नहीं, ये सब बातें तो झूठी हो सकती हैं। परन्तु उस दिनके बाद तेरह वर्ष वह जिन्दा रही, यह बात सच है। तो वह मरी कहाँ? बताइये!

देह मर जानेका नाम मरना नहीं है। अभी उसके नाती-पोते हैं, वे गाँवमें काम कर रहे हैं। उसका पोता मिला था मुझे। उनका नाम याद है। मरता आदमी कहाँ है! साँस निकल गयी, चेहरा काला हो गया, तब भी उसका शरीर है न? चितामें जला तब भी तो उसकी राख है! उसकी साँस हवामें है, हम आसमान-में हैं। मन मनस्तत्त्वमें है। मृत्यु माने उसके जीवनकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहाँ हुई?

**नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा** (गीता १५.३)

आदि यहाँ है तो अन्त कहाँ है? गम्भीर भाषामें उसे देखिये—

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥**

'नासतो विद्यते भावः' जो 'नहीं है' 'वह है' ऐसा नहीं हो सकता 'नाभावो विद्यते सतः'। जो है वह 'नाहीं' नहीं हो सकता। नाहीं माने वह है नहीं। संकेतमें इसका अर्थ बता दें। न भाव-पदार्थका जन्म-मरण होता है और न अभाव-पदार्थका जन्म-मरण होता है।

इसका अर्थ होता है, जन्म-मरण होता ही नहीं है। इस अर्थ-को आप संक्षेपमें इस श्लोकमें चाहें तो समझ लें। 'है', तो 'नाहीं'

नहीं हो सकता। 'नहीं' तो 'है' नहीं हो सकता। जो पैदा नहीं हो सकता, वह मरेगा ही नहीं। जो मरेगा ही नहीं, वह पैदा ही नहीं हुआ है। इसलिए न जन्म है, न मरण। यह जन्म-मरण स्वप्नवत् मनुष्यके मनकी कल्पना है। प्रत्यक्षरूप है वह किसी प्रमाणके रूपमें नहीं है।

अब दूसरी बात--न कोई चश्मदीद गवाह है, जिसने किसीकी मृत्यु देखी है। न कोई दस्तावेज है। अदालतमें ये दो ही गवाह चलते हैं। चश्मदीद गवाह माने 'अपनी आँखसे देखा'। या तो दस्तावेज हो कोई। मरकर लिखदे कोई कि 'हाँ' अब मैं मर रहा हूँ। मरनेके बाद तो वह दस्तावेज लिख नहीं सकता और दस्तावेज लिखा तो मरा नहीं। बात कट गयी दोनों तरहसे। यदि मृत्यु देखी तो मरा नहीं और मरा तो देखी नहीं। इसलिए यह जन्म-मृत्यु मोह है मोह ! मोह माने ज्ञानकी उलटवाँसी।

दर्शनशास्त्रकी थोड़ी बात सुना देते हैं। यदि चीजको देखकर ज्ञान उत्पन्न होता है, तो चीज हुई महत्त्वपूर्ण, ज्ञान हुआ तुच्छ। इसको कहते हैं 'परतः प्रामाण्य।' और यदि पहले ज्ञानने चीजको बनाया, ज्ञानने पैदा हो कर बनाया, तो चीज हुई तुच्छ।

चार्वाक, बौद्ध—ये लोग ज्ञानको 'परतः प्रामाण्य' मानते हैं। चीज हुई तो उसका ज्ञान बनता है और चीज मिटी तो उसका ज्ञान भी मिट जाता है। हमारे दार्शनिक आस्तिक हैं। वे कहते हैं—'पहले ज्ञान। ज्ञानसे सृष्टि होती है। आपको मालूम है, इसमें वेदान्ती लोग क्या करते हैं ? बड़े जालसाज हैं वे। इन्होंने उपनिषद्में भी लिखा है—

**य एको जालवान् ईशते ईशनीभिः।** श्वेताश्व० ३.१

श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा हैं, 'जालवान्'। 'यह जाल फैलानेवाला है।'

**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।** बृहदा० २.५.१९

असलमें क्या है ? चीजमें-से ज्ञान निकलता है, तब तो वह ज्ञानका रजिस्टर हुआ । यह वेद ? वेदका ज्ञान क्या है ? यदि दुनियामें देख-देखकर ज्ञान बनाया गया तो यह हो गया डाक्टर-का रजिस्टर ! वह तो अदलता-बदलता रहेगा । तब फिर ज्ञान पौरुषेय हो गया । पुरुषका बनाया हुआ । परतः प्रमाण ।

यदि पहले वेदज्ञान और उसके अनुसार संसार बना तो जैसा मीमांसक लोग मानते हैं, जैसा मनुजी मानते हैं—

**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।**
**वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ (१.२१)**

तो संसार बिलकुल तुच्छ हो गया । 'ज्ञान-मात्र'–वेदान्तियोंने क्या किया ? ज्ञानकी आदि है ऐसा मानकर विषयोंको तुच्छ सिद्ध किया ।

आस्तिकोंका मत—'जड़ तुच्छ है, चेतन महत्त्वपूर्ण है ।'

चार्वाकोंका मत—'जड़ ही सब कुछ है, चेतन–ईश्वर कछ होता ही नहीं ।' वेदान्तियोंने दुहराया है—वे पुरानी भाषामें बोलते हैं इसे ।

बौद्धोंने कहा—'वेदसे ज्ञानकी सिद्धि होती है ।'

वैदिक मत—'ज्ञानसे वेदकी सिद्धि होती है ।'

अनुभवी कैसे बोलेगा ?—'अरे भाई देखो ! ज्ञानसे ही स्वप्न होता है । संस्कारयुक्त ज्ञानने स्वप्नकी दुनिया बनायी और जाग्रत्-की चीजोंको देख-देखकर आपने रजिस्टर बनाया । यह भी ठीक है । 'अन्तर विज्ञान ।' तब इसमें सच क्या ? वेदान्तने कहा—'तुम्हें भोगवादी, कर्मवादी, जड़वादी होना हो तो भले चार्वाकों-का मत मान लो । यह जड़वाद होगा । अध्यात्मवादी होना होगा तो ज्ञानवादको महत्त्व देना होगा । यदि आप जिज्ञासु-मुमुक्षु हैं,

ज्ञानकी-चेतनकी-आत्माकी प्रधानता स्वीकार करते हैं, तो विचार कीजिये। आत्मानुभूतिके लिए आत्माकी प्रधानता स्वीकार कीजिये। संसारकी अनुभूतिके लिए संसारको प्रधानता दीजिये। अरे बाबा ! तुम्हीं तो हो !

अरे भाई ! हमारे तो एक नजरसे देखें तो यह ठीक, दूसरी नजरसे देखें तो वह ठीक। आत्मदृष्टिसे देखें तो दुनियाको सच नहीं बोल सकते। वह असत्य है, मिथ्या है। संसारकी दृष्टिसे देखें तो आत्माकी कोई कीमत नहीं है। अरे ! परन्तु बोलो तो सही ! बोले—'अनिर्वचनीय है।' यह जाल है।

मानके अधीन मेयकी सिद्धि—'मानाधीना मेयसिद्धिः' और 'मेयाधीना मानसिद्धिः।' मृत्यु किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। क्योंकि इनका साक्षात्कार ( =प्रत्यक्ष अनुभव ) नहीं होता; अनुभवमें मृत्यु नामकी वस्तु है ही नहीं। आजतक कभी न किसीकी मृत्यु हुई, न है, न होगी। वह ज्ञानकी वस्तु नहीं है, बुद्धिका मोह है। तब ? इस मोहको मारेंगे। किस तलवारसे मारें ? आपके ध्यानमें हो कि मोहको मारेंगे, तो काहेसे मारेंगे ? तलवारसे !

नहीं भाई ! मोह जब बुद्धिमें रहता है, तो लकड़ी हो तो कुल्हाड़ेसे काटें, पत्थर हो तो हथौड़ेसे तोड़ें, हीरा हो तो हीरेसे काटें। हीरा हीरेसे कटता है। मोह बौद्धरूप है। बुद्धिके ही एक प्रकारका नाम मोह है। बुद्धिका धर्म नहीं है। तो समसत्ताक ( =समानसत्ता वाले ) बुद्धिके दूसरे प्रकारसे—समझकी गलती है मोह। इसलिए समझके दूसरे प्रकारसे मोहकी निवृत्ति होगी। ज्ञानसे मोहको मारो।

मोह क्या है ? दृश्यको अपना आत्मा समझना। आत्माकी नित्यता देहपर डाल देना। ऐसा मकान बनावेंगे जो हजारों वर्ष

तक बना रहेगा। आप अपनी कमाई उसमें डाल दीजिये। आप स्वतन्त्र हैं। लेकिन जब आपके लड़के होंगे, तो आपका हजारों वर्ष टिकाऊ मकान उन्हें पसन्द नहीं आयेगा। इसको तोड़कर दूसरा बनायेंगे। आप हजार वर्षके लिए मकान मत बनवाइये। दस-बीस, सौ वर्षके लिए बना लीजिये। अब तो ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार होते रहेंगे कि बिना मकानके ही काम चल जायगा। आप अपनी जो पूँजी, परिश्रम, शक्ति, समय, अकल मकान बनानेमें लगा रहे हैं, वह इस समय दुनियाके कल्याणके लिए लगाइये। सौ वर्षतक मकान रखनेकी अपेक्षा लोगोंका पाँच वर्षका जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। चींटियोंका जीवन बहुत रखनेकी अपेक्षा जो ज्ञान, धर्म, संस्कृति मनुष्यके हृदयको सद्गुण-सम्पन्न बनानेवाले हैं, उनमें लगाइये न? तो वह भी जीवित रहेगा! आपकी संस्कृति भी जीवित रहेगी। आपकी समझमें आवे तो ठीक है। अब तो गिनतीपर? मनुष्यकी समझ आदमियोंकी गिनतीमें अटक गयी है न! राष्ट्रकी आबादी इतनी रहेगी तो राष्ट्रसंघमें स्थान मिलेगा। वोट (मत) इतना रहेगा तो सरकार ऐसी बनायेंगे। परन्तु धर्म, संस्कृति, सदाचार ऐसा रहेगा तो? उसको रखनेवाले लोग रहेंगे तो? इधरसे महत्त्व-बुद्धि उड़ गयी है। ईश्वरकी कृपासे आप देखिये—सबसे बड़ी बात यह है कि मृत्यु है कल्पित। अपनी मृत्युकी जो कल्पना है, वह मोहके कारण अपनेको शरीर और शरीरका सम्बन्धी माननेके कारण है।

वृत्ति ब्रह्मको विषय कैसे करती है? चित्तवृत्ति प्रमा जो है, प्रमावृत्ति। कौन-सा ऐसा प्रमाण है जो वृत्तिको लाकर ब्रह्ममें डाले? तब ब्रह्म तुच्छ हो जायगा। वह ब्रह्म तो छोटा हो जायगा। वह ब्रह्म तो कल्पित होगा। प्रमाणका विषय होते ही ब्रह्म छोटा हो जायगा। वृत्तिके पेटमें तो और भी छोटा हो

जायगा। तो उससे ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे होगा ? आपको पुरानी बात सुनाते हैं।

एक ठाकुर साहब बहुत पहले, जिसमें-से बारह गोली छूटती है न, इतनी बड़ी पिस्तौल उन दिनों आती थी, वे उसे रखते थे। लाकर उसने दी, तो हमने कहा, 'अगर हमारे पास रखें और गुस्सा आया और किसीपर चला दी तो फाँसीपर लटकना पड़ेगा। पहलेसे सरंजाम करके काहेको रखें ? तू अपनी ले जा।'

उन्होंने कहा—'एक आदमीके पास तलवार है। वह लेकर फिरता है, इधर-उधर मार देता है। एक उसका हितैषी था, उसने उससे कहा—'देख ! यह लोहेका खम्भा है न ?' 'हाँ है'। हमारा हुकुम मानोगे ? हाँ मानेंगे। ऐसे जोरसे तलवार मारो कि लोहेका खम्भा कट जाय। उस आदमीने जो जोरसे तलवार मारी तो तलवार टूक-टूक होकर गिर पड़ी।

यह वृत्तिज्ञानकी तलवार है। वह ब्रह्मके ऐसे लोहेके खम्भे-पर मारी जाती है, कि खम्भा तो कटता नहीं, तलवार ही कट-टूटकर गिर पड़ती है। मोहका मतलब यही है। 'ब्रह्म कोई परिच्छिन्न है, हमसे जुदा है, कोई तुच्छ है, हमसे अलग है, हमसे ज्यादा है'—यही मान-मानकर तो वृत्तिकी तलवार चलाते हो ! वृत्तिकी यही तलवार वृत्तिज्ञानके अधिष्ठान ब्रह्मपर जाकर लगती है। यह ब्रह्मरूप जो विषय है, वह स्वप्रकाश है, वृत्तिसे प्रकाशित नहीं होता वृत्ति मर जायगी। लेकिन वृत्तिके साथ इसे एक बार टकराना पड़ता है।

भ्रम, मोह, अध्यास, अज्ञान इसपर विजय प्राप्त करना माने ब्रह्मज्ञानसे उनको नष्ट करना। जिन मुनियोंने इसको प्राप्त कर लिया।

यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम्।

विष्णुका परम पद चिदाकाश जिससे परे कोई पद न हो, उसे बोलेंगे 'परमपद।' पद माने ?

'पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्मांगवस्तुषु (अमरकोष ३.३. ९३) वह वस्तु जिससे परे कोई वस्तु न हो। विष्णुका यह परम पद माने सच्चा स्वरूप क्या है ? सूक्ष्मः। जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे बिना किसी प्रतिबन्धके सदा उसका साक्षात्कार–दर्शन करते हैं। यह वेदान्त मरनेके बाद स्वर्ग पानेके लिए नहीं है। यह बैकुण्ठमें जानेके लिए भी नहीं है। इसी जीवनमें, हमारी बुद्धिमें जो मोह है, अज्ञान है, उसको मिटाकर सर्व-देश, सर्व-काल और सर्व-वस्तुमें देश-काल-वस्तुका भाव हो तब भी और न हो तब भी आपको परमानन्दस्वरूप बनानेवाला यह वेदान्तज्ञान है।

अब यह तो लाउड-स्पीकरपर घोषणा करनी पड़ती है, गाँवमें डौंडी पीटनी पड़ती है, पर्चे बाँटने पड़ते हैं। पहलेके महात्मा लोग तो कहते थे, 'जिसको प्यास होगी, वह कुएँके पास जायगा। यहाँ तो कुआँ भी प्यासेके पास आयेगा। तो प्यासे लोग पहले परीक्षा करते हैं कि पानी पीने लायक है कि नहीं ?' आप बड़े श्रद्धालु, सात्त्विक पुरुष हैं, घर-द्वारका काम छोड़कर, पूजा-पाठ भी स्थगित करके, सबेरे-सबेरे आते हैं। बढ़िया-बढ़िया फर्नीचर छोड़कर, करोड़पति लोग भी यहाँ आकर धरतीपर बैठते हैं। यह आपका बड़ा भारी त्याग है, तपस्या है। यह आपकी मुमुक्षा और सहिष्णुता है। आपलोग श्रवणमें इतनी रुचि रखते हैं तो यह श्रवण आपका सफल होवे, प्रस्तुत तत्त्वका अनुभव देवे।

●

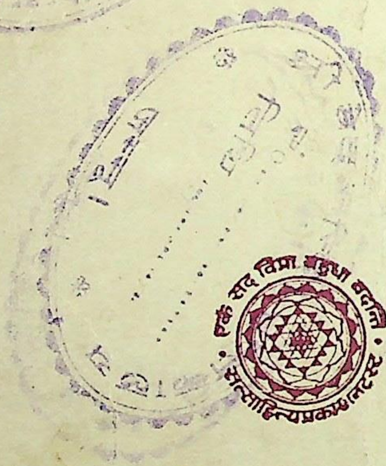
## ❀ सत्साहित्य पढ़िये ❀

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं संस्था द्वारा प्रकाशित अनुपम आध्यात्मिक साहित्य

| | |
|---|---|
| १. माण्डूक्य-प्रवचन ( आगम प्रकरण ) | १०.०० |
| २. माण्डूक्य-प्रवचन ( वैतथ्य प्रकरण ) | ७.५० |
| ३. माण्डूक्य-प्रवचन ( अद्वैत प्रकरण ) | ४.५० |
| ४. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन | ६.०० |
| ५. कठोपनिषद्-प्रवचन—१ | ९.०० |
| ६. कठोपनिषद्-प्रवचन—२ | १२.०० |
| ७. मुण्डकसुधा | ३.७५ |
| ८. सांख्ययोग ( दूसरा अध्याय ) | ९.७५ |
| ९. कर्मयोग ( तीसरा अध्याय ) | ६.०० |
| १०. ध्यानयोग ( छठा अध्याय ) | ६.०० |
| ११. ज्ञान-विज्ञान-योग ( सातवाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १२. विभूतियोग ( दसवाँ अध्याय ) | ५.२५ |
| १३. भक्तियोग ( बारहवाँ अध्याय ) | ६.०० |
| १४. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना ( तेरहवाँ अध्याय ) | ९.७५ |
| १५. नारद भक्ति-दर्शन | ९.०० |
| १६. गोपियोंके पाँच प्रेम गीत | ०.४० |

| | | |
|---|---|---|
| १७. | भागवत विचार-दोहन | ३.०० |
| १८. | भक्ति सर्वस्व | ७.५० |
| १९. | मोहन नी मोहनी ( गुजराती ) | ०.६० |
| २०. | श्रीमद्भागवत-रहस्य | ३.७५ |
| २१. | आनन्दवाणी, भाग ७ | १.५० |
| २२. | श्रीभक्तिरसायनम् ( संस्कृत ) | १२.०० |
| २३. | श्रीभक्तिरसायनम्-प्रपा ( संस्कृत ) | ३.०० |
| २४. | गीता दर्शन—१ | ५.५० |
| २५. | गीता-दर्शन—२ | ५.०० |
| २६. | साधना और ब्रह्मानुभूति | ५.२५ |
| २७. | चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान | १.५० |
| २८. | महाराजश्रीका एक परिचय ( गुजराती ) | १.९० |
| २९. | महाराजश्रीका एक परिचय | १.०० |
| ३०. | आनन्दवाणी, भाग ५ ( गुजराती ) | २.२५ |
| ३१. | आत्मबोध | ३.०० |
| ३२. | कपिलोपदेश | ३.७५ |
| ३३. | व्यवहार और परमार्थ | ३.७५ |
| ३४. | मानव-जीवन और भागवत-धर्म | ४.५० |
| ३५. | राम शताब्दी-स्मृति | २०.०० |
| ३६. | श्री उड़िया बाबाजी महाराज | ५.०० |
| ३७. | वेणुगीत | ३.०० |
| ३८. | ब्रह्मसूत्र-प्रवचन-( १ ) | १०.०० |




एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट


JAMMU
Date